लाला लाजपतराय

युग प्रवर्तक स्वामी दयानन्द

युग-प्रवर्तक स्वामी दयानन्द

मेरा सादर प्रणाम हो उस महान् गुरु दयानन्द को जिसने भारत के आध्यात्मिक इतिहास में सत्य और एकता के दर्शन किए और जिसके उज्ज्वल मानस ने भारतीय जीवन के सब अंगों को प्रदीप्त कर दिया, जिसका उद्देश्य भारतवर्ष को अविद्या, आलस्य और प्राचीन ऐतिहासिक तत्त्व के अज्ञान से मुक्त कर सत्य और पवित्रता की जागृति में लाना था, उस गुरु को मेरा बारम्बार प्रणाम है ।···मैं आधुनिक भारत के मार्गदर्शक उस दयानन्द को आदरपूर्वक श्रद्धांजलि देता हूँ जिसने देश की पतित अवस्था से सीधे व सच्चे मार्ग का दिग्दर्शन कराया ।

—विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर

स्वामी दयानन्द आर्यसमाज के संस्थापक तथा अग्रणी नेता थे । वे एक विद्वान् पुरुष थे तथा अपने धार्मिक साहित्य के पूर्ण जानकार थे । वे समाज-सुधारक भी थे और अपनी व्यक्तिगत निंदा को सहन करते हुए भी उन्होंने अपने कर्तव्य को कभी नहीं छोड़ा ।

—प्रो० मैक्समूलर

महर्षि दयानन्द हिन्दुस्तान के आधुनिक ऋषियों में, सुधारकों में और श्रेष्ठ पुरुषों में अग्रणी थे । उनके जीवन का प्रभाव हिन्दुस्तान पर बहुत पड़ा है ।

—महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी

ISBN—81-88118-28-1

मूल्य : रु० 150.00

युग-प्रवर्तक

स्वामी दयानन्द

(जीवन-चरित)

युग-प्रवर्तक
स्वामी दयानन्द

लाला लाजपतराय

अनुवाद
पं० गोपालदास देवगण शर्मा

सम्पादक और परिष्कारक
डॉ० भवानीलाल भारतीय

युग-प्रवर्तक स्वामी दयानन्द

ISBN—81-88118-28-1

प्रकाशक
आर्य प्रकाशन मंडल
IX/221, सरस्वती भंडार, गांधीनगर
दिल्ली-110031

संस्करण
2006

आवरण
चेतनदास

मूल्य
एक सौ पचास रुपये

मुद्रक
बी० के० ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

YUG-PRAVARTAK SWAMI DAYANAND (Hindi)
by Lala Lajpat Rai
Price : Rs. 150.00

ग्रन्थकार लाला लाजपतराय

भारत की आजादी के आन्दोलन के प्रखर नेता लाला लाजपतराय का नाम ही देशवासियों में स्फूर्ति तथा प्रेरणा का संचार करता है । अपने देश, धर्म तथा संस्कृति के लिए उनमें जो प्रबल प्रेम तथा आदर था उसी के कारण वे स्वयं को राष्ट्र के लिए समर्पित कर अपना जीवन दे सके । भारत को स्वाधीनता दिलाने में उनका त्याग, बलिदान तथा देशभक्ति अद्वितीय और अनुपम थी । उनके बहुविध क्रियाकलाप में साहित्य-लेखन एक महत्त्वपूर्ण आयाम है । वे उर्दू तथा अंग्रेजी के समर्थ रचनाकार थे ।

लालाजी का जन्म 28 जनवरी, 1865 को अपने ननिहाल के गाँव ढुंढ़िके (जिला फरीदकोट, पंजाब) में हुआ था । उनके पिता लाला राधाकृष्ण लुधियाना जिले के जगराँव कस्बे के निवासी अग्रवाल वैश्य थे । लाला राधाकृष्ण अध्यापक थे । वे उर्दू-फारसी के अच्छे जानकार थे तथा इस्लाम के मन्तव्यों में उनकी गहरी आस्था थी । वे मुसलमानी धार्मिक अनुष्ठानों का भी नियमित रूप से पालन करते थे । नमाज पढ़ना और रमजान के महीने में रोजा रखना उनकी जीवनचर्या का अभिन्न अंग था तथापि वे सच्चे धर्म-जिज्ञासु थे । अपने पुत्र लाला लाजपतराय के आर्यसमाजी बन जाने पर उन्होंने वेद के दार्शनिक सिद्धान्त त्रैतवाद (ईश्वर, जीव तथा प्रकृति का अनादित्य) को समझने में भी रुचि दिखाई । लालाजी की इस जिज्ञासु प्रवृत्ति का प्रभाव उनके पुत्र पर भी पड़ा था ।

लाजपतराय की शिक्षा पाँचवें वर्ष में आरम्भ हुई । 1880 में उन्होंने कलकत्ता तथा पंजाब विश्वविद्यालय से एंट्रेंस की परीक्षा एक ही वर्ष में पास की और आगे पढ़ने के लिए लाहौर आये । यहाँ वे गवर्नमेंट कॉलेज में प्रविष्ट हुए और 1882 में एफ०ए० की परीक्षा तथा मुख्तारी की परीक्षा साथ-साथ पास की । यहीं वे आर्यसमाज के सम्पर्क में आये और उसके सदस्य बन गये । डी०ए०वी० कॉलेज, लाहौर के प्रथम प्राचार्य लाला हंसराज (आगे चलकर महात्मा हंसराज के नाम से प्रसिद्ध) तथा प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं० गुरुदत्त उनके सहपाठी थे, जिनके साथ उन्हें आगे चलकर आर्यसमाज का कार्य करना पड़ा । इनके द्वारा ही उन्हें महर्षि दयानन्द के विचारों का परिचय मिला ।

1882 के अन्तिम दिनों में वे पहली बार आर्यसमाज लाहौर के वार्षिक उत्सव में सम्मिलित हुए । इस मार्मिक प्रसंग का वर्णन स्वयं लालाजी ने अपनी आत्मकथा में इस प्रकार किया है—"उस दिन स्वर्गीय लाला मदनसिंह बी०ए० (डी०ए०वी० कॉलेज के संस्थापकों में प्रमुख) का व्याख्यान था । उनको मुझसे बहुत प्रेम था । उन्होंने व्याख्यान देने से पहले समाज

मंदिर की छत पर मुझे अपना लिखा व्याख्यान सुनाया और मेरी सम्मति पूछी । मैंने उस व्याख्यान को बहुत पसन्द किया । जब मैं छत से नीचे उतरा तो लाला साँईदास जी (आर्यसमाज लाहौर के प्रथम मन्त्री) ने मुझे पकड़ लिया और अलग ले जाकर कहने लगे कि हमने बहुत समय तक इन्तजार किया है कि तुम हमारे साथ मिल जाओ । मैं उस घड़ी को भूल नहीं सकता । वह मेरे से बातें करते थे, मेरे मुँह की ओर देखते थे तथा मेरी पीठ पर प्यार से हाथ फेरते थे । मैंने उनको जवाब दिया कि मैं तो उनके साथ हूँ । मेरा इतना कहना था कि उन्होंने फौरन समाज के सभासद बनने का प्रार्थना-पत्र मँगवाया और मेरे सामने रख दिया । मैं दो-चार मिनट तक सोचता रहा, परन्तु उन्होंने कहा कि मैं तुम्हारे हस्ताक्षर लिए बिना तुम्हें जाने न दूँगा । मैंने फौरन हस्ताक्षर कर दिये । उस समय उनके चेहरे पर प्रसन्नता की जो झलक थी उसका वर्णन मैं नहीं कर सकता । ऐसा मालूम होता था कि उनको हिन्दुस्तान की बादशाहत मिल गई है । उन्होंने एकदम पं० गुरुदत्त को बुलाया और सारा हाल सुनाकर मुझे उनके हवाले कर दिया । वह भी बहुत खुश हुए । लाला मदनसिंह के व्याख्यान की समाप्ति पर लाला साँईदास ने मुझे और पं० गुरुदत्त को मंच पर खड़ा किया । हम दोनों से व्याख्यान दिलवाये । लोग बहुत खुश हुए और खूब तालियाँ बज़ाईं । इन तालियों ने मेरे दिल पर जादू का-सा असर किया । मैं प्रसन्नता और सफलता की मस्ती में झूमता हुआ अपने घर को लौटा ।"[1]

यह है लालाजी के आर्यसमाज में प्रवेश की कथा । लाला साँईदास आर्यसमाज के प्रति इतने अधिक समर्पित थे कि वे होनहार नवयुवकों को इस संस्था में प्रविष्ट करने के लिए सदा तत्पर रहते थे । स्वामी श्रद्धानन्द (तत्कालीन लाला मुंशीराम) को आर्यसमाज में लाने का श्रेय भी उन्हें ही है । 30 अक्टूबर, 1883 को जब अजमेर में ऋषि दयानन्द का देहा त हो गया तो 9 नवम्बर, 1883 को लाहौर आर्यसमाज की ओर से एक शोकसभा का आयोजन किया गया । इस सभा के अन्त में यह निश्चय हुआ कि स्वामी जी की स्मृति में एक ऐसे महाविद्यालय की स्थापना की जाये, जिसमें वैदिक साहित्य, संस्कृत तथा हिन्दी की उच्च शिक्षा के साथ-साथ अंग्रेजी और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान में भी छात्रों को दक्षता प्राप्त कराई जाये । 1886 में जब इस शिक्षण संस्था की स्थापना हुई तो आर्यसमाज के अन्य नेताओं के साथ लाला लाजपतराय का भी इसके संचालन में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा तथा वे कालान्तर में डी०ए०वी० कॉलेज, लाहौर के महान् स्तम्भ बने ।

वकालत के क्षेत्र में

लाला लाजपतराय ने एक मुख्तार (छोटा वकील) के रूप में अपने मूल निवासस्थान जगराँव में ही वकालत आरम्भ कर दी थी, किन्तु यह कस्बा बहुत छोटा था, जहाँ उनके कार्य के बढ़ने की अधिक सम्भावना नहीं थी, अतः वे रोहतक चले गये । उन दिनों पंजाब प्रदेश में वर्तमान हरियाणा, हिमाचल तथा आज के पाकिस्तानी पंजाब का भी समावेश था । रोहतक में

1. लाला लाजपतराय की आत्मकथा—नवयुग ग्रन्थमाला, लाहौर से प्रकाशित, 1932

रहते हुए ही उन्होंने 1885 में वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की । 1886 में वे हिसार आ गये । एक सफल वकील के रूप में 1892 तक वे यहीं रहे और इसी वर्ष लाहौर आये । तब से लाहौर ही उनकी सार्वजनिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया । लालाजी ने यों तो समाज-सेवा का कार्य हिसार में रहते हुए ही आरम्भ कर दिया था, जहाँ उन्होंने लाला चंदूलाल, पं० लखपतराय और लाला चूड़ामणि जैसे आर्यसमाजी कार्यकर्ताओं के साथ सामाजिक हित की योजनाओं के कार्यान्वयन में योगदान किया, किन्तु लाहौर आने पर वे आर्यसमाज के अतिरिक्त राजनैतिक आन्दोलन के साथ भी जुड़ गये । 1888 में वे प्रथम बार कांग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन में सम्मिलित हुए जिसकी अध्यक्षता मि० जार्ज यूल ने की थी । 1906 में वे पं० गोपालकृष्ण गोखले के साथ कांग्रेस के एक शिष्टमण्डल के सदस्य के रूप में इंग्लैंड गये । यहाँ से वे अमेरिका चले गये । उन्होंने कई बार विदेश यात्राएँ कीं और वहाँ रहकर पश्चिमी देशों के समक्ष भारत की राजनैतिक परिस्थिति की वास्तविकता से वहाँ के लोगों को परिचित कराया तथा उन्हें स्वाधीनता आन्दोलन की जानकारी दी ।

लाला लाजपतराय ने अपने सहयोगियों—लोकमान्य तिलक तथा विपिनचन्द्र पाल के साथ मिलकर कांग्रेस में उग्र विचारों का प्रवेश कराया । 1885 में अपनी स्थापना से लेकर लगभग बीस वर्षों तक कांग्रेस ने एक राजभक्त संस्था का चरित्र बनाये रखा था । इसके नेतागण वर्ष में एक बार बड़े दिन की छुट्टियों में देश के किसी नगर में एकत्रित होते और विनम्रतापूर्वक शासन के सूत्रधारों (अंग्रेजों) से सरकारी उच्च सेवाओं में भारतीयों को अधिकाधिक संख्या में प्रविष्ट करने की याचना करते । 1905 में जब बनारस में सम्पन्न हुए कांग्रेस के अधिवेशन में ब्रिटिश युवराज के भारत-आगमन पर उनका स्वागत करने का प्रस्ताव आया तो लालाजी ने उसका डटकर विरोध किया । कांग्रेस के मंच से यह अपनी किस्म का पहला तेजस्वी भाषण हुआ जिसमें देश की अस्मिता प्रकट हुई थी ।

1907 में जब पंजाब के किसानों में अपने अधिकारों को लेकर चेतना उत्पन्न हुई तो सरकार का क्रोध लालाजी तथा सरदार अजीतसिंह (शहीद भगतसिंह के चाचा) पर उमड़ पड़ा और इन दोनों देशभक्त नेताओं को देश से निर्वासित कर उन्हें पड़ोसी देश बर्मा के मांडले नगर में नजरबंद कर दिया, किन्तु देशवासियों द्वारा सरकार के इस दमनपूर्ण कार्य का प्रबल विरोध किये जाने पर सरकार को अपना यह आदेश वापस लेना पड़ा । लालाजी पुनः स्वदेश आये और देशवासियों ने उनका भावभीना स्वागत किया । लालाजी के राजनैतिक जीवन की कहानी अत्यन्त रोमांचक तो है ही, भारतवासियों को स्वदेश-हित के लिए बलिदान तथा महान् त्याग करने की प्रेरणा भी देती है ।

जन-सेवा के कार्य

लालाजी केवल राजनैतिक नेता और कार्यकर्ता ही नहीं थे, उन्होंने जन-सेवा का भी सच्चा पाठ पढ़ा था । जब 1896 तथा 1899 (इसे राजस्थान में छप्पन का अकाल कहते हैं, क्योंकि

यह विक्रम का 1956 का वर्ष था) में उत्तर भारत में भयंकर दुष्काल पड़ा तो लालाजी ने अपने साथी लाला हंसराज के सहयोग से अकालपीड़ित लोगों को सहायता पहुँचाई। जिन अनाथ बच्चों को ईसाई पादरी अपनाने के लिए तैयार थे और अन्ततः जो उनका धर्म-परिवर्तन करने के इरादे रखते थे, उन्हें इन मिशनरियों के चंगुल से बचाकर फीरोजपुर तथा आगरा के आर्य अनाथालयों में भेजा। 1905 में कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश) में भयंकर भूकम्प आया। उस समय भी लालाजी सेवा-कार्य में जुट गये और डी०ए०वी० कॉलेज, लाहौर के छात्रों के साथ भूकम्प-पीड़ितों को राहत प्रदान की। 1907-08 में उड़ीसा, मध्यप्रदेश तथा संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में भी भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा और लालाजी को पीड़ितों की सहायता के लिए आगे आना पड़ा।

पुनः राजनैतिक आन्दोलन में

1907 के सूरत के प्रसिद्ध कांग्रेस अधिवेशन में लाला लाजपतराय ने अपने सहयोगियों के द्वारा राजनीति में गरम दल की विचारधारा का सूत्रपात कर दिया था और जनता को यह विश्वास दिलाने में सफल हो गये थे कि केवल प्रस्ताव पास करने और गिड़गिड़ाने से स्वतंत्रता मिलने वाली नहीं है। हम यह देख चुके हैं कि जनभावना को देखते हुए अंग्रेजों को उनके देश-निर्वासन को रद्द करना पड़ा था। वे स्वदेश आये और पुनः स्वाधीनता के संघर्ष में जुट गये। प्रथम विश्वयुद्ध (1914-18) के दौरान वे एक प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य के रूप में पुनः इंग्लैंड गये और देश की आजादी के लिए प्रबल जनमत जागृत किया। वहाँ से वे जापान होते हुए अमेरिका चले गये और स्वाधीनता-प्रेमी अमेरिकावासियों के समक्ष भारत की स्वाधीनता का पक्ष प्रबलता से प्रस्तुत किया। यहाँ उन्होंने इण्डियन होम रूल लीग की स्थापना की तथा कुछ ग्रन्थ भी लिखे। 20 फरवरी, 1920 को जब वे स्वदेश लौटे तो अमृतसर में जलियाँवाला बाग काण्ड हो चुका था और सारा राष्ट्र असन्तोष तथा क्षोभ की ज्वाला में जल रहा था। इसी बीच महात्मा गांधी ने असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया तो लालाजी पूर्ण तत्परता के साथ इस संघर्ष में जुट गये। 1920 में ही वे कलकत्ता में आयोजित कांग्रेस के विशेष अधिवेशन के अध्यक्ष बने। उन दिनों सरकारी शिक्षण संस्थाओं के बहिष्कार, विदेशी वस्त्रों के त्याग, अदालतों का बहिष्कार, शराब के विरुद्ध आन्दोलन, चरखा और खादी का प्रचार जैसे कार्यक्रमों को कांग्रेस ने अपने हाथ में ले रखा था, जिसके कारण जनता में एक नई चेतना का प्रादुर्भाव हो चला था। इसी समय लालाजी को कारावास का दण्ड मिला, किन्तु खराब स्वास्थ्य के कारण वे जल्दी ही रिहा कर दिये गये।

1924 में लालाजी कांग्रेस के अन्तर्गत ही बनी स्वराज्य पार्टी में शामिल हो गये और केन्द्रीय धारा सभा (सेंट्रल असेम्बली) के सदस्य चुन लिए गये। जब उनका पं० मोतीलाल नेहरू से कतिपय राजनैतिक प्रश्नों पर मतभेद हो गया तो उन्होंने नेशनलिस्ट पार्टी का गठन किया और पुनः असेम्बली में पहुँच गये। अन्य विचारशील नेताओं की भाँति लालाजी भी कांग्रेस में दिन-प्रतिदिन बढ़ने वाली मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति से अप्रसन्नता अनुभव करते थे, इसलिए स्वामी

श्रद्धानन्द तथा पं० मदनमोहन मालवीय के सहयोग से उन्होंने हिन्दू महासभा के कार्य को आगे बढ़ाया । 1925 में उन्हें हिन्दू महासभा के कलकत्ता अधिवेशन का अध्यक्ष भी बनाया गया । ध्यातव्य है कि उन दिनों हिन्दू महासभा का कोई स्पष्ट राजनैतिक कार्यक्रम नहीं था और वह मुख्य रूप से हिन्दू संगठन, अछूतोद्धार, शुद्धि जैसे सामाजिक कार्यक्रमों में ही दिलचस्पी लेती थी । इसी कारण कांग्रेस से उसका थोड़ा भी विरोध नहीं था । यद्यपि संकीर्ण दृष्टि के अनेक राजनैतिक कर्मी लालाजी के हिन्दू महासभा में रुचि लेने से नाराज भी हुए किन्तु उन्होंने इसकी कभी परवाह नहीं की और वे अपने कर्त्तव्यपालन में ही लगे रहे ।

जीवन-संध्या

1928 में जब अंग्रेजों द्वारा नियुक्त साइमन कमीशन भारत आया तो देश के नेताओं ने उसका बहिष्कार करने का निर्णय लिया । 30 अक्टूबर, 1928 को कमीशन लाहौर पहुँचा तो जनता के प्रबल प्रतिरोध को देखते हुए सरकार ने धारा 144 लगा दी । लालाजी के नेतृत्व में नगर के हजारों लोग कमीशन के सदस्यों को काले झण्डे दिखाने के लिए रेलवे स्टेशन पहुँचे और 'साइमन वापस जाओ' के नारों से आकाश गुँजा दिया । इस पर पुलिस को लाठीचार्ज का आदेश मिला । उसी समय अंग्रेज सार्जेंट साण्डर्स ने लालाजी की छाती पर लाठी का प्रहार किया जिससे उन्हें सख्त चोट पहुँची । उसी सायं लाहौर की एक विशाल जनसभा में एकत्रित जनता को सम्बोधित करते हुए नरकेसरी लालाजी ने गर्जना करते हुए कहा—**मेरे शरीर पर पड़ी लाठी की प्रत्येक चोट अंग्रेजी साम्राज्य के कफन की कील का काम करेगी ।** इस दारुण प्रहार से आहत लालाजी ने अठारह दिन तक विषम ज्वर की पीड़ा भोगकर 17 नवम्बर, 1928 को परलोक के लिए प्रस्थान किया ।

बहुआयामी व्यक्तित्व

लाला लाजपतराय का व्यक्तित्व बहुआयामी था । वे एक साथ ही उत्कृष्ट वक्ता, श्रेष्ठ लेखक, सार्वजनिक कार्यकर्ता, सेवाभावी समाजसेवक, राजनैतिक नेता, शिक्षाशास्त्री, चिन्तक, विचारक तथा दार्शनिक थे । आर्यसमाज से ही उन्होंने देश-सेवा का पाठ पढ़ा था और स्वामी दयानन्द से उन्होंने समर्पण तथा सेवा का आदर्श ग्रहण किया था । उनके शब्दों में **आर्यसमाज मेरी माता तथा स्वामी दयानन्द मेरे धर्मपिता हैं । मैंने देश-सेवा का पाठ आर्यसमाज से ही पढ़ा है ।** लालाजी के बलिदान के पश्चात् देशबंधु चित्तरंजनदास की पत्नी श्रीमती बसंतीदेवी ने एक वक्तव्य प्रसारित कर कहा था कि क्या देश में कोई ऐसा क्रान्तिकारी युवक नहीं है जो भारतकेसरी लालाजी की मौत का बदला ले सके ? जब यह बात सरदार भगतसिंह तक पहुँची तो उसने लालाजी पर लाठियों का प्रहार करने वाले साण्डर्स को मारकर उस अमर देशभक्त की मौत का बदला ले लिया । लाला लाजपतराय देश के स्वाधीनता संग्राम के महान् सेनानी थे । देशवासी उनके त्याग और बलिदान को सदा स्मरण रखेंगे ।

लाला लाजपतराय—लेखक और साहित्यकार के रूप में

लालाजी का अध्ययन विशाल था। धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर उनका स्पष्ट चिन्तन था। उनका लेखन विशद, विविध विषयों से सम्पृक्त तथा बहुआयामी था, जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

जीवनी-लेखन : स्वदेशी और अन्य देशीय महापुरुषों के जीवन-चरित लेखन का उनका कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इटली के विख्यात देशभक्त मैजिनी और गैरीबाल्डी का जीवनी-लेखन तो विदेशी शासकों की दृष्टि में इतना आपत्तिजनक समझा गया कि इन दोनों पुस्तकों की जब्ती के आदेश प्रसारित किये गये। उनके द्वारा निम्न जीवन-चरित लिखे गये—

1. लाइफ एण्ड वर्क ऑफ पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम०ए० : इस ग्रन्थ का प्रकाशन 1891 में पं० गुरुदत्त के निधन के एक वर्ष पश्चात् हुआ। यह लालाजी की प्रथम कृति है जिसे उन्होंने अपने मित्र तथा सहपाठी पं० गुरुदत्त के संस्मरणों के आधार पर लिखा था। विरजानन्द प्रेस, लाहौर से प्रकाशित यह ग्रन्थ अब प्रायः दुर्लभ हो चुका है। इसका उर्दू संस्करण 1992 में छपा था।

2. महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका काम : स्वामी दयानन्द का यह उर्दू जीवन-चरित लालाजी ने 1898 में लिखा। इसका हिन्दी अनुवाद गोपालदास देवगण शर्मा ने किया जो 1898 में ही 'दुनिया के महापुरुषों की जीवन-ग्रन्थमाला' के अन्तर्गत छपा। 2024 वि० में सार्वदेशिक पत्र ने इसे अपने विशेषांक के रूप में प्रकाशित किया।

3. योगिराज महात्मा श्रीकृष्ण का जीवन-चरित्र : उर्दू में इसका प्रकाशन 1900 में लाहौर से हुआ। इसका हिन्दी अनुवाद मास्टर हरिद्वारीसिंह बेदिल (गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर में अध्यापक) ने किया, जिसे पं० शंकरदत्त शर्मा ने वैदिक पुस्तकालय, मुरादाबाद से प्रकाशित किया।

4. शिवाजी महाराज का जीवन-चरित : 1896 में उर्दू में प्रकाशित।

5. महात्मा ग्वीसेप मैजिनी का जीवन-चरित : यह भी मूलतः उर्दू में लिखा गया और 1896 में प्रकाशित हुआ। ब्रिटिश शासन ने इसे जब्त कर लिया। इसका हिन्दी अनुवाद श्री केशवप्रसाद सिंह ने किया जिसके कई संस्करण छपे। नेशनल बुक ट्रस्ट ने इसे 1967 में पुनः प्रकाशित किया।

6. गैरीबाल्डी : उर्दू में यह जीवन-चरित लिखा गया था। इसे भी अंग्रेजों ने प्रतिबंधित कर दिया था। देश के स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा 1967 में पुनः प्रकाशित हुआ।

7. सम्राट् अशोक : मूल ग्रन्थ उर्दू में था। इसका हिन्दी अनुवाद चौधरी एण्ड संस, बनारस ने 1933 में प्रकाशित किया।

अन्य ग्रन्थ

1. दि आर्यसमाज : आर्यसमाज के सिद्धान्तों, कार्यों तथा उसके संस्थापक स्वामी दयानन्द के जीवन एवं कृतित्व का विश्लेषण करने वाला यह अंग्रेजी ग्रन्थ 1914 में लिखा गया था । उस समय लालाजी लंदन में थे । सुप्रसिद्ध प्रकाशक लांगमैंस ग्रीन एण्ड कम्पनी ने इसे 1915 में प्रथम बार लंदन से ही प्रकाशित किया । इसका एक भारतीय संस्करण प्रिंसिपल श्रीराम शर्मा ने सम्पादित किया, जिसमें उपयुक्त परिवर्धन भी किया गया था । ओरियेण्ट लांगमैंस, नई दिल्ली ने इसे 1967 में प्रकाशित किया । इन पंक्तियों के लेखक ने इसका हिन्दी अनुवाद किया जिसके दो संस्करण क्रमशः 1982 तथा 1994 में अजमेर तथा दिल्ली से प्रकाशित हुए । दिल्ली के ही विभिन्न प्रकाशकों ने हाल ही में इसके मूल अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित किये हैं । तरक्किए उर्दू बोर्ड, दिल्ली ने इसका उर्दू अनुवाद किशोर सुलतान से करवाकर प्रकाशित किया है ।

2. दि मैसेज ऑफ भगवद्‌गीता : इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से 1908 में प्रकाशित ।

3. अनहैप्पी इण्डिया : मिस कैथराइन मेयो नामक एक चालाक अमरीकी महिला पत्रकार ने भारत को बदनाम करने तथा उसे स्वराज्य के लिए अयोग्य सिद्ध करने की दृष्टि से ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासकों की प्रेरणा पाकर 'मदर इण्डिया' नामक एक पुस्तक लिखी जो भारतीय चरित्र को अत्यन्त विकृत, दूषित तथा घृणोत्पादक शैली में प्रस्तुत करती थी । महात्मा गांधी ने पढ़कर इसे 'गंदी नाली के निरीक्षक की रिपोर्ट' कहा था । लालाजी ने इस पूर्वाग्रहयुक्त पुस्तक का सटीक और मुँहतोड़ उत्तर 1928 में 'अनहैप्पी इण्डिया' लिखकर दिया । 'दुखी भारत' शीर्षक से इसका हिन्दी अनुवाद इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद ने ही प्रकाशित किया था ।

लालाजी ने आर्थिक, राजनैतिक तथा शिक्षा आदि विषयों पर अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखे थे । इनका यथोपलब्ध विवरण इस प्रकार है :

1. England's Debt to India : B.W. Huebsch, New York से 1917 में प्रकाशित ।

2. The Evolution of Japan : आर० चटर्जी, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता से 1919 में प्रकाशित ।

3. Ideals of Non-cooperation and Other Essays : जी०ए० नटेसन, मद्रास से 1924 में प्रकाशित ।

4. India's Will to Freedom : Writings and Speeches on the Present Situation : गणेशन एण्ड कम्पनी, मद्रास से 1921 में प्रकाशित ।

5. The Problems of National Education in India : 1920 में प्रकाशित । भारत सरकार के प्रकाशन विभाग द्वारा 1966 में पुनः प्रकाशित ।

6. The Political Future of India : B.W. Huebsch, New York से 1919 में प्रकाशित ।

7. Story of My Deportation : पंजाबी प्रेस, लाहौर से 1908 में प्रकाशित ।

8. Young India–An Interpretation and History of the National Movement : B.W. Huebsch, New York से 1916 में प्रकाशित । भारत लोक-सेवक मण्डल (Servants of the People's Society) लाहौर द्वारा 1927 में लाहौर से प्रकाशित भारतीय संस्करण ।

9. Report of People's Famine Relief Movement–1908 : लाहौर से 1909 में प्रकाशित ।

10. The Story of My Life : The People, लाहौर का लाजपतराय विशेषांक (अप्रैल 13, 18, सन् 1929)

यह लालाजी की आत्मकथा है जिसका हिन्दी अनुवाद पं० भीमसेन विद्यालंकार ने किया, जो 1932 में नवयुग ग्रन्थमाला, लाहौर से प्रकाशित हुआ ।

लालाजी की जन्म-शताब्दी (1965) के अवसर पर विजयचन्द्र जोशी ने 'लाला लाजपतराय–आटोबायोग्राफिकल राइटिंग्स' शीर्षक से उनकी आत्मकथा का सम्पादन किया तथा दो खण्डों में लालाजी के लेखों तथा भाषणों का संग्रह भी प्रकाशित किया ।

लालाजी सफल पत्रकार भी थे । उन्होंने उर्दू में 'पंजाबी' तथा 'वंदेमातरम्' नामक पत्र निकाले। 1918-20 में उन्होंने न्यूयार्क से 'यंग इण्डिया' नामक एक अंग्रेजी मासिक भी प्रकाशित किया था ।

देश की आर्थिक और वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए उन्होंने पंजाब नेशनल बैंक की स्थापना 1894 में की । बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन इसके मुख्य सचिव रहे थे । लालाजी द्वारा स्थापित भारत लोक-सेवक मण्डल (Servants of the People's Society) ने देश के नवजागरण तथा सेवा का अभूतपूर्व कार्य किया है । प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन, भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री तथा पं० अलगूराय शास्त्री जैसे देशभक्तों ने लालाजी से प्रेरणा लेकर ही राष्ट्र-सेवा का पाठ पढ़ा था ।

यह पुस्तक मैं अपने प्रिय मित्र श्रीयुत लाला हंसराज जी, अवैतनिक प्रिंसिपल, दयानन्द ऐंग्लोवैदिक कालेज (लाहौर) की सेवा में अर्पण करता हूँ। आशा है, उक्त मान्यवर मेरे इस क्षुद्र कार्य को स्वीकार कर कृतकृत्य करेंगे।

भूमिका

स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुपम परोपकारी काम तथा जीवन का वृत्तान्त सर्वसाधारण को सामान्यतया और आर्य सभासदों के लिए विशेष रूप से परम लाभदायक है, इसीलिये यह उद्योग किया गया है । मुझे यह कहने में किंचित् मात्र भी संकोच नहीं कि यह पुस्तक उस महापुरुष के योग्य नहीं है जिसका नाम इसके मुखपृष्ठ पर अंकित है । उर्दू में इसके प्रकाशित होने के पश्चात अनेक भद्र पुरुषों ने हिन्दी में भी इसे प्रकाशित करने की इच्छा प्रकट की और प्रेरणा की कि इसे शीघ्र प्रकाशित करें । इस शीघ्रता तथा खुद के शरीर की अस्वस्थता के कारण यदि इस हिन्दी संस्करण में कुछ न्यूनाधिक हो गया हो तो सज्जन महाशय क्षमा करें ।

यह हिन्दी अनुवाद मेरी सहमति तथा प्रेरणा से पं० गोपालदास देवगुण शर्मा क्लर्क, डैडलैटर आफिस लाहौर ने परिश्रमपूर्वक किया है व प्रूफ भी देखे हैं । तथापि यथोचित समय इन्हें भी नहीं मिला । यद्यपि इस अनुवाद को मैंने सुन लिया है किन्तु शारीरिक अस्वस्थता के कारण मैं भी यथोचित ध्यान नहीं दे सका । मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि उक्त पण्डित जी को अधिक समय मिलता तो यह पुस्तक और भी अच्छी छपती । अन्त में प्रार्थना है कि यदि इस आवृत्ति में कोई त्रुटि या न्यूनाधिकता हो तो विद्वज्जन कृपापूर्वक संशोधन कर सूचित करें ताकि अगले संस्करण में सुधारा जा सके ।

—लाजपतराय

सम्पादकीय

लाला लाजपतराय रचित 'महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनका काम' पुस्तक सर्वप्रथम 1898 ई० (1955 वि०) में प्रकाशित हुई थी। स्वामी दयानन्द के निधन के कुछ वर्ष पश्चात् ही उनके जीवन-चरित के लेखन की तैयारी होने लगी थी। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने इस गुरुतर कार्य को पूरा करने का कार्य पं० लेखराम आर्य मुसाफिर के सुपुर्द किया था। पण्डित जी ने अपनी नानाविध व्यस्तताओं के रहने पर भी स्वामीजी की जीवनी-विषयक सामग्री को एकत्र करने में पूर्ण पुरुषार्थ किया। वे उन सभी स्थानों पर गये जो स्वामीजी द्वारा पदारोपित किये गये थे, उन अधिकांश लोगों से भी मिले जिन्होंने अपने जीवन में स्वामीजी से भेंट की थी तथा उनसे विचार-विनिमय किया था। स्वामी जी के सम्बन्ध में तत्कालीन हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के पत्रों में जो विवरण तथा टिप्पणियाँ प्रकाशित की गई थीं, उन्हें भी एकत्र किया। यह सारी आधारभूत सामग्री एकत्र कर जब वे लाहौर में जीवनचरित का लेखन कर ही रहे थे कि एक आततायी ने उनके प्राण ले लिये और यह कार्य अपूर्ण रह गया। कालान्तर में पंजाब की आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्कालीन प्रधान लाला मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) की प्रेरणा से मास्टर आत्माराम अमृतसरी ने इस ग्रन्थ को जैसे-तैसे पूरा किया और यह बृहदाकार जीवनचरित 1897 ई० में उर्दू में प्रथम बार प्रकाशित हुआ।

स्वामी दयानन्द के जीवनचरित-लेखन का एक अन्य प्रयास बंगाल में देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय नामक एक बंगला लेखक द्वारा किया जा रहा था। उनकी लिखी स्वामी जी की बंगला जीवनी 1896 में कलकत्ता से प्रकाशित हुई। लाला लाजपतराय बंगला भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण सम्भवतः मुखोपाध्याय जी द्वारा रचित इस जीवनचरित को नहीं देख पाये थे। वैसे भी देवेन्द्र बाबू को स्वामी जी के जीवन के विषय में विस्तृत एवं गहन अनुसंधान में तो अभी प्रवृत्त होना ही था। यह कार्य उन्होंने इस शताब्दी के प्रथम दशक में पूरा किया और तभी दयानन्द की जीवनी परि-पूर्णता को प्राप्त हो सकी। लाला जी की इस पुस्तक का मुख्य आधार पं० लेखराम द्वारा रचित उर्दू जीवनचरित ही है। ऐसा लगता है कि उर्दू में प्रकाशित होने के साथ ही इस जीवनी को हिन्दी में अनूदित करा कर 1898 ई० (1955 वि०) में प्रकाशित कर दिया गया था। पुस्तक के अनुवादक पं० गोपालदास देवगण शर्मा थे जो लाहौर के डैड लैटर आफिस में क्लर्क थे। यही अनूदित जीवनी 1912 ई० में लाहौर से दुबारा छपी थी। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने इसे अपने साप्ताहिक मुखपत्र 'सार्वदेशिक' के विशेषांक के रूप में 2024 वि० (1967 ई०) में प्रकाशित किया और 99 नया पैसा मूल्य रख कर प्रचारित किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ का महत्त्व

लाला लाजपतराय उर्दू तथा अंग्रेजी के सफल लेखक तो थे ही, आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द के प्रति उनके हृदय में अगाध निष्ठा भी थी। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि मैं आर्यसमाज को अपनी माता और ऋषि दयानन्द को अपना धर्मपिता मानता हूँ। मुझमें जो देश-भक्ति का भाव है वह स्वामीजी की शिक्षाओं का ही परिणाम है। इसी भावना को लेकर लालाजी ने यह जीवनचरित लिखा। यह केवल उस महापुरुष की जीवन-घटनाओं का शुष्क विवरण ही नहीं है अपितु भारत के धार्मिक परिप्रेक्ष्य में उनके महत्त्व की स्थापना का एक सफल प्रयास भी है। इसीलिए जीवन-चरित के लेखन से पहले पर्याप्त विस्तार में जाकर वैदिक काल से लेकर स्वामी दयानन्द के आविर्भावकाल तक के धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिदृश्य को लेखक ने पूर्ण तन्मयता तथा तथ्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार जीवनचरित का विवरण अंकित करने के पश्चात् स्वामीजी के चरित्र विश्लेषण को भी विस्तार से प्रस्तुत किया है। साथ ही स्वामी जी और थियोसोफिस्टों के सम्बन्ध, उनके गौरक्षा विषयक विचार तथा उनके द्वारा रचित ग्रन्थों पर भी सतर्क ढंग से लिखा गया है। लालाजी की इस लेखन-शैली का आगे के अनेक जीवनी-लेखकों ने अनुकरण किया है। हिन्दी में रामविलास शारदा ने 'आर्य धर्मेन्द्र जीवन' लिखा (प्रकाशन 1961 वि०) तथा चिम्मनलाल वैश्य का 'सरस्वतीन्द्र जीवन' (1902 ई०) भी प्रकाशित हुआ। शारदा जी के ग्रन्थ का उपोद्घात उनके मित्र मास्टर आत्माराम अमृतसरी ने लिखा तथा ग्रन्थान्त में महर्षि का चरित्र-विश्लेषण स्वयं शारदा जी की कलम से लिखा गया। अंग्रेजी में बावा छज्जू सिंह तथा उनके भाई बावा अर्जुन सिंह ने जो अंग्रेजी में जीवनचरित लिखे वे भी मुख्यतः लाला लाजपतराय रचित इसी जीवनी पर आधारित हैं।

अनुवाद के विषय में

लाला जी का मूल ग्रन्थ तो उर्दू में था और इसका हिन्दी अनुवाद भी लगभग एक शती पूर्व उस समय किया गया था जब हिन्दी गद्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था और पंजाब में तो हिन्दी का प्रचार सर्वथा नगण्य ही था। इसलिये अनुवाद में तथ्यात्मकता, प्रांजलता आदि का सर्वथा अभाव था। अंग्रेजी के पोलिटिकल, सोशल, फिलोसोफी आदि शब्द अनुवाद में भी ज्यों के त्यों रख दिये गये थे। प्रवाह में कमी, यत्र-तत्र मूल को नागरी में यथातथ्य प्रस्तुत न कर पाना आदि त्रुटियों के कारण ग्रन्थ की उपयोगिता आज के पाठकों के लिए संदिग्ध ही थी। अतः प्रस्तुत संस्करण को तैयार करते समय अनुवाद को पूर्णतया परिष्कृत एवं संशोधित करने का प्रयास किया गया है। इस कार्य की गुरुता को तभी समझा जा सकता है यदि कोई पाठक ग्रन्थ के पूर्व संस्करण की तुलना प्रस्तुत संस्करण से करने की तकलीफ गवारा करे। यत्र-तत्र किसी प्रसंग को संक्षिप्त करने की स्वतंत्रता भी हमने ली है तथापि इस बात का ध्यान रखा गया है कि क्रम तथा विषय के तारतम्य में किसी प्रकार का व्यवधान न हो। आशा है लाला लाजपतराय की यह अनुपम कृति

पाठकों को उस महापुरुष के जीवन एवं कार्य से परिचित करायेगी जिसने न केवल देश के इतिहास को ही प्रभावित किया था अपितु जिसके द्वारा मानव के सर्वांगीण कल्याण की समग्र कल्पना भी की गई थी ।

—डॉ० भवानीलाल भारतीय

रत्नाकर, नन्दन वन, जोधपुर
श्रद्धानन्द बलिदान दिवस
10 दिसम्बर 1997 ई०

भूमिका

(1) हमारा देश और इसका नाम

आजकल हमारे देश का नाम हिन्दुस्थान है । यह संयुक्त शब्द दो शब्दों के मेल से बना है अर्थात् हिन्दू और स्थान, जिसका आशय यह है कि यह देश हिन्दुओं का स्थान है । 'हिन्दू' शब्द नवीन प्रतीत होता है क्योंकि मुसलमानों के इस देश में आने से पहले यह शब्द हमारे देश के साहित्य में नहीं मिलता । आज तक के अनुसंधान से पता चलता है कि प्राचीन संस्कृत भाषा में यह शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ । अनेक लोगों की सम्मति है कि यह शब्द सिन्धु का विकृत रूप है, परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सिन्धु किसी जाति का नहीं, अपितु एक नदी का नाम है । प्रायः यह विचार ठीक है कि इस देश के वास्तविक निवासियों अर्थात् आर्यों का यह नाम मुसलमानों ने रखा है । फारसी भाषा में इस शब्द का अर्थ गुलाम (दास) है । मुसलमानी मत के अनुसार जो प्रजा इस्लाम को स्वीकार न करे 'दास' समझी जाती है । इसलिये कुछ आश्चर्य नहीं कि मुसलमानों ने इस देश पर अपने शासनकाल में यहाँ के निवासियों को हिन्दू नाम दे दिया हो । मुसलमानों के आगमन के पहले भारत प्रायद्वीप के दो बड़े भाग समझे जाते थे—उत्तरापथ और दक्षिणापथ । उत्तरापथ को आर्यावर्त और दक्षिण भारत को केवल 'दक्षिण' कहा जाता था । इस विभाजन का कारण यह नहीं था कि आर्य लोग केवल उत्तरी भाग में ही रहते थे, दक्षिण में नहीं, (क्योंकि रामायण से विदित होता है कि उन दिनों आर्य लोग दक्षिण में भी रहते थे) अपितु इसका कारण यह प्रतीत होता है कि संस्कृत ग्रन्थों में भी ऐसा ही लिखा है कि ब्रह्मर्षि देश केवल उस भाग का नाम था जो सरस्वती नदी और गंगा के मध्य में है ।[1] अनेक ग्रन्थों में समस्त देश को भरतखण्ड भी लिखा है ।

(2) समस्त हिन्दू आर्यवंशी हैं

इसमें कुछ संदेह नहीं कि वे सब लोग जो इस समय हिन्दू पुकारे जाते हैं आर्य वंश के हैं । यह सम्भव है कि इनमें से कई जातियों के लोग या कोई विशेष भाग मिश्रित रक्त का भी हो, तथापि ऐसे समस्त लोगों ने आर्यों की ही भाषा और धर्म को स्वीकार कर लिया था, अतः वे पूर्ण रूप में आर्य कहला सकते हैं ।

---

1. सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्'
   तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त प्रचक्षते"—मनु० 2/96

(3) आर्य वस्तुतः यहीं के निवासी थे, या बाहर से आये ?

आर्य जाति वास्तव में इसी देश में आबाद थी या कहीं बाहर से आकर बसी, यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर पर्याप्त विवाद हुआ है और अब तक हो रहा है। यूरोपीय विद्वानों ने जिस दिन से संस्कृत विषयक अपना अध्ययन और अनुसंधान आरम्भ किया, उसी दिन से इस प्रश्न पर बड़े मनोयोगपूर्वक चर्चा आरम्भ हुई। जब संस्कृत भाषा की रचना-प्रणाली तथा उसकी बनावट की यूरोपीय भाषाओं से तुलना की गई तो उनमें विचित्र समता पाई गई। इससे विस्मित होकर यूरोपीय संस्कृतज्ञों ने अनेक परिणाम निकाले। इनमें से कुछ की सम्मति थी कि यूरोपवासी, तथा ईरान, अफगानिस्तान और भारत के रहने वाले सब एक वंश के ही हैं। इनका नाम आर्य था। प्राचीन समय में इनके पूर्वज मध्य एशिया में रहते थे और फिर वे वहाँ से भिन्न-भिन्न भागों में बँटते चले गये। अतः जो लोग भारत में आये उन्होंने तो अपना मूल नाम आर्य रखा किन्तु शेष लोगों ने अपना नाम बदल दिया। इस विद्वन्मण्डली की यह राय भाषाओं में पाई जाने वाली उस समानता के कारण बनी, जिसका उल्लेख हम कर चुके हैं। उनका कथन है कि विभक्त होने के पहले इन सब जातियों की भाषा एक ही थी। वह भाषा अधिकांश में संस्कृत से अधिक मिलती थी और उसी से लैटिन, ग्रीक, फारसी तथा जेंद आदि भाषाएँ निकली हैं।

स्वामी दयानन्द की इसमें निम्न सम्मति है, जिसे उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखा है—

प्रश्न : मनुष्यों की आदि सृष्टि किस स्थल में हुई ?

उत्तर : त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत में।

प्रश्न : उत्पत्ति के आदि में एक जाति के मनुष्य थे या अनेक जातियों के ?

उत्तर : एक के, पीछे विद्वान् और देवता पुरुषों का नाम आर्य तथा बुरे लोगों का नाम दस्यु अर्थात् डाकू, मूर्ख पड़ गया। इस प्रकार आर्य और दस्यु दो नाम हुए। आर्यों में उक्त रीति से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्ण हुए। द्विज, विद्वानों का नाम आर्य और अनपढ़ों का नाम अनार्य अर्थात् अनाड़ी—शूद्र हुआ।

प्रश्न : फिर वह यहाँ कैसे आये ?

उत्तर : जब आर्य विद्वानों, देवताओं का दस्यु, असुर व राक्षसों अर्थात् मूर्खों में सदैव लड़ाई-झगड़ा होने लगा और विवाद बहुत बढ़ गया तो आर्यजन सारी धरती में से इस भूमि को सबसे श्रेष्ठ समझ कर यहीं आ बसे। इसीलिये इस देश का नाम आर्यावर्त हुआ।

प्रश्न : आर्यावर्त की सीमा कहाँ तक है ?

उत्तर : उत्तर में हिमालय पर्वत, दक्षिण में विंध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र, या यह कहें कि पश्चिम में सरस्वती नदी वा अटक नद (जो उत्तरीय पर्वतों से निकल कर दक्षिण में अरब सागर में जा गिरता है), पूर्व में दृषद्वती (जो नेपाल देश के पूर्वीय भाग के पहाड़ों से निकल कर बंगाल की ओर समुद्र में मिल गई है, जिसको ब्रह्मपुत्र भी कहते हैं), हिमालय की मध्य रेखा से दक्षिण और पर्वतों के बीच और रामेश्वर तक विंध्याचल के भीतर जितने देश हैं इन सबको आर्यावर्त इसलिये कहते हैं कि यह देश आर्यावर्त देवता अर्थात् विद्वानों ने बसाया है और आर्य

पुरुषों की निवास-भूमि है ।[1]

प्रश्न : पहले इस देश का नाम क्या था और इसमें कौन रहते थे ?

उत्तर : पहले इस देश का नाम कुछ भी नहीं था और न कोई यहाँ रहता ही था, क्योंकि आर्य मनुष्य-उत्पत्ति के आरम्भ में कुछ समय व्यतीत हो जाने के अनन्तर तिब्बत से सीधे इस देश में आकर बसे ।

प्रश्न : बहुतों का कथन है कि आर्य लोग ईरान से आये, इसीलिये इन लोगों का नाम आर्य है । इनसे पहले यहाँ जंगली मनुष्य रहते थे, जिनको (आर्य जन) असुर और राक्षस कहते थे । आर्य लोग अपने को देवता बताते थे और इन दोनों में जो युद्ध हुआ, वह देवासुर संग्राम के नाम से कथाओं में वर्णित है ।

उत्तर : यह बात नितान्त मिथ्या है, क्योंकि ऋग्वेद में भी लिखा है, जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, आर्य धार्मिक, विद्वान्, सत्य वक्ताओं का नाम है और उनसे विपरीत गुणों वाले जो मनुष्य हैं, उनका नाम दस्यु अर्थात् डाकू, कुकर्मी, अधार्मिक और मूर्ख है । इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विजों का नाम आर्य और शूद्रों का नाम अनार्य अर्थात् अनाड़ी है । जब वेद में यह लिखा है तो दूसरी जातियों की कल्पित बातों को बुद्धिमान् लोग कभी नहीं मान सकते । हिमालय पर्वत पर आर्य और दस्यु, म्लेच्छ अर्थात् राक्षसों का जो संग्राम हुआ था, उसमें आर्यावर्त के अर्जुन और महाराज दशरथ प्रभृति सम्राट् देवताओं अर्थात् आर्यों की विजय और असुरों की पराजय के लिये सहायक हुए ।"[2]

यूरोप के कुछ शोधकर्ता कहते हैं कि भाषाओं की समता इस बात की पूरी साक्षी नहीं है कि आर्य लोग असल में भारत के निवासी नहीं थे और कभी प्राचीन काल में मध्य एशिया से आकर यहाँ बस गये या किसी अन्य स्थान से आये । निस्संदेह यहाँ तक तो सब एकमत हैं कि यूरोप की अनेक भाषाएँ और जेंद तथा पहलवी (पुरानी फारसी) संस्कृत से इतनी मिलती हैं जिससे पूर्ण विश्वास से कहा जा सकता है कि या तो अवशिष्ट समस्त भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं, या संस्कृत और ये समस्त भाषाएँ किसी अन्य प्राचीन भाषा से उत्पन्न हैं जो इन सारी भाषाओं की माता थी । भारतीय विद्वान्, जिनके साथ अनेक यूरोपीय विद्वान् भी सहमत हैं, यह कहते हैं कि ये सब भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं क्योंकि यह बात मान ली गई है कि संस्कृत इन सबसे प्राचीन तथा सर्वोपरि उत्तम है । अतः कोई कारण नहीं, जिससे यह न माना जावे कि अन्य सभी भाषाएँ जो एक-दूसरे से पर्याप्त समान हैं, इसी संस्कृत की पुत्रियाँ हैं । यथा, नवीन संस्कृत, प्राकृत, आधुनिक बंगला, वर्तमान गुजराती, मराठी आदि प्राचीन संस्कृत से बहुत भेद रखती हैं । परन्तु इसमें किसी को सन्देह नहीं कि इन सबकी माता प्राचीन संस्कृत है । इसी प्रकार चाहे फारसी, जेंद, पहलवी, लातीनी और यूनानी आदि सब भाषाएँ प्राचीन संस्कृत से भिन्न हैं परन्तु

---

1. सत्यार्थप्रकाश—आठवाँ समुल्लास—"आर्यावर्त इसलिये कहते हैं कि यह आर्यावर्त देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्यावर्त कहाया है ।"
2. सत्यार्थप्रकाश—अष्टम समुल्लास

उनमें इतनी समानता है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं की भाँति उनको भी संस्कृत से निकली माना जा सकता है। दूसरी ओर कई यूरोपीय विद्वान् यह कहते है कि भारत की आधुनिक भाषाओं की संस्कृत से जितनी समानता है उतनी ही समानता लातीनी, यूनानी आदि से नहीं, इसलिये यह माना जा सकता है कि इन भाषाओं की माता एक अन्य भाषा थी जो भिन्न-भिन्न देशों में जाने से पहले आर्य वंश में बोली जाती थी। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि संस्कृत को ही समस्त भाषाओं की जननी मान लिया जाये। निस्संदेह भाषाओं के बारे में यह परिणाम तो निकाला जा सकता है कि जिन वंशों में यह भाषा अब प्रचलित है उन वंशों में भी कुछ न कुछ पुराना सम्बन्ध अवश्य रहा होगा। क्या ये सब वंश किसी समय मध्य एशिया में बसते थे और वहाँ से इधर-उधर चले गये, या इन सब वंशों के पूर्व पुरुष हिमालय के बर्फीले पहाड़ों के दक्षिण या उत्तर में निवास करते थे और उनकी सन्तान संसार के भिन्न-भिन्न भागों में फैल गई। यह ऐसे प्रश्न हैं जिनके विषय में अभी तक कोई निश्चयात्मक उत्तर नहीं मिला है। हमारी सम्मति में लार्ड एलफिंस्टन और उनके साथी विद्वान् उचित रीति से विवाद करते हैं और कहते हैं कि जो प्रमाण इस मत की पुष्टि में दिये जाते हैं कि आर्य जाति किसी समय मध्य एशिया में रहती थी और वहाँ से हिन्दू (आर्य) भारत में आये, वह इस परिणाम पर पहुँचने की पूर्ण सीढ़ी नहीं है। यह केवल विचार मात्र है। जब से ऐतिहासिक साक्षी मिलती है, उस समय से हिन्दू (आर्य) वंश का निवास भारत में ही सिद्ध होता है। इसलिये इस बात को सिद्ध करने का भार उन्हीं लोगों पर है जो कहते हैं कि आर्य कहीं बाहर से आये हैं। ऐसी अवस्था में हिन्दू छात्रों को यह शिक्षा देना कि उनके पूर्वज भारत के असली निवासी नहीं हैं, उनको कुमार्ग पर ले जाना है।

(4) समस्त ज्ञान प्रधान भाषाओं में संस्कृत सबसे प्राचीन है

यह बात स्वीकार कर ली गई है कि यूरोप की समस्त भाषाओं तथा फारसी, पहलवी और जेंद आदि से संस्कृत सबसे प्राचीन भाषा है। साथ ही यह भी माना जाता है कि मनुष्य जाति के पुस्तकालय में ऋग्वेद से प्राचीन अन्य कोई पुस्तक नहीं है।[1] अतः यह कहना किंचित मात्र भी अत्युक्ति नहीं है कि विद्यायुक्त भाषाओं में वैदिक संस्कृत सबसे प्राचीन है और यही ऐसा अमूल्य भण्डार है जिससे प्राचीन काल के वृत्तान्त ज्ञात हो सकते हैं।

(5) सभ्यता के इतिहास के लिये वेद कुंजी हैं

इतिहास हमको वेदों के परवर्ती काल का तो हाल बता सकता है किन्तु उससे पहले के वृत्त के विषय में तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। इसलिये प्रो० मैक्समूलर अपनी पुस्तक में एक स्थान पर लिखते हैं कि यूरोपीय लोगों के लिये वेदों के अस्तित्व का ज्ञान मानो पुराने इतिहास की कुंजी का मिलना ही है। उनकी सम्मति में वेद ऐसा बहुमूल्य ग्रन्थ है जिससे अधिक प्रिय विद्वानों और पण्डितों की दृष्टि में और कोई नहीं है। उनकी सम्मति में सभ्यता का इतिहास

1. ऋग्वेद संसार के पुस्तकालय का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है।—प्रो० मैक्समूलर

वेदों के ज्ञान के बिना अधूरा ही है । जिस दिन से यूरोपीय लोगों को इन पवित्र ग्रन्थों की विद्यमानता और इनके विषयों की कुछ जानकारी हुई है, उसी दिन से सभ्यता के इतिहास में विचित्र परिवर्तन हुए हैं । यहाँ तक कि इस अभिज्ञान के पहले की सभ्यता के इतिहास इस समय की विद्वानों की दृष्टि में निरन्तर मिथ्या और व्यर्थ जान पड़ते हैं ।

(6) धर्म विषयक इतिहास के लिये तो वेदों का पठन-पाठन और भी आवश्यक है

इतिहास विद्या का कोई भाग इतना रोचक नहीं है जितना भाषाओं तथा धर्म विषयक अध्ययन । इतिहास में यही दो स्थल ऐसे हैं जिनसे संसार की भिन्न-भिन्न जातियों की पहचान होती है । यही दो ऐसे विषय हैं जिनसे संसार की जातियाँ विशेषता ग्रहण करती हैं और इनमें मजहब, धर्म या दीन ही ऐसी वस्तु है जिसके नाम पर संसार में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं । संसार में बड़े परिवर्तन धर्म के नाम पर ही हुए हैं । सच पूछा जाये तो सारा राजनैतिक इतिहास धर्म ने ही बनाया है । क्या यूरोप और क्या एशिया, सब जगह इसी ने काम किया है । यहाँ तक कि विभिन्न वंशों की वास्तविकता को इसी ने तलाशा है । धर्म के नाम पर देशों और कुलों में ऐसे-ऐसे परिवर्तन हुए हैं कि अब उनके स्वरूप को पहचानना भी कठिन है । यही फ़ारस जो आज मुसलमानी देश है, इस्लाम के आगमन के पहले कुछ और ही था । इसी प्रकार एशियाटिक और यूरोपियन टर्की वास्तव में पहले क्या थी और धर्म के परिवर्तन से अब कैसी हो गई ? यूरोप के राज्य पहले कैसे थे और अब कैसे हैं ? यह धर्म महाराज का ही प्रताप है, इसलिये यह कहना उचित है कि धर्म से ही संसार का सारा इतिहास बनता और बिगड़ता है । अतः प्रो० मैक्समूलर का यह कथन बिलकुल सत्य है कि जिन विद्वानों ने वेदों को हम तक अर्थात् यूरोपीय लोगों तक पहुँचाया उन्होंने सभ्यता और धर्म पर बड़ा अनुग्रह किया है । संसार के इतिहास-लेखकों तथा ग्रन्थकारों को सत्य मार्ग पर चलाया है । हम यह नहीं कह सकते कि इस वैदिक ज्ञान के अभाव में संसार कितनी देर तक अंधकार में रहता और कपोल-कल्पित इतिहासों की सृष्टि करता । वेदों के ज्ञान से उनको वह प्रकाश मिल गया जिसकी सहायता से वे इतिहास को ठीक प्रकार से लिख सकेंगे ।

(7) वेद संसार की सर्वाधिक प्राचीन पुस्तक होने के कारण प्राचीन धर्म की शिक्षा देते हैं

ऋग्वेद सृष्टि की सबसे पुरानी पुस्तक होने के कारण सबसे प्राचीन धर्म का प्रतिपादन करती है । अर्थात् ऋग्वेद का धर्म पूर्ण रीति से संसार का प्राचीनतम धर्म है । सत्य तो यह है कि वह समय समीप आ रहा है जब यह मान लिया जायगा कि संसार के सारे धर्म वैदिक धर्म से ही निकले हैं । जिस प्रकार विभिन्न भाषाओं की तुलना से विदित होता है कि वे वास्तव में एक ही स्रोत से निकली हैं तथा उनमें जो अन्तर इस समय दिखाई देता है उसका कारण उन स्थानों की पृथक् जलवायु रही है जहाँ वे प्रयुक्त होती रहीं । इसी प्रकार भिन्न-भिन्न धर्मों (सम्प्रदायों)

की तुलना से हम यह परिणाम निकालते हैं कि इन समस्त सम्प्रदायों में अनेक ऐसे नियम हैं जो संसार के सभी सम्प्रदायों में पाये जाते हैं और ये नियम ही वस्तुतः धर्म (या सम्प्रदाय) के मौलिक नियम हैं । इनमें जो भिन्नता है वह उन मौलिक सिद्धान्तों पर मनुष्य की बुद्धि को अपने ढंग से लागू करने के कारण उत्पन्न हुई है । भिन्न-भिन्न देशों, नाना प्रकार की जलवायु, भाँति-भाँति की मर्यादा और रीति-नीति तथा विभिन्न अवस्थाओं में उत्पन्न हुए मनुष्यों के मस्तिष्कों ने इन मौलिक नियमों को भिन्न-भिन्न प्रकार से समझा और इसीलिये इनमें भेद उत्पन्न हो गये । अतः निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार संसार की भाषाओं की उत्पत्ति का स्थान किसी समय एक ही था, उसी प्रकार आधुनिक सम्प्रदायों की बुनियाद भी किसी समय एक ही थी और चूँकि ऋग्वेद संसार के परोक्ष पदार्थों की विधि तथा तत्त्वों के प्रतिपादन करने में सबसे प्राचीन है इसीलिये उसमें प्रतिपादित धर्म भी सर्वाधिक प्राचीन है । प्राचीन और आधुनिक आर्यों का तो यही विचार है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ हैं । ये ही समस्त सम्प्रदायों के मूल हैं । इनमें समस्त सम्प्रदायों के मौलिक नियम उसी निर्लेप तथा पवित्र रूप में पाये जाते हैं जिस निर्लेप अवस्था में वे प्रारम्भ में थे । अतः इस विचार से भी वेद ऐसे बहुमूल्य ग्रन्थ हैं जिनके तुल्य महार्घ ग्रन्थ अन्य कोई नहीं हैं ।

(8) वैदिक संस्कृत की धारणा की आवश्यकता

इसलिये सब प्रकार से यह आवश्यक प्रतीत होता है कि मनुष्य जाति उस भाषा को भली भाँति समझ सके जिस भाषा में ये अमूल्य ग्रन्थ (वेद) इस समय हमें प्राप्त हैं । हम इस भाषा को वैदिक संस्कृत या प्राचीन संस्कृत कहते हैं । यह भाषा इस समय किसी भी स्थान पर प्रचलित नहीं है और न कोई जाति इसे प्रयुक्त करती है । उसी प्रकार जैसे वैदिक धर्म भी आज किसी भी स्थान पर उस रूप में प्रचलित नहीं है और न कोई जाति उसका आचरण ही करती है । वैदिक संस्कृत परिवर्तित होते-होते आज उस दशा को पहुँच गई है जो वर्तमान में इस देश की भाषा है और वैदिक धर्म भी विकृत होता-होता उस स्थिति में आ गया है जिसे हम वर्तमान हिन्दू धर्म कहते हैं । इस देश की भाषा तथा हिन्दू धर्म का विशेष उल्लेख हम इसलिये करते हैं क्योंकि यह निर्विवाद सत्य है कि यह भाषा और यह धर्म वैदिक भाषा और वैदिक धर्म के ही वंशज हैं अथवा यह कहें कि यह धर्म और यह भाषा वैदिक संस्कृत की ऐसी सन्तानें हैं जैसे दादा से पिता और फिर पिता से पुत्र, पुनः पुत्र से पौत्र और पौत्र से प्रपौत्र का जन्म होता है । वैदिक धर्म को जानने के लिये वैदिक संस्कृत का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है । सच पूछा जाये तो इन दोनों का ज्ञान कार्य और कारण का सम्बन्ध रखता है । इस देश में धर्म और भाषा का परिवर्तन साथ-साथ होता रहा है । जैसे-जैसे धर्म अपने प्रकृत रूप से पतित होता गया उसी प्रकार भाषा भी बदलती गई ।

(9) यह देश धर्मभूमि कहलाता है

धर्म के साथ इस देश में केवल भाषा ही नहीं बदली (वैदिक संस्कृत से नवीन (आधुनिक) संस्कृत तथा इससे पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाएँ और इन अपभ्रंशों से आधुनिक हिन्दी

आदि भाषाएँ) अपितु इस देश की राजनैतिक और सामाजिक दशा भी बदली है । धर्म का विस्तार सदा ही प्रत्येक समय में प्रधान रहा अतः इस देश को धर्मप्रधान स्थल कहा गया ।

(10) जो मनुष्य वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृत की शिक्षा प्रदान करे वह संसार में परम उपकारी पुरुषों की श्रेणी में गिना जाने योग्य है

अतः जो मनुष्य हमको शुद्ध वैदिक धर्म की शिक्षा दे और वैदिक धर्म को समझने के लिये वैदिक संस्कृत की कुञ्जी प्रदान करे वह हम पर केवल उपकार ही नहीं करता बल्कि वह समस्त विश्व की विद्या सम्बन्धी उन्नति में सहायता भी करता है और हमें सुशिक्षा तथा सभ्यता प्रदान कर अनुगृहीत भी करता है । उसे संसार के परमोपकारी लोगों में गिनना चाहिए । उसी की कृपा से मानव सभ्यता को प्रेरणा मिलती है और उन्नति का प्रवाह बह निकलता है । आगे चल कर हम एक ऐसे ही महापुरुष की जीवनी पाठकों को भेंट करेंगे । लोगों को वैदिक संस्कृत का सत्य आशय बता कर स्वामी दयानन्द ने न केवल इस देश के लोगों को अनन्त लाभ पहुँचाया अपितु संसार की सभ्यता और शिक्षा को भी नई रोशनी दी है ।

(11) आर्यों (हिन्दुओं) के लिये स्वामी दयानन्द का जीवन बहुमूल्य है

आर्य (हिन्दू) लोग स्वामी जी का जितना उपकार मानें, थोड़ा है । धर्म से पतित, सैकड़ों वर्षों से राजनैतिक अधोगति को प्राप्त, लज्जाजनक सामाजिक स्थिति में फँसे इन हिन्दुओं के लिये तो स्वामी जी का जीवन मानो अमृतवर्षा ही थी । उन्होंने अत्यन्त विचारपूर्वक वैदिक संस्कृत में निहित ज्ञान को हम तक पहुँचाया । आधुनिक हिन्दू मौलिक वैदिक धर्म से कितने दूर हैं और यह दूरी ही हमारे सब दुःखों का कारण है, यह स्वामी जी ने हमें बताया । साथ ही वह भी कहा कि यह पतन एकाएक ही नहीं होता गया, अपितु भाषा और वर्ण (चतुर्वर्ण) क्रमशः पतित होते गये और यहाँ तक गिरे कि अब उससे आगे गिरने का कोई स्थान ही नहीं बचा । अब वह समय आ गया है जब आर्य सन्तान अपने उस पतन और हानि को अच्छी प्रकार जाने और पुनः उन्नति के पथ पर आगे बढ़े । ऐसे व्यक्ति के जीवन को पढ़ कर ही मनुष्य आनन्द प्राप्त कर सकता है जो इस धर्म-प्रधान देश के धार्मिक इतिहास से पूर्ण अभिज्ञता रखता था । भारत का धार्मिक इतिहास ही उसकी लौकिक उन्नति की कुञ्जी है । उसका धार्मिक इतिहास ही उसकी सामाजिक अवनति की व्याख्या करता है । इसलिये यह आवश्यक है कि स्वामी दयानन्द के जीवन को लिखने से पहले हम इस देश के धार्मिक इतिहास का एक चित्र देशवासियों के सामने रखें ताकि वह उस पर विचार करे और उस महोपकारी पुरुष के जीवनचरित से यथोचित लाभ उठा सके ।

(12) वैदिक धर्म सृष्टि का सर्वाधिक प्राचीन धर्म है, भारत का प्राचीन धर्म होने में तो कोई संदेह ही नहीं

आर्यसमाज का यह मन्तव्य है कि वेद ईश्वरीय वाणी को प्रकट करने वाले ग्रन्थ हैं जो सृष्टि के आदि में परमात्मा की ओर से मनुष्य जाति को मिले थे । अतः वेदों का धर्म केवल भारत

का ही प्राचीन धर्म नहीं है, अपितु वह मनुष्य जाति का प्राचीनतम तथा आदिम धर्म है। किन्तु यदि इस विचार को थोड़ी देर के लिये हम न भी मानें तो भी इसमें कुछ सन्देह नहीं कि वेदों का धर्म सबसे प्राचीन है, जिससे पहले के किसी धार्मिक विचार का कोई नमूना या पता हमारे पासं नहीं है। अतः यह देखना चाहिए कि वैदिक धर्म क्या है ?

(13) वैदिक धर्म क्या है ?

वैदिक धर्म के विषय में लोगों के विचारों में प्रत्यक्षतया बहुत कुछ भिन्नता है। इस समय दो वर्ग ऐसे हैं जो वेदों के धर्म पर अपनी सम्मति रखते हैं। प्रथम श्रेणी में भारत के संस्कृत विद्वान् तथा संन्यासी हैं जब कि दूसरी श्रेणी उन संस्कृतज्ञ विद्वानों की है जो वेदों के विषय में कुछ भिन्न सम्मति रखते हैं। स्वदेशी पण्डितों तथा यहाँ के संस्कृतज्ञों का भी एक ऐसा वर्ग है जो अंग्रेजी की अभिज्ञता के कारण यूरोपीय विद्वानों का अनुयायी है। हम इनकी गणना यूरोपीय विद्वानों में ही कर सकते हैं। वेदों के धर्म पर विचार करते हुए सर्वप्रथम यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि—

(14) वेद किन पुस्तकों का नाम है ?

वेद किन पुस्तकों का नाम है ? भारत के संस्कृतज्ञ पण्डित आर्यसमाजी विद्वानों से इस विषय में मत-भिन्नता रखते हैं। उनका मत है कि वेदों में चारों वेद संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थ तथा उपनिषदों की गणना होती है। अपने आपको सनातनधर्मी कहने वाले लोगों का एक बड़ा वर्ग यह भी मानता है कि पुराणों को भी हमें संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषदों की श्रेणी में रखना चाहिए। संस्कृत का समस्त धार्मिक साहित्य श्रुति और स्मृति—इन दो वर्गों में बँटा है। श्रुति से कभी तो संहिताओं का और कभी संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषदों का अभिप्राय लिया जाता है। स्मृति के अन्तर्गत अवशिष्ट धर्मग्रन्थ आते हैं। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों को कभी भी श्रुति के अन्तर्गत नहीं माना गया। उन्हें वैदिक साहित्य से सदैव भिन्न समझा गया। यहाँ तक कि सारे संस्कृतज्ञ यूरोपीय विद्वान् भी इस बात पर एकमत हैं कि वैदिक साहित्य में संहिता, ब्राह्मण और उपनिषदों की तो गणना हो सकती है किन्तु पुराणों की नहीं। इससे स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य अथवा ईश्वरीय ग्रन्थ कहने से एक ही आशय प्रकट नहीं होता। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत इन ग्रन्थों का भी समावेश कर लिया जाता है जो वेदार्थ को स्पष्ट करने के लिये लिखे गये हैं तथा जिनके द्वारा ऋषियों ने वेद के आशय को खोलने का श्रम किया था। तथापि ईश्वरीय ज्ञान तो केवल उसी अंश को माना गया जो संहिता के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा जिन्हें साधारणतया ऋग्, यजु, साम और अथर्व के नाम से पुकारा जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में ऐसे अनेक वाक्य पाये जाते हैं जिनसे उनका मनुष्यकृत होना विदित होता है तथा यह भी विदित होता है कि इनकी रचना मूल वेदों की सहायता से ही हुई है। इन ग्रन्थों में अनेकत्र वैदिक संहिताओं के मंत्रों को प्रमाण रूप में उद्धृत किया गया है तथा वेदों की भिन्न-भिन्न ऋचाओं को लेकर उन पर टीका तथा भाष्य भी लिखे गये हैं, साथ ही अनेक स्थानों पर ग्रन्थ रूप में वेदों

का पृथकशः उल्लेख भी हुआ है । इसके अतिरिक्त अष्टाध्यायी व्याकरण के रचयिता महर्षि पाणिनि तथा अन्य सूत्र रचयिताओं के वचनों से भी संहिताओं का ही वेद होना सिद्ध होता है । वेदों के भाष्यकारों ने भी संहिता मात्र को ही वेद माना है तथा उन्हें ही ईश्वरीय ज्ञान (या वाणी) बताया है । यूरोपीय विद्वान् भी वेदों का विचार करते समय केवल मंत्रों को ही लेते हैं । उन्हें यदि कुछ संदेह है तो अथर्ववेद की प्राचीनता तथा उसे वैदिक संहिताओं में गिने जाने के सम्बन्ध में है । अतः हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जब हम वैदिक धर्म का उल्लेख करते हैं तो हमारा विचार उस धर्म से है जिसका प्रतिपादन ऋगादि चार मंत्र संहिताओं में है । यद्यपि हिन्दुओं में इस बात को लेकर विवाद है कि वेद या श्रुति का ठीक-ठीक आशय क्या है और पुराण, ब्राह्मण तथा उपनिषदों को भी वेद माना जाये अथवा केवल संहिताओं को ही, तथापि इस बात को सभी हिन्दू मानते हैं कि ऋग्, यजु, साम और अथर्व संहिताएँ ही वेद के नाम से प्रसिद्ध हैं और ये ही ईश्वर प्रदत्त हैं । अतः पुराण प्रतिपादित धर्म चाहे सत्य हो या न हो, किसी भी हिन्दू की दृष्टि में मंत्र (संहिता) प्रतिपादित धर्म मिथ्या नहीं हो सकता और वह यह भी मानता है कि मंत्रों में निहित आज्ञाओं का पालन प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है । हमारी बुद्धि भी यह स्वीकार करती है कि परमात्मा के ज्ञान में पूर्वापर विरोध नहीं होता । अतः यदि यह सिद्ध हो जाये कि वैदिक संहिताओं में प्रतिपादित धर्म तथा अवशिष्ट (ब्राह्मण, उपनिषद् तथा पुराण) ग्रन्थों में प्रस्तुत धर्म में अन्तर है तो हमें मानना पड़ेगा कि ये दोनों (धर्म या ग्रन्थ) ईश्वरकृत नहीं हैं, इनमें से एक अवश्य ही मनुष्य की कृति है । इस सिद्धान्त पर पहुँचने के पश्चात् यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इनमें से किसे मनुष्यकृत और किसे ईश्वरकृत कहें । किन्तु यह स्पष्ट है कि मनुष्यकृत होना उन्हीं पुस्तकों पर लागू हो सकता है जिनके विषय में परस्पर विरुद्ध सम्मति हो । जिन ग्रन्थों को दोनों वर्गों के लोग ईश्वरीय मानें, उनके ईश्वरकृत होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता । इस भूमिका के पश्चात् हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि वेदों का धर्म क्या है और इस विषय में विभिन्न विद्वानों के क्या विचार हैं ?

(15) वेदों का धर्म क्या है ? (हिन्दू धर्मशास्त्रों का मत)

पुराणों और पौराणिक साहित्य को छोड़ कर समस्त शास्त्रकारों का यह मत है कि वेद ईश्वर की एकता (अद्वितीयता) तथा केवल उसी की पूजा का ही प्रतिपादन करते हैं । वेदों में न तो मूर्तिपूजा ही पाई जाती है और न विभिन्न देवी-देवताओं का ही उसमें उल्लेख है । जिन नामों के आने के कारण वेदों में भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं का वर्णन माना जाता है वे सब नाम परमेश्वर के ही भिन्न-भिन्न नाम हैं और उसके विभिन्न गुणों का प्रतिपादन करते हैं । समस्त शास्त्रकारों का मत है कि वेद एकेश्वरवादी हैं जबकि पुराण और पौराणिक साहित्य मूर्तिपूजा तथा अनेक देवी-देवताओं की पूजा का प्रतिपादन करते हैं । वेदों में आये परमात्मा के भिन्न-भिन्न नामों के आधार पर पुराणों में उनकी मूर्तियाँ कल्पित कर उन्हें पूजने की बात कही गई है । हम आगे यह सिद्ध करेंगे कि वेदों में मूर्तिपूजा नहीं है और न ही वेद भिन्न-भिन्न देवताओं के पूजन की आज्ञा देता है । हम यह भी बतायेंगे कि मूर्तिपूजा और बहुदेवपूजा का प्रचलन इस देश में कैसे

हुआ। सम्प्रति तो हम यही बतायेंगे कि निष्पक्ष विद्वानों की दृष्टि में वेदों में कितने उच्च कोटि के ब्रह्मज्ञान की चर्चा है और विभिन्न मंत्रों के द्वारा वेद कैसे दिव्य एकेश्वरवाद की शिक्षा देते हैं।

(16) यूरोपीय विद्वानों का मत—(अ) वेदों में मूर्तिपूजा तथा मंदिरों का उल्लेख नहीं है, (आ) वेदों में ब्रह्मज्ञान की ही शिक्षा है

लगभग सभी विद्वानों की सम्मति है कि वेदों में मूर्तिपूजा और मूर्तियों के लिये मंदिर निर्माण आदि का कोई उल्लेख नहीं है। (द्रष्टव्य—रमेशचन्द्र दत्त लिखित 'प्राचीन भारत का इतिहास' तथा मिस मैनिंगकृत—Ancient and Medieval India आदि ग्रन्थ) बहुत से यूरोपीय विद्वान् यह भी मानते हैं कि वेदों में एकेश्वरवाद की शिक्षा क्रमशः प्रकट हुई है। उनका विचार है कि प्राचीन आर्य पुरुषों ने सर्वप्रथम प्रकृति के नियमों के प्रति आश्चर्य का भाव व्यक्त किया जिससे उनमें इनके मूल कारण ईश्वर का विश्वास उत्पन्न हुआ। उनका आदिम धर्म तो पञ्चभूतात्मक प्रकृति की पूजा करना ही था किन्तु धीरे-धीरे वे प्राकृतिक पदार्थों की पूजा से ऊपर उठ कर जगत् के आदि कारण (परमात्मा) के विचार तक पहुँचे। श्री रमेशचन्द्र दत्त ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक के पृष्ठ 112 पर लिखा है—"हम भली भाँति जानते हैं कि ऋग्वेद का धर्म प्रकृति की पूजा ही है। यथा—आकाश, सूर्य, प्रातःकालीन वायु तथा अग्नि आदि की उपासना।" उनकी सम्मति में वर्तमान हिन्दुओं के प्राचीन पूर्वज इन्हीं देवताओं का गुणगान करते थे और इन्हें ही पूजते थे। अब प्रश्न यह है कि जिन शब्दों से वे (दत्त महाशय) प्रकृति के पदार्थों की पूजा का आशय लेते हैं, वास्तव में उनका क्या अर्थ है ? क्या वस्तुतः वेदों में ईश्वर से भिन्न इन प्राकृतिक जड़ पदार्थों को ही देवता मान कर उनकी पूजा का विधान किया गया है अथवा ये शब्द (अग्नि, वायु, इन्द्र आदि) परमात्मा के ही भिन्न-भिन्न नाम हैं। हमारे पास इतना समय नहीं है कि हम इतिहास तथा संस्कृत भाषा से यह सिद्ध करें कि वास्तव में उपर्युक्त विचारों में पिछला विचार ही ठीक है न कि पहला जिसमें प्राकृतिक पदार्थों को पूजने की बात मानी गई है। तथापि अनेक यूरोपीय विद्वान् इस बात को मानते हैं कि भिन्न-भिन्न नामों से एक ईश्वर की उपासना का विधान ही वेदों में पाया जाता है। उनका कहना है कि वेद में आये स्तुति और प्रार्थना के मंत्रों में किसी एक देवता के गुणों का वर्णन करते हुए मंत्र रचयिता ऋषि ने उसका इतनी भक्ति और पवित्र मन से वर्णन किया है, जिससे जाना जाता है कि उसकी दृष्टि में वही देवता सर्वोपरि था और उसे ही वे एक अद्वितीय परमात्मा कह देते थे।

यही कारण है कि बहुत से विद्वान् वेदों के धर्म को विशुद्ध अद्वैत के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहते। वे वेद प्रतिपादित धर्म को बहु देववादी (Polytheistic) नहीं बतला सकते क्योंकि देवपूजन में देवताओं के भिन्न-भिन्न पद और स्तर होते हैं। तथापि यह स्पष्ट है कि यूरोपीय विद्वानों के मत में वेदों में जहाँ-जहाँ जिस-जिस देवता की स्तुति की गई है, उसे ही सर्वोत्तम गुणों का अधिष्ठान कहा गया है और उसके तुल्य या उससे बड़ा किसी अन्य को नहीं बताया गया। इस विचार को सत्य मान कर प्रोफेसर मैक्समूलर ने वैदिक धर्म के लिये एक नया शब्द

Henotheism गढ़ा जिसका अर्थ है एक से सामर्थ्य वाले अनेक देवताओं का पूजन (द्रष्टव्य : प्रो० मैक्समूलर की पुस्तक– 'भारत हमें क्या सिखा सकता है ?' प्रथम संस्करण, पृ० 145-147) किन्तु वेद की वास्तविक शिक्षा, जिसका उल्लेख प्रो० मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ 44 पर किया है, एक अद्वितीय परमात्मा के सम्बन्ध में ही है और यह ईश्वर-विचार उक्त प्रोफेसर के अनुसार इंजील या कुरान की किसी आयत से कम महत्त्व का नहीं है । इसके लिये ऋग्वेद मण्डल 1 सूक्त 164 का 46वाँ मंत्र द्रष्टव्य है जिसमें कहा गया है कि उस एक परमात्मा का ही वर्णन बुद्धिमान् लोग इन्द्र, अग्नि, यम और मातरिश्वा आदि नामों से करते हैं ।[1]

इसी प्रकार ऋग्वेद मण्डल 10 सूक्त 114 में कहा है कि विद्वान्, ऋषि उस पर परमात्मा का ही नाना शब्दों एवं रीतियों से स्तवन करते हैं ।[2] पुनः इसी मण्डल के 121वें सूक्त में जहाँ परमात्मा को हिरण्यगर्भ कहा गया है, वहाँ उसे सब देवताओं में पूजनीय एकमात्र देव कहा गया है ।[3]

प्रो० मैक्समूलर के अनुसार इससे उत्कृष्ट एकेश्वरवाद का वर्णन तो बाइबिल में भी नहीं है । ऋग्वेद मण्डल 10 सूक्त 82 के दूसरे तथा तीसरे मंत्रों में उस एक, अद्वैत पुरुष का मनोहर रीति से वर्णन किया गया है । इन मंत्रों का अर्थ इस प्रकार है–

10/82/2–वह जो समस्त सृष्टि का कर्त्ता विश्वकर्मा है वह महान् है । वही सबको उत्पन्न करता है, सबका आश्रय है, सबसे परे है, सर्वद्रष्टा है और सप्तर्षियों के स्थान से भी परे है ।[4]

इसी प्रकार इसी वेद के 128वें सूक्त में अत्यन्त सुन्दर तथा आकर्षक वाक्यों में अद्वैत परमात्मा तथा उसकी रचना का वर्णन मिलता है ।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह नहीं समझना चाहिए कि ऋग्वेद के केवल इन्हीं स्थलों में अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन है । कदापि नहीं । समस्त ऋग्वेद, आदि से अन्त तक परमात्मा के अद्वैत स्वरूप, उसके गुणों तथा एकमात्र उसकी पूजा का ही प्रतिपादन करते हैं । ऋग्वेद में पूर्ण रीति से वर्णन है कि परमात्मा अद्वितीय है, उसके गुण भी अद्वितीय हैं तथा अकेला वही पूजनीय है । हमने केवल उन्हीं मंत्रों को प्रस्तुत किया है जो यूरोपीय विद्वानों द्वारा उद्धृत किये गये हैं तथा जिनका अर्थ भी उन्होंने ही किया है । ऋग्वेद में कुल 10 मण्डल हैं और जब प्रथम मण्डल में ही परमात्मा के एक होने का वर्णन यह कहकर कर दिया कि अग्नि, यम और मातरिश्वा आदि उसी के नाम हैं तो यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि यूरोपीय विद्वान् वेदों पर प्रकृति-पूजा का

---

1. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुवर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रां बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥–ऋग्वेद 1/146/46
2. सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ॥–ऋ० 10/114/5
3. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मैदेवाय हविषा विधेम ॥–ऋ० 10/121/2
4. विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संहक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन्परएकमाहुः ॥–ऋ० 10/82/2

आक्षेप लगाते हैं और कहते हैं कि वेदों के ऋषियों को प्रथम प्रकृति का ज्ञान हुआ, तत्पश्चात् वे परमात्मा तक पहुँचे । इसी प्रकार उन्होंने यह भी धारणा बना ली कि वेदों को प्राप्त करने से पूर्व आर्य लोगों को ईश्वर का ज्ञान नहीं था । (यूरोप के पण्डित यह तो मानते ही नहीं कि वेद सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए थे, अपितु उनका तो विचार है कि ऋग्वेद, जिसे वे सर्वाधिक प्राचीन मानते हैं, की रचना आर्य ऋषियों ने पंजाब के मैदानों और वहाँ की नदियों के तटों पर की थी ।) यद्यपि प्रो० मैक्समूलर के ही ग्रन्थ Science of Language के 238वें पृष्ठ पर वर्णन है कि मध्य एशिया छोड़ने से पहले जब आर्य लोग एक ही स्थान पर रहते थे तो परमात्मा को उसी नाम से याद करते थे जैसे आज तक बनारस के मंदिरों में, रोम के पूजागारों में तथा ईसाइयों के गिरजाघरों में उसे याद किया जाता है । (इस स्थान पर परमात्मा के लिये जो अंग्रेजी शब्द प्रयुक्त किया जाता है उसका अर्थ प्रकाश-युक्त एवं जीवनदाता है ।)

(17) वैदिक धर्म पर कोई बाह्य प्रभाव नहीं पड़ा

हम ऊपर एक सर्वसम्मत तथ्य का उल्लेख कर आये हैं कि इतिहास में ऋग्वेद से अधिक प्राचीन और कोई लेख नहीं है । इतना ही नहीं, अपितु यह भी माना गया है कि वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृत से प्राचीन किसी धर्म या भाषा का कोई चिह्न नहीं मिलता और न आगे मिलने की कोई सम्भावना ही है । साथ ही यह भी माना गया है कि वैदिक धर्म और वैदिक भाषा पर बाहर से कोई प्रभाव नहीं पड़ा । (द्रष्टव्य मैक्समूलर की पुस्तक—'भारत हमें क्या सिखा सकता है ?', पृ० 120) वैदिक धर्म से भिन्न संसार के प्रत्येक सम्प्रदाय ने अन्य सम्प्रदायों से कुछ न कुछ सीखा है । ईसाइयों के पुराने नियम-पत्र (Old Testament) से पूर्व इब्राहिम की शिक्षा विद्यमान थी और पुराने अहदनामे में उसे प्रमाण माना गया है । ईसाइयों के नवीन नियम-पत्र (New Testament) से पहले प्राचीन अहदनामा मौजूद था, नया उसके पीछे बना । ईसाइयों की बाइबिल इन दोनों पुराने और नये नियम-पत्रों का संग्रह ही है । मुसलमानों के धर्मग्रन्थ कुरान से पहले इंजील और तौरेत मौजूद थी और कुरान की आयतों में इन दोनों का उल्लेख है ।

ये सभी सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनकी नींव पुराने पैगम्बरों द्वारा दी गई शिक्षा पर है, किन्तु इन सबके पहले वैदिक धर्म विद्यमान था । ईसाइयों की बाइबिल से तो बौद्ध धर्म भी प्राचीन है । इसलिए कुछ आश्चर्य नहीं कि इन धर्मों पर बौद्ध धर्म का भी प्रभाव पड़ा हो और इनमें से कोई धर्म यह दावा नहीं कर सकता कि उस पर बाहर का प्रभाव नहीं पड़ा । बौद्ध धर्म तो वैदिक धर्म का ही पुत्र है । यह दूसरी बात है कि वैदिक धर्म की यह सन्तान एक आज्ञाकारी सन्तान सिद्ध नहीं हुई ।[1] यह कथन चाहे अनेक लोगों को कटु क्यों न लगे, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म की शिक्षा में कोई नवीन सत्य नहीं है और न बुद्ध देव ने ही किसी नई सचाई को कहने

---

1. तुलनीय—स्वामी विवेकानन्द का यह कथन—
 I go forth to preach a religion of which Buddhism is a rebel child.
 मैं उस धर्म का प्रचार करने जा रहा हूँ, बौद्ध धर्म जिसका एक विद्रोही बालक है ।

का दावा किया था । तथापि जो कुछ नयापन इस धर्म में था वह त्रुटिपूर्ण ही था क्योंकि इसी विषाक्त तत्त्व ने भारत को नष्ट कर दिया । अतः हमें जैकालियट के इस कथन पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए जब वह आर्यावर्त को धर्मों का पालना (Cradleland of Faiths) कहता है । उसका भाव यह है कि भारत-भूमि की गोद में ही धर्म और धार्मिक विश्वासों ने पलना सीखा है । सत्य का प्रभाव सभ्य पुरुषों पर धीरे-धीरे पड़ता ही है और वह दिन दूर नहीं जब यह मान लिया जायगा कि संसार में जितने धर्मप्रवाह हैं जो अपने शीतल जल से लोगों के हृदयों को भी शीतल बनाते हैं, वे सब वेदों के अनन्त स्रोतों से ही निकले हैं । इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं कि वेदों से निकले ये भिन्न-भिन्न धर्मप्रवाह पुनः लौट कर उसी भूमि में आये जहाँ से वे निकले थे । यह अवश्य है कि धर्म और मतों के इन विभिन्न प्रवाहों में कालक्रम से अनेक दोषों का भी समावेश हो गया है । तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या ये मत-सम्प्रदाय अपने मूल वैदिक धर्म को भी इन दोषों से दूषित कर देंगे और मनुष्य जाति को धर्म के आदि स्रोत (वेद) से हटा देंगे । इन धर्म-सम्प्रदायों ने अपनी इस लम्बी यात्रा में परिवर्तन के अनेक रंग देखे हैं इसलिये उनकी उत्पत्ति के मूल स्थान का पता लगाना भी कठिन हो गया है । परन्तु यह भी मानना पड़ता है कि मत-सम्प्रदायों के बाह्य रूप कृत्रिम ही हैं अतः जब वे मूल स्रोत के निकट आते हैं तो उनका यह कृत्रिम बाह्य रूप नष्ट हो जाता है । मौलाना हाली ने ठीक ही कहा है—

वह दीने हिजाजी का बेवाक बेड़ा ।
निशां जिसका अक्साय आलम में पहुँचा ।
मजाहम हुआ कोई खतरा न जिसका ।
न अमाम में ठिठका न कुलजम में झिझका ।
किये पैसपर जिसने सातों समुन्दर ।
वह डूबा दहाने में गंगा के आकर ॥

अर्थ—इस्लाम धर्म के जिस जहाजी बेड़े को कोई नहीं रोक सका । जो न अमाम में रुका और न कुलजम में झिझका, वह हालाँकि सातों समुद्रों को पार गया, किन्तु गंगा के समीप आकर वह डूब गया ।

सर एल्फ्रेड लायल ने, पश्चिमोत्तर प्रदेश के भूतपूर्व लैफ्टिनेंट गवर्नर जो संस्कृत विद्या के पण्डित गिने जाते हैं, एक स्थान पर ऐसा ही लिखा है ।

(18) वैदिक काल में राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति

आप यह पूछ सकते हैं कि वैदिक युग में राजनैतिक तथा सामाजिक दशा कैसी थी ? मेरा निजी मत है कि प्रत्येक देश की राजनैतिक और सामाजिक अवस्था उसके धर्म और विचार परम्परा का ही प्रतिबिम्ब होती है । जो मनुष्य एक परमात्मा को ही सर्वोपरि मानते हैं और अपने तथा उसके बीच किसी अन्य को मुक्तिदाता नहीं मानते वे संसार में स्वयं को किसी के अधीन नहीं करते । ऐसे लोग न तो किसी को सर्वथा त्रुटिहीन ही मानते हैं और न यह स्वीकार करते

हैं कि परमात्मा की ओर से किसी एक व्यक्ति को मनुष्य जाति पर शासन करने तथा उसके सर्वस्व का स्वामी बनने का अधिकार मिला हुआ है। एक सच्चा ईश्वरोपासक, जिसका यह निश्चय है कि वह बिना किसी की सिफारिश के, खुद अपने ज्ञान और भक्ति के बल पर ही परमात्मा को प्राप्त कर सकता है और अपने स्वामी ईश्वर के निकट जा सकता है, ऐसा व्यक्ति किसी राजा के विशिष्ट अधिकार को स्वीकार नहीं कर सकता। वह मनुष्यों में इस प्रकार का कोई भेद भी स्वीकार नहीं करता जिसमें किसी श्रेणी विशेष को अन्य लोगों पर शासन करने का अधिकार मिलता हो। यह तो सर्वमान्य बात है कि आज हिन्दुओं में जात-पाँत का जो अन्तर दिखाई देता है वह वैदिक युग में नहीं था। (द्रष्टव्य—प्रो० मैक्समूलर रचित Chips from a German Workshop, भाग 2, पृ० 107 तथा प्रोफेसर लीबर का Indian Literature, पृ० 38, तथा वेलर एवं हण्टर रचित 'भारत का इतिहास') परन्तु हम यह भी जानते हैं कि ऋग्वेद के 10वें मण्डल के अन्तर्गत पुरुष सूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शब्द आये हैं। इसी सूक्त में इन वर्णों की उत्पत्ति दर्शाई गई है। इसके समाधान में हम यह कह सकते हैं कि यहाँ ये शब्द यौगिक हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामों से विशेष गुण-सम्पन्न मनुष्यों का आशय लेना चाहिए न कि किन्हीं विशिष्ट जातियों का। ब्राह्मण और क्षत्रिय शब्द वेदों में अनेक स्थानों पर आये हैं और वहाँ इनसे क्रमशः विद्वान्, बुद्धिमान्, ज्ञानी, वेदवेत्ता तथा बलवान पुरुषों का अर्थ ही लिया गया है।

(19) वैदिक काल की सभ्यता के विषय में यूरोपीय विद्वानों की सम्मति

वैदिक समय का कोई इतिहास हमारे पास नहीं है और न हम किसी ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर उस समय की राजनैतिक तथा सामाजिक दशा को बता सकते हैं। वेदों में जो कुछ वर्णन मिलता है वह आज्ञा अथवा प्रेरणा की शैली में है अतः इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि इससे वैदिक काल की वास्तविक स्थिति का हमें बोध हो सकता है। यूरोप के विद्वान् जो वेदों को ईश्वर रचित नहीं मानते हैं, तथा इनसे इतिहास की सामग्री ही निकालते हैं उनका कथन है कि वैदिक काल के मनुष्य चिंतारहित थे, जीविका वे विभिन्न साधनों—कृषि, व्यापार, पोत संचालन आदि को जानते थे। वेदों के अनेक मंत्रों से तो यह भी ज्ञात होता है कि आज के समान उस समय द्रव्य-मुद्रा का भी प्रचलन था। आज की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक अधिकार प्राप्त थे। वे पर्दा नहीं करती थीं और पुरुषों की ही भाँति शिक्षा प्राप्त करती थीं। पति की मृत्यु के पश्चात् उन्हें दूसरा विवाह कर लेने की आज्ञा भी थी।

(20) ब्राह्मण ग्रन्थों का समय

भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास में वैदिक काल के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों का रचनाकाल आता है। साधारणतया वेदों के दो भाग माने गये हैं—संहिता (मंत्र) भाग तथा ब्राह्मण भाग। हम केवल मंत्र भाग को ही वास्तविक ईश्वरीय ज्ञान वेद स्वीकार करते हैं। ब्राह्मण भाग परवर्ती है और ऋषिप्रणीत है। इनकी रचना भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा हुई और इन्हें चारों वेदों के साथ जोड़ दिया

गया। इस प्रकार चारों वेदों के भिन्न-भिन्न ब्राह्मण हो गये। यूरोपीय विद्वानों के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों की विधियों का वर्णन है। याज्ञिक पण्डितों ने नाना प्रकार के यज्ञ विषयक जो कर्तव्य बताये तथा इन्हें करते समय जो मंत्र पढ़े जाते हैं, उन सबका वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में है। भारत के धार्मिक इतिहास में काल-निर्धारण की कठिनाई यहीं से आरम्भ हो जाती है, क्योंकि किसी भी समय में लिखा गया पूर्ण साहित्य नहीं मिलता। जो उपलब्ध साहित्य है वह भी बहुत पुराना है और इस बीच में पृथ्वी पर भूकम्पों की भाँति अनेक परिवर्तन हुए जिनसे रात और दिन की भाँति अन्तर पड़ता रहा। समय के इन अनर्थकारी परिवर्तनों ने देश के बहुमूल्य कोश को नष्ट किया, स्त्रियों और बच्चों का विनाश किया, यहाँ तक कि विद्याकोशों के तुल्य पुस्तकालयों को नष्ट कर भस्मीभूत किया गया, उन्हें नदियों में प्रवाहित कर दिया गया। हमारे जातीय साहित्य में अनेक ग्रन्थों के उल्लेख तो मिलते हैं, किन्तु उनको आज प्राप्त करना कठिन है। वे कहाँ गये, किस प्रकार नष्ट हुए। जलाये गये ऐसे ग्रन्थों की राख तक नहीं मिली। इन ब्राह्मण ग्रन्थों में भी जो अति प्राचीन थे उनका तो पता तक नहीं मिलता, किन्तु इनमें जो अधिक पुराने नहीं थे उनमें सर्वाधिक प्रामाणिक शतपथ ब्राह्मण है जो यह बताता है कि संहिता काल तथा ब्राह्मणों के समय में कितना अन्तर आ गया था और उस समय भारत की क्या अवस्था थी। प्रो० मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक Physical Religion के पृष्ठ 74 पर लिखा है—"ऋग्वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों के काल के बीच कई शताब्दियाँ व्यतीत हुई होंगी, यहाँ तक कि इस काल में कोई बड़ा व्यवधान दिखाई नहीं देता, तथापि यह कहना सत्य है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के रचयिता वैदिक मंत्रों के वास्तविक अर्थों को बिलकुल भूल गये थे। प्राचीन मंत्रों के जो अर्थ या अनुवाद ब्राह्मणकारों ने किये हैं वे अत्यन्त विस्मयकारक हैं। उनमें यज्ञ का चिन्तन इतना प्रबुद्ध हो गया है कि सर्वत्र यज्ञ ही यज्ञ का विचार मिलता है। यज्ञ प्रणाली में इतनी सूक्ष्मता दिखाई देती है मानो उस समय के विद्वानों को यज्ञ के अतिरिक्त और कुछ विषय सूझता ही नहीं था।"

(21) कर्मकाण्ड, भक्तिकाण्ड और ज्ञानकाण्ड

उक्त प्रोफेसर की उपर्युक्त सम्मति में अवश्य ही सत्य है। वेद के कर्मकाण्ड प्रधान भाग को जितना महत्त्व दिया गया है उसे देखकर हम 'पाहिमाम्' 'पाहिमाम्' कह उठेंगे। वेदों के सरल और वास्तविक धर्म को कर्म की जंजीरों में इतना जकड़ दिया गया था कि एक बार तो उसके लुप्त होने की आशंका हो गई। यही वह समय था जब जन्मगत जाति को रूढ़ता प्राप्त हुई। परन्तु अभी तक वेदों का वास्तविक धर्म भारत से लुप्त नहीं हुआ था। यह तो सत्य है कि मंत्राधारित कर्मकाण्ड को लेकर विद्वानों में मतभेद बढ़ता गया किन्तु उपासना और ज्ञान से सम्बन्धित दार्शनिक विचारों का चिन्तन भी सतत प्रवहमान रहा। अनेक स्वतंत्र चेता ऋषि-मुनि कर्मकाण्ड में इतने लिप्त नहीं हुए थे कि वे भक्ति और ज्ञान को भूल ही जाते। अतः कर्मकाण्ड की सीमित उपयोगिता को अनुभव करते हुए भी उन्होंने भक्ति तथा ज्ञान के चिन्तन से युक्त उपनिषदों की रचना की। मनुष्य के धार्मिक जीवन में कर्मकाण्ड को भी महत्त्व तो मिला, किन्तु उसके नियमों में संक्षिप्तता लाई गई। साथ ही उपासना और ज्ञान को भी महत्त्व प्राप्त हुआ।

यदि हम उस समय की परिस्थितियों पर विचार करें तो पायेंगे कि एक ओर भारत के आर्य वीर स्वदेश में विजयध्वज फहरा रहे थे, पापाचारी शत्रुओं का निग्रह कर रहे थे तो दूसरी ओर उन्हीं के भाई ब्राह्मण बिना जाति को महत्त्व दिये उपासना और ज्ञान के मुक्ताओं का चयन और वितरण कर रहे थे। आर्य गृहस्थी वेदवेत्ता ब्राह्मणों की सहायता से यज्ञ रचाते थे। ऋषि तथा संन्यासी-गण अपने चिन्तन तथा अपनी उपासना के द्वारा वेदों की बहुमूल्य शिक्षाओं को जनसाधारण के लिये प्रस्तुत करते थे। विधिपूर्वक, श्रद्धा सहित तथा पूर्ण आस्था के साथ किये गये यज्ञ-यागादि देश और जाति में धार्मिक एवं सांसारिक उन्नति के भाव भरते थे। आर्य लोग लौकिक उन्नति के साथ धार्मिक उन्नति के महत्त्व को भी समझते थे, अतः उनका जीवन कुछ ऐसे समन्वयात्मक सूत्रों से ग्रथित था जो उन्हें परमार्थ (मोक्ष) की ओर ले जाता था।

(22) जाति की दृढ़ पहचान के लिये वाद-विवाद

वैदिक काल तथा ब्राह्मण एवं उपनिषदों के काल में भारी अन्तर है। इन परवर्ती ग्रन्थों में वेद के अर्थों को लेकर पर्याप्त विवाद पाया जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक संस्कृत तथा परवर्ती ब्राह्मण एवं उपनिषदों की संस्कृत में इतना अन्तर आ गया था कि शब्दों के अर्थों को लेकर विद्वानों में विभिन्न मत बनने लगे। वैदिक धर्म में जाति या वर्ण को जन्माधारित नहीं माना जाता था परन्तु ब्राह्मणों एवं उपनिषदों में एक विचित्र विवाद देखा जाता है। श्रुति को जानने वाले तथा यज्ञकर्ता ब्राह्मणों का यह आग्रह था कि वे सबसे श्रेष्ठ समझे जावें। उनके कार्य, अधिकार और कर्त्तव्य को पैतृक माना जाये तथा उन्हें सदा के लिये ब्राह्मण स्वीकार किया जावे ताकि वे अन्य वर्णों के गुरु तथा स्वामी माने जावें। उन्हें ही वेदों के अध्ययन, उसके अर्थ करने, यज्ञ करने-कराने तथा विद्या प्राप्त करने का अधिकार रहे। दूसरी ओर आर्यों का क्षत्रिय वर्ग ब्राह्मणों को इतना ऊँचा स्थान देने के लिए तैयार नहीं था। उनका कहना था कि वेद और ब्रह्म का विचार किसी वर्ग विशेष का एकाधिकार नहीं है। वेद के पढ़ने और उसके द्वारा आत्मोन्नति करने का अधिकार उन सभी को है जिसमें इसकी पात्रता है। जो इस विषय को जानता है उसे अन्यों को जनाना चाहिए। उपनिषदों के रचनाकाल की समाप्ति तक यह द्वन्द्व चलता रहा। राजा जनक से हुए अन्य ऋषियों के उपनिषद् वर्णित संवाद यह बताते हैं कि ब्राह्मण लोग अपने उपर्युक्त ध्येय की प्राप्ति में सफल नहीं हो सके थे। परिणाम यह निकला कि लोग कर्मकाण्ड से विरत होकर आध्यात्मिक चिन्तन की ओर उन्मुख हुए। कर्मकाण्ड के विरोध में एक विचार-प्रवाह चला पड़ा जिसने भक्तिकाण्ड को भी व्याकुल कर दिया। एक ओर ब्राह्मणों ने अपनी उच्चता स्थापित करने के लिये यत्न किये तो दूसरे लोगों ने मनुष्य-मनुष्य में जातिगत (जन्मगत) भेद करने को अनुचित माना।

(23) ब्राह्मण ग्रन्थों के काल की सामाजिक और राजनैतिक स्थिति

उस समय की राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति का चित्रण हमें रामायण और महाभारत में मिलता है। रामायण का सामाजिक परिवेश समष्टिगत स्वर्ग का दृश्य प्रस्तुत करता है। सचमुच

उस समय का भारत स्वर्गोपम था । वह धरा कर्मभूमि के साथ-साथ धर्मभूमि भी थी । प्रत्येक मनुष्य—माता, पिता, पुत्र या पुत्री, पति या पत्नी, राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य सभी अपने कर्त्तव्यों को जानते थे और उन पर आचरण भी करते थे । सारे देश में आर्यों का राज्य था । मनुष्य मात्र की स्थिति अच्छी थी । वे निश्चिन्त होकर स्वकर्म पालन करते थे । पश्चिमोत्तर का वर्तमान अफगानिस्तान और सम्भवतः कुछ तुर्किस्तान भी आर्यों के अधिकार में था । भारत में धन का भण्डार था, सर्वत्र समृद्धि थी । न तो परकीय आक्रमणों का भय था और न किसी अन्य जाति की चिन्ता । सभी वर्णों के लोग स्व-स्व कर्त्तव्यों के पालन में लगे थे । जन्मगत जाति के विचार अभी रूढ़ नहीं हुए थे । प्रत्येक मनुष्य स्वधर्म और स्वभाव के अनुकूल देश और समाज के हित में लगा था । यह वह समय था जब शस्त्र विद्या के आचार्य द्रोण जैसे गुरु थे, भीम, अर्जुन, युधिष्ठिर और कर्ण जैसे योद्धा धनुर्धर थे । उधर शास्त्रों के तत्त्व को जानने वाले भीष्म जैसे क्षत्रिय भी थे । इसी अवधि में लक्ष्मण और भरत के तुल्य भाई, राम जैसे पुत्र तथा सीता जैसी महीयसी देवियाँ उत्पन्न हुईं । इसी समय में पाणिनि जैसे वैयाकरण उत्पन्न हुए जिनके समक्ष वाणी मानो करबद्ध खड़ी रहती थी । यदि उस युग में अकेले पाणिनि ही उत्पन्न हुए होते तो वही संसार में अपना नाम प्रसिद्ध करने के लिये पर्याप्त थे । कारण कि संसार में उनके जैसा व्याकरण का रचयिता और प्रवक्ता दूसरा उत्पन्न नहीं हुआ । किन्तु ब्राह्मण एवं उपनिषदों का काल केवल पाणिनि के कारण ही विख्यात नहीं है । विद्या के अन्य विभागों में भी उस समय उच्च कोटि के विद्वान् जन्मे थे । ज्योतिष, गणित, संगीत, दर्शन आदि विद्याओं के जानकार भी एक से बढ़-कर एक थे । अन्य सबको छोड़ दें तो क्या यह कहना ही पर्याप्त नहीं है कि मात्र उपनिषदों के रचयिताओं ने ही इन ग्रन्थों का निर्माण कर अपने देश के नाम को चिरस्मरणीय बना दिया है । उपनिषद् क्या हैं, मानो ब्रह्म-विद्या के आकर हैं । इनका एक-एक वाक्य बहुमूल्य है जिसकी तुल्यता संसार के किसी साहित्य में नहीं है । इनके छोटे, संक्षिप्त वाक्य उज्ज्वल रत्नों की भाँति संसार को प्रकाशित करते हैं तथा अपने ज्योतिकणों से आत्मा के अज्ञानान्धकार को दूर करते हैं । व्याकुल मन तथा संसार से विरक्त मन को अमृतदान कर उसे शीतलता और शान्ति प्रदान करते हैं ।

अब यदि कर्मकाण्ड के क्षेत्र की ओर देखें तो यहाँ भी अद्वितीय मेधावी लोग दिखाई पड़ते हैं । कल्पसूत्र ग्रन्थ भी अद्भुत हैं जो मनुष्य जीवन के आरम्भ (गर्भाधान) से लेकर मृत्यु पर्यन्त व्यक्ति को धर्मानुसार चलने और मर्यादापूर्ण जीवन व्यतीत करने की विधि बताते हैं । निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उस युग के आर्यगण आत्मा-परमात्मा का सुगूढ़ चिन्तन करते हुए परमानन्द की स्थिति में थे । सबके चिन्तन का आधार वेद था । वैयाकरण हो या गणितज्ञ, धर्म-शास्त्रवेत्ता हो या उपनिषदों का रचयिता—सभी वेदों की सहायता से ही स्वबुद्धि का प्रकाशन कर रहे थे । उस समय जो कुछ लिखा गया, किया गया, निर्मित हुआ, वह सब वेद का आश्रय लेकर ही हो सका । चारों वर्णों के लोग वेदों का आश्रय लेकर तथा स्वकर्म निरत रह कर संसार-सागर से पार जाने का यत्न करते थे ।

ऋषि, महर्षि, विद्वान् और ज्ञानीजन वेदों के अर्थों को लेकर विवाद तो करते थे किन्तु वेदों के विरोध करने का कोई साहस नहीं करता था । वर्ण व्यवस्था को स्थिर रखने का प्रयत्न भी हो रहा था किन्तु अभी तक उसमें लचकीलापन था । गुण-कर्मानुसार निम्न समझे जाने वाले लोग ऊँचे उठ जाते थे और इसी प्रकार उच्च वर्णस्थ नीचे आ जाते थे । शूद्र की सन्तान अपने श्रेष्ठ कर्मों के कारण ब्राह्मण पद प्राप्त करती थी और ब्राह्मणों की सन्तानें कर्मभ्रष्ट होकर शूद्रत्व को प्राप्त करती थीं ।

(24) दर्शन का बल

उन्नति और अवनति, वृद्धि और हानि का युगपत् सम्बन्ध है । लोग बुद्धि को अपना कर बंधनों से छूटने का यत्न करते हैं । कर्मकाण्ड की जकड़न से त्रस्त लोग विभिन्न जटिल रूढ़ियों और संस्कारों के प्रति शंका करने लगते हैं और जब उनका समाधान नहीं होता तो वे इन बंधनों को तोड़ने के लिये उत्सुक होते हैं । वर्णों का विभाजन जब जन्म पर आधारित होने लगता है तो लोगों को इनके विधायक धर्मशास्त्रों से घृणा होने लगती है । उस समय ऐसे अनेक वाद-विवाद पैदा हुए । कर्मकाण्ड में आस्था रखने वाले लोगों को इनके दृढ़ बंधन में बाँधे रखना चाहते थे और वे इन्हें थोड़ा भी शिथिल करने के लिये तैयार नहीं थे । विधि-विधान और नियमों के बंधन दिन-प्रतिदिन कड़े किये जाते, उधर ज्ञान में रुचि लेने वाले इन्हें तोड़ने की चेष्टा करते । भक्ति मार्ग में रस लेने वाले ईश्वरीय प्रेम में लीन होकर प्रभु भक्ति के ऐसे पदों का उच्चारण करते थे जिनसे जीव और परमात्मा के मिलन का रास्ता खुलता था । इन दार्शनिक वाद-विवादों से लोग चिंतित थे, उधर परिवर्तन की इच्छा भी उग्र हो रही थी । अर्जुन की गीता में चित्रित किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता आर्य जाति की सामान्य मनोदशा समझी जा सकती है । उस समय भगवान् कृष्ण ने वेदों के धर्म को व्यावहारिक रूप देकर उसे समझाया था । महाभारत की कथा से भी यह स्पष्ट होता है कि उस समय के लोग मूल वेदों को छोड़ कर वेदों के अनुवर्ती शास्त्रों की शरण लेने लगे थे । वेदों के स्थान पर उन्हीं का आश्रय लेकर रचे गये ग्रन्थ वेदों के तुल्य अथवा उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाने लगे । धर्म के आदि स्रोत का आश्रय लेने के स्थान पर उससे ही निकले निर्झरों और कुल्याओं का आश्रय लिया जाने लगा था । परमात्मा के अपरिमित ज्ञान-भण्डार से शिक्षा और पथ्य ग्रहण करने की अपेक्षा मनुष्यों द्वारा स्थापित ज्ञान कोशों की ओर लोगों का आकर्षण बढ़ा । धर्म रूपी तृष्णा को शान्त करने के लिये ईश्वरीय वाक्यों की अपेक्षा मानवीय कथन का सहारा लिया जाने लगा । भाषा में भी कृत्रिमता आने लगी । निरुक्तकार यास्क व्युत्पत्ति-शास्त्र के आधार पर वेदों के वास्तविक आशय को पकड़ने की प्रेरणा देते थे, किन्तु भाषा का सहज प्रवाह बिना किसी मर्यादा को स्वीकार किये स्वतंत्ररीत्या प्रवाहित होने लगा था । अब लोगों का विचार बनने लगा कि ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों को भी वेदों के तुल्य ही महत्त्व मिले और उपनिषदों को वेदों का सार तथा वेदों का अन्तिम प्रतिपाद्य स्वीकार किया जाये ।

(25) षट् शास्त्र

आर्य वंश के धर्म और भाषागत परिवर्तनों की इस स्थिति में सांख्यकार कपिल उत्पन्न होते हैं और मानवी बुद्धि को जागृत करते हैं। वे यद्यपि वेदों के दायरे से बाहर नहीं जाते किन्तु बुद्धि की उड़ान को खुली छूट देते हैं। उनका अभिप्राय इतना ही है कि मनुष्य अपने चिन्तन को पूर्ण स्वतंत्र बनाये किन्तु वेदों के आश्रय का भी त्याग न करे।

न्याय और वैशेषिक दर्शनों के रचयिता ऋषि भी ज्ञान और भक्ति के मार्ग पर चलने वालों के लिये साधन प्रस्तुत करते हैं तथा ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिये स्व-स्थापित सिद्धान्तों में प्रवेश करने की प्रेरणा देते हैं किन्तु वेदों की मर्यादा का अतिक्रमण करने के लिये किसी को नहीं कहते। इन दर्शनों की शिक्षाएँ ऐसी हैं मानो ये मनुष्य को विचार और चिन्तन के क्षेत्र में विचरने की पूर्ण स्वतंत्रता तो देती हैं किन्तु वैदिक मर्यादा के भीतर ही अपने चिन्तन को सीमित रखने के लिये भी कहती हैं। यह सब ठीक था, किन्तु इन दर्शनों का बौद्धिक पक्ष भी वेदों के समकक्ष नहीं था। आगे चल कर दर्शनकारों के अनुवर्ती विद्वानों ने वेदों की मर्यादा को भी ओझल कर दिया। उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये विचारों की अवहेलना आरम्भ हो गई, यहाँ तक कि ईश्वर के अस्तित्व पर भी आक्षेप किये जाने लगे।[1] परिणाम यह हुआ कि धार्मिक क्षेत्र में कोलाहल और अशान्ति फैलने लगी। धर्म के स्थान पर केवल शुष्क दार्शनिक वाद-विवाद के लिये ही अवकाश रहा।

(26) महात्मा बुद्ध का आविर्भाव

इस अशान्ति और कोलाहल के समय में एक राजपुत्र ने गृहस्थ को त्याग कर ज्ञान की तलाश में जंगल का मार्ग ग्रहण किया और दीर्घकालीन तपस्या से यह निष्कर्ष निकाला कि केवल तप या कर्म के द्वारा मनुष्य की आत्मा को शान्ति प्राप्त नहीं होती। उन्हें समस्त संस्कार, जीवन-यापन की विधि, यहाँ तक कि भक्ति का मार्ग भी निरर्थक लगा। उपनिषदों तथा षट् दर्शन भी उन्हें शान्ति नहीं दे सके। अन्ततः उन्हें ज्ञान हुआ कि संसार में न कोई धर्म है और न कर्म। धर्म के तत्त्व को सिखाने वाला भी कोई नहीं है और कर्म के फलदाता को मानना भी अज्ञान है। विचार करके देखें तो यहीं से महात्मा बुद्ध की शिक्षा का आरम्भ होता है। उन्होंने वैदिक कर्मों और भक्ति के स्थान पर सदाचरण को महत्त्व दिया। उन्होंने उस कर्मकाण्ड का निषेध किया जिसे पूरा करने में मनुष्य अपनी आयु के एक बड़े भाग को नष्ट कर देता है। साथ ही उन्होंने ईश्वर-भक्ति का भी निषेध किया। उनकी दृष्टि में प्रचलित धर्म के तत्त्वों का भी कोई महत्त्व नहीं है। जब कोई उनसे पूछता कि मनुष्य के निर्माण के विधायक तत्त्व कौन से हैं अथवा जीवन की समाप्ति के पश्चात् मनुष्य की क्या स्थिति होगी, तो वे इन प्रश्नों का उत्तर देने में अपनी असमर्थता प्रकट करते। बुद्ध की शिक्षा में आत्मा, परमात्मा, धर्म, कर्म, ईश्वर-भक्ति, ईश्वर-

---

1. सांख्य और पूर्वमीमांसा के परवर्ती विद्वानों ने इन दर्शनों को अनीश्वरवादी बना दिया।

प्रेम, दर्शन और ज्ञान के लिये भी कोई स्थान नहीं है। उनकी शिक्षा का सार तो बस इतना ही है कि मनुष्य संसार में भलाई करे, बुराई से बचे, अपनी वासनाओं को कम करे, यहाँ तक कि उन्हें मार दे। वासना का लेश मात्र भी उसके हृदय में न रहे अन्यथा उससे जीवन की पुनरुत्पत्ति सम्भव है। इस शिक्षा का फल यह निकला कि बुद्ध के उपदेशों में जात-पाँत का कोई विचार स्वीकार नहीं किया गया। उनकी शिक्षा आरम्भ से ही जात-पाँत के बंधनों से मुक्त थी। उनके समीप ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब समान थे। हर एक को नेकी करने और बुराई से बचने का अधिकार था। इच्छाओं को मार कर निर्वाण-प्राप्ति का, यत्न करने का सबको पूरा अधिकार था। एक मनुष्य को दूसरे से ऊँचा बनाने के लिये बुद्ध ने किसी प्रकार के संस्कार तथा कर्त्तव्य को स्वीकार नहीं किया।

जब बुद्ध की शिक्षा आत्मा का उपदेश ही नहीं देती थी तो वहाँ परमात्म ज्ञान के लिये अवकाश ही कहाँ था ? सत्य तो यह है कि महात्मा बुद्ध ने इन प्रश्नों को समाधान के योग्य ही नहीं समझा बल्कि इन्हें अशान्ति उत्पन्न करने वाला मान कर मनुष्यों को दार्शनिक विचारों से विमुख किया।

(27) बुद्ध की शिक्षा का प्रभाव

(अ) धार्मिक प्रभाव : मनुष्यों को समस्त धार्मिक बंधनों से स्वतंत्र कर उन्हें समान स्तर पर लाने और नेक बनाने का उपदेश देना ही महात्मा बुद्ध की विशेषता थी। यह तो असम्भव ही था कि उनके व्यक्तिगत जीवन की प्रबल आकर्षण शक्ति, शिक्षा में सरलता तथा नेकी करने का उपदेश अकारथ जाता। धार्मिक प्रश्नों से व्याकुल अशान्त आत्माओं को महात्मा बुद्ध की सीधी-सादी शिक्षा में आकर्षण का अनुभव हुआ। समस्त दार्शनिक जटिलताओं, आत्मा-परमात्मा की जटिल गुत्थी, विगत और भावी जन्म के रहस्यों तथा पाप और पुण्य के अच्छे-बुरे फल के विचार को छोड़ कर व्याकुल आत्माओं ने बुद्ध के धर्म को (यदि हम इसे धर्म कहें) अपनाया। जिन शक्तिशाली और बुद्धिमान् लोगों ने अपनी योग्यता के बल पर राजाओं के राज्य छीन लिये थे वे अब बुद्ध की शिक्षाओं से अनुप्राणित होकर बौद्ध धर्म को अंगीकार करने लगे तथा उसके प्रचार में तत्पर हुए।

(आ) राजनैतिक प्रभाव : पर्याप्त समय पूर्व इस देश में आन्तरिक अशान्ति के बढ़ने पर अन्य देशों के योद्धाओं को आर्यावर्त पर आक्रमण करने का साहस हुआ था। भारत के इतिहास में बाहर के लोगों का प्रथम आक्रमण धार्मिक अशान्ति के इसी काल में हुआ था और इसका असर उत्तर के पर्वतीय प्रदेशों तथा सिंधु नदी के तटों तक सीमित रहा था। दूसरा राजनैतिक युद्ध भी इसी समय हुआ। सिकन्दर महान् अपनी सेना लेकर भारत पर चढ़ आया परन्तु अभी भारत के स्वतंत्रचेता नागरिकों में दुर्बलता नहीं आई थी। चाहे उनकी आत्मा कतिपय कारणों से अशान्त थी किन्तु उनमें शारीरिक बल भी था, अतः देशहित, धर्महित तथा स्वतंत्रता की रक्षा के लिये उन्होंने आक्रमणकारी का सामना किया और सिकन्दर की आक्रामक सेना के वेग

को सतलुज नदी के तट पर ही रोक दिया। परकीयों के ये राजनैतिक हमले सतलुज के इस ओर नहीं आये, वहीं पर समाप्त हो गये, किन्तु देश की आन्तरिक दशा सन्तोषप्रद नहीं रही।

(28) बौद्ध धर्म की राजनैतिक शक्ति

महात्मा बुद्ध के प्रचार तथा उनके शिष्यों एवं प्रचारकों के प्रयत्नों से उनके अनुयायी भिक्षु-गण सीधा और सच्चा जीवन व्यतीत करने लगे। इसका अपना प्रभाव तो पड़ा ही, जो कमी रही उसे राजबल ने पूरा किया। नई शिक्षा के उत्साह तथा जीवन को पवित्रता के मार्ग पर ले चलने की इच्छा ने लोगों को इस ओर आकर्षित किया और इसके फलस्वरूप भारत का धार्मिक वायु-मण्डल तो बौद्ध धर्म से प्रभावित हुआ ही। यहाँ की राजनीति को भी उसने प्रभावित किया। आर्यावर्त देश मानो बौद्धों की राजधानी ही बन गया और कुछ समय के लिये उसका अद्‌भुत प्रकाश फैल गया। बुद्ध की शिक्षा हिमालय के तुषारावेष्टित शिखरों से पार पहुँच गई, पंजाब की गहन गम्भीर नदियों को भी उसने पार कर लिया, यहाँ तक कि समुद्र की लहरें भी उसे नहीं रोक सकीं। राजनैतिक शक्ति के कारण धर्म की भी वृद्धि हुई और धर्म राजनीति का अनुवर्ती हो गया। बौद्ध नरेशों ने अपनी राजनैतिक प्रभुता को उत्तर में बैक्ट्रिया और चीन के तातार क्षेत्र तक, दक्षिण में सिंहल तक तथा पूर्व में असम तक फैलाया। 500 वर्षों तक बौद्ध धर्म की शिक्षाओं का यौवनकाल रहा और उसका राजनैतिक बल भी उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इस समय शिल्प विद्या की विभिन्न शाखाओं की भी यथोचित उन्नति हुई।

(29) बौद्ध धर्म से हानि

इस धर्मभूमि और वेदभूमि को अनीश्वरवाद की शिक्षा भला कब तक सहन होती। मनुष्य केवल बुद्धि तथा सदाचरण के बल पर ही शान्ति नहीं पा सकता। केवल आत्माभिमान ही मनुष्य के लिये पर्याप्त नहीं होता। जिन लोगों के रोम-रोम में परमात्मा की भक्ति तथा उसका प्रेम रस भरा था वे सदा के लिये अनीश्वरवादी कैसे बने रहते ? अन्ततः बुद्ध की शिक्षाएँ भी पुरानी पड़ गईं, उनके जीवन की आकर्षण-शक्ति समाप्त हो गई। लोगों को यह विश्वास हो गया कि केवल बुद्धि के बल पर मनुष्य को बंधन से छुड़ाने वाली शिक्षा अन्ततः खुद ही नये बंधनों में बँध गई है। पुरातन संस्कारों, रूढ़ियों तथा कर्मकाण्ड से घृणा उत्पन्न कराना बौद्ध मत का उद्देश्य था। किन्तु अब खुद उसमें ही अनेक प्रकार के कर्मकाण्ड पैदा हो गये। शास्त्रों के वाद-विवाद से लोगों को दूर रखना बौद्ध धर्म का दूसरा उद्देश्य था, किन्तु थोड़े समय के भीतर बौद्ध धर्म के शास्त्र भी वर्षाकाल के जीवों की भाँति फैलने लगे और उनमें भी परस्पर वाद-विवाद की स्थिति आ गई। बुद्ध ने आर्यों में प्रचलित जाति-भेद को समाप्त करने की बात कही थी, किन्तु थोड़े समय बाद बौद्धों में वैदिकों से कहीं अधिक ऊँच-नीच तथा श्रेणीगत भेदभाव बढ़ गया। बुद्ध की शिक्षा की भिन्न-भिन्न व्याख्याओं के आधार पर अनेक सम्प्रदाय चल पड़े। इस मत के उपदेशकों और प्रचारकों में मतभेद हो गये। जो लोग आस्तिक थे उनके लिये तो फिर भी परमात्मा का सम्बल था, किन्तु अनीश्वरवादी बौद्धों के पारस्परिक विवादों ने फूट फैलाई। परमात्मा के स्थान

पर बुद्ध की ही पूजा होने लगी । परमात्मा तो निराकार होने तथा असंख्य गुणों का आगार होने के कारण मनुष्यों को उच्च आदर्शों की ओर प्रेरित कर सकता था, किन्तु बुद्ध तो अन्ततः एक मनुष्य ही थे, वे अनन्त तो हो ही नहीं सकते थे । इसलिये जिन्होंने उन्हें ही एकमात्र पूज्य माना उनका पतित होना अवश्यम्भावी ही था । निराकार, अनन्त, अनादि परमात्मा की पूजा के स्थान पर बौद्ध धर्म ने प्रथम देहधारी मनुष्य की पूजा की विधि चलाई जो अन्ततः मूर्तिपूजा में परिणत हो गई । जब पूज्य मनुष्य की मृत्यु हो जाती तो उसके आकार की मूर्ति बनाने की प्रथा चल पड़ी । ईश्वरोपासक आर्य बौद्ध धर्म के कारण मूर्तिपूजक बन गये । आर्यावर्त के इतिहास में मूर्ति-पूजा को आरम्भ करने का दायित्व बौद्ध धर्म पर ही है । उसकी छत्रछाया में मूर्तियाँ बनने लगीं और इनके लिये मंदिर बनने आरम्भ हुए ।

(30) वैदिक धर्म का पुनः उदय

इस समय तक भी वैदिक धर्म पूर्णतया लुप्त नहीं हुआ था । यद्यपि वैदिक धर्मी कुछ काल तक बौद्ध धर्म के प्रभाव के तले दबे रहे किन्तु वे अपनी उद्देश्यपूर्ति में कभी शिथिल नहीं हुए थे । बौद्ध दर्शन के आविर्भाव के पहले ही पतञ्जलि, जैमिनि और व्यास ने उपासना, कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड को आधार बनाकर त्रिविध दर्शनों का प्रचार किया था । इसी प्रकार सांख्य, न्याय और वैशेषिक दर्शन भी ज्ञान से परिपूर्ण थे । उनकी सहायता से वैदिक मतानुयायियों ने बौद्धों के अनीश्वरवादी मत का खण्डन आरम्भ किया । बौद्ध धर्म अनुवायी तो महात्मा बुद्ध तथा उनके महात्मा शिष्यों को पूर्ण पुरुष के रूप में उपस्थित करते थे । उधर वैदिक मत वाले श्री राम और श्री कृष्ण को उनसे भी ऊँचा भगवान् का साक्षात् अवतार ही बताने लगे । वाद-विवाद का नियम है कि तर्कसंगत युक्तियों का अन्त भी परस्पर की तू-तू, मैं-मैं से होता है । बुद्ध तथा वैदिक मतानुयायियों के वाद-विवाद भी यही रूप लेने लगे ।

जहाँ महात्मा बुद्ध की निर्मल छवि उनके अनुयायियों के हृदय में विराजमान थी तो दूसरी ओर वैदिक पण्डितों ने परमात्मा के अवतार लेने की बात की और बुद्ध-प्रतिमा के स्थान पर सर्वसाधारण को अवतारों की मूर्तियों द्वारा आकृष्ट किया । पर्याप्त समय तक ये मूर्तियाँ ही वाद-विवाद का विषय बनी रहीं । वैदिक मत वालों ने वाद-विवाद में जिन शस्त्रों को बौद्धों से छीना था, अब उन्हें वे आत्मरक्षा में प्रयुक्त करने लगे । मूर्तिपूजा बौद्धों का ही हथियार था जो अब वैदिकों (वस्तुतः पौराणिकों) के पास था ।

सर्वसाधारण को अपनी ओर आकृष्ट करने तथा अपने मत को आकर्षक बनाने के लिये पुराणों की कथायें कल्पित की जाने लगीं और इस प्रकार पौराणिक साहित्य की नींव पड़ी ।

(31) बौद्ध धर्म तथा वैदिक धर्म में महासंग्राम

पाठकगण, उपर्युक्त विवेचन से आप यह निष्कर्ष न निकालें कि बौद्ध धर्म का यहाँ प्रचार शान्तिपूर्वक ही हुआ और वह यहाँ से शान्तिपूर्वक ही विदा हो गया । वैदिक धर्म को पराजित करने के लिये बौद्धों ने जैसा महासंग्राम किया था, वैसा ही उसकी यहाँ से विदाई के समय भी

हुआ। इस गृहयुद्ध में सैकड़ों मनुष्यों की प्राणहानि हुई, राजाओं का विनाश हुआ, कुल और परिवार नष्ट हुए। (अनेक लोग स्वदेश से निष्कासित किये गये। महात्मा बुद्ध का यह शान्ति-दायक, जीवन में सदाचार का प्रसारक धर्म चुपचाप शान्त नहीं हुआ। उसे ऐसी विजय भी नहीं मिली थी कि वह वैदिक धर्म का मूलोच्छेद ही कर देता। अन्ततः कई शताब्दियों के पश्चात् वैदिक धर्म ने पुनः सिर उठाया और बौद्धों की अनीश्वरवादी शिक्षा को नष्ट करना आरम्भ किया। आस्तिकता और नास्तिकता का यह जबरदस्त युद्ध था। इसी समय दो महापुरुषों ने जन्म लिया जिनके कारण इस संग्राम का रूप ही बदल गया।

(32) श्री कुमारिल भट्ट और स्वामी शंकराचार्य

ये महापुरुष कुमारिल भट्ट तथा शंकराचार्य थे। शंकर स्वामी के नाम को भारत का बच्चा-बच्चा जानता है। कुमारिल भट्ट ने जैमिनि की पूर्व मीमांसा पर भाष्य लिखा था[1] और शंकराचार्य ने वेदान्त के सूत्रों पर अत्यन्त विद्वत्तापूर्वक टीका लिखी जिससे वेदों का झण्डा ऊँचा उठा। केवल 35 वर्ष की अल्पायु[2] में ही शंकराचार्य ने उत्कृष्ट मेधा का परिचय दिया और देश के एक सिरे से दूसरे तक बौद्ध धर्म को परास्त कर वे परलोकवासी हुए। शंकराचार्य ने उस सम्प्रदाय की नींव डाली जो आजकल 'नवीन वेदान्त' कहलाता है। उन्होंने उपनिषदों को वेदों के अन्तर्गत मानकर उस ग्रन्थ समूह को वेदान्त के नाम से प्रसिद्ध किया और व्यास रचित वेदान्त सूत्रों पर भाष्य भी लिखा। शंकर ने बौद्ध धर्म का खण्डन कर ईश्वरवादी धर्म का प्रचार किया। वे ईश्वर के प्रेम में इतने निमग्न हो गये कि जीव और ब्रह्म की एकता का उपदेश देने लगे। इसमें संदेह नहीं कि उनका दर्शन अत्युच्च तथा मनोहर है। उनकी युक्तियाँ भी आपाततः प्रबल प्रतीत होती हैं किन्तु यदि तत्त्वतः देखा जाये तो जीव-ब्रह्म की एकता धर्म के प्राणतत्त्व को ही समाप्त कर देती है। यदि जीव और ब्रह्म एक ही हैं तो पूजा किसकी और क्यों ? भक्ति किसकी और किससे प्रेम ? कर्मफल के नियम का भी मूलोच्छेद हो जाता है, सृष्टि की प्रबंध-व्यवस्था समाप्त हो जाती है। जीव और ब्रह्म की एकता एक विचित्र दर्शन तो है परन्तु यह धर्म नहीं है। वेदों में भी जीव और ब्रह्म की एकता का कहीं उल्लेख नहीं है। स्वामी शंकराचार्य ने वेदों का आश्रय तो निश्चय ही लिया किन्तु उन्होंने मंत्र भाग को छोड़ कर उपनिषदों को ही वेद मान लिया। परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म तो देश से निकल गया और कुछ समय के लिये वैदिक धर्म का जय-जयकार भी हो गया, आस्तिकता का भी प्रचार हुआ किन्तु वास्तविक वैदिक धर्म का प्रचार फिर भी नहीं हुआ। वेदों का मंत्र भाग न तो लोगों के सामने आया और न इसका आश्रय ही लिया गया। ईश्वरीय ज्ञान और मनुष्य जाति के बीच का पर्दा ज्यों का त्यों रहा। कहने को लोग अपने आपको ईश्वर और वेद का विश्वासी मानने लगे। जब स्वामी शंकराचार्य ही

1. पूर्व मीमांसा पर कुमारिल का यह भाष्य तीन खण्डों में है जिनके नाम हैं—तंत्र वार्तिक, श्लोक वार्तिक तथा टुप टीका।
2. शंकराचार्य ने 32 वर्ष की आयु पाई, यह प्रसिद्ध मान्यता है।

आर्य जाति को वेद संहिताओं के शुद्ध एवं पवित्र स्रोत तक नहीं ले जा सके तो इस महान् कार्य को करने का सामर्थ्य भला अन्य किसमें था। वेदों का मंत्र भाग लोगों की दृष्टि से ओझल ही रहा। जिस वेद प्रतिपादित धर्म को छोड़ने के कारण आर्य जाति की अधोगति हुई थी उससे अद्यापि इस देश के लोगों का पुनः सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका। स्वामी शंकराचार्य तो आधे मार्ग तक चल कर ही रुक गये। इस आधे मार्ग पर चल कर ही उन्होंने ऐसे दर्शन का प्रतिपादन किया जिसमें सूक्ष्म तर्क-वितर्क तथा छिद्रान्वेषण की ही गुंजाइश थी। इस प्रसंग में प्रो० गोल्ड-स्टुकर की निम्न सम्मति उल्लेखनीय है—

"जो लोग धर्मसुधार के कार्य में तो पुरुषार्थ नहीं करते तथापि भारत की राजनैतिक उन्नति की कामना करते हैं, जिनका यह विचार है कि भारतवासियों का धर्म तो चाहे कुछ भी रहे, वे राजनैतिक दृष्टि से एक राष्ट्र बन जाएँ और उन्हें वही अधिकार मिलें जो आज ब्रिटेन के लोगों को प्राप्त हैं।" ऐसे लोगों को उक्त प्रोफेसर खेदपूर्वक याद दिलाते हैं कि आधुनिक समय के देशोन्नति अभिलाषी हिन्दू रोमन साम्राज्य की विनाश गाथा को भूल जाते हैं और इस सत्य को दृष्टि से ओझल कर देते हैं कि जो लोग धर्म से पतित हो जाते हैं उनकी राजनैतिक दशा भी उपहासास्पद हो जाती है। इस प्रकार की कृत्रिम उन्नति के अभिलाषी जनों को स्वामी शंकराचार्य का उदाहरण देने का कोई लाभ नहीं। यह सत्य है कि जिस समय उस महान् सुधारक और दार्शनिक शंकर ने नास्तिकता के उन विचारों से युद्ध किया जो उस समय इस देश में व्याप्त थे, तो उसने खुद भी अनेक सम्प्रदायों और मतों को मान्यता दी थी। जिन लोगों की बुद्धि निराकार परमात्मा को समझने में असमर्थ थी, उन्हें शंकर ने नाना देवी-देवताओं को पूजने की आज्ञा दे दी थी। अतः यदि शंकर जैसे दृढ़ अद्वैतवादी (जो जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण परमात्मा को ही मानते थे) ने बहुदेववाद को स्वीकार कर कहा कि विष्णु और शिव की पूजा अद्वैतवाद के विरुद्ध नहीं है तो क्या आवश्यकता है कि सुधारकगण वर्तमान प्रचलित मतों की आलोचना करें। प्रो० गोल्डस्टुकर उसका निम्न उत्तर देते हैं—"शंकर स्वामी जो भारत के मध्यकालीन विद्वानों में अन्यतम थे, वे उस प्रत्येक पूजा पद्धति के विरुद्ध थे जो वेदानुकूल नहीं थी। एक, अद्वितीय, निराकार, संसार के कारण परमात्मा की उपासना का प्रचार ही उनका उद्देश्य था। अपने वेदान्त भाष्य में उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वैदिक साहित्य में जिन अन्तरिक्षलोकवासी देवी-देवताओं के नाम आते हैं वे आलंकारिक रूप में परमात्मा के ही नाम हैं। उपनिषदों के भाष्य में वे ऐसे देवी-देवताओं को दैत्यों की उपमा देते हैं और उन्हें मानव जाति का शत्रु बताते हैं। परन्तु यह कथन भी सत्य है कि उन्होंने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में मान्य देवी-देवताओं की पूजा को अनुचित नहीं माना था (तथापि यह एक जनश्रुति ही है, जिसका कोई प्रमाण नहीं है) तो इसे भी उनकी निर्बलता का प्रमाण नहीं समझना चाहिए। सम्भवतः यह उनकी एक नीति रही होगी और इसे अपने उद्देश्य की पूर्ति में उन्होंने सहायक समझा होगा। अब एक हजार वर्ष पश्चात् हम स्वामी शंकराचार्य के इस बहुदेववाद की परीक्षा कर सकते हैं और इसकी हानियों को अनुभव कर सकते हैं। यदि यह बहुदेववादी उपासना प्रणाली आगे एक हजार वर्षों

तक और चलती रही तो उससे हिन्दू जाति ही समाप्त हो जायेगी ।"

प्रोफेसर गोल्डस्टुकर के उपर्युक्त शब्द यह स्पष्ट करते हैं कि बौद्ध धर्म से संघर्ष कर स्वयं की उन्नति करने वाले हिन्दुओं ने पौराणिक मत-मतान्तरों का खण्डन न करके कैसी भूल की थी और उनकी इस भूल से आर्य जाति को कितनी हानि उठानी पड़ी है । यदि स्वामी शंकराचार्य उच्च स्वर से इन मत-मतान्तरों का खण्डन करते तो आर्य जाति को यह हानि नहीं होती जो उनके दिवंगत होने के पश्चात् इस देश के वासियों को उठानी पड़ी थी । किन्तु जो लोग जीव और ब्रह्म की एकता के मानने वाले थे वे भला एक परमात्मा की उपासना को क्यों स्वीकार करते । आर्य जाति के भाग्य में यही लिखा था कि वेदों का नाम लेते हुए भी वे वेदों से दूर रहें और इस प्रकार सच्चे आस्तिक भावों से भी दूर ही रहें । हा खेद !

(33) पौराणिक राजनैतिक शक्ति

हम ऊपर लिख आये हैं कि बौद्धों से संघर्ष करते हुए पौराणिकों ने उनके ही धर्म के शस्त्र ग्रहण किये थे । पौराणिक धर्म शंकराचार्य के जन्म से पहले ही प्रबल हो चुका था । इस मत ने व्याकुल आर्य जाति को थोड़े समय के लिये आस्तिकता का प्रकाश दिखलाया और अन्ततः बौद्ध धर्म को देश से निर्वासित कर उसकी राजनैतिक शक्ति भी नष्ट कर दी । कुछ काल के लिये हिन्दू (पौराणिक) धर्म की शक्ति का पुनः प्रसार हुआ और उसने उन सीमाओं तक अपना वर्चस्व स्थापित किया जहाँ तक पहले बौद्ध धर्म पहुँचा था । कुछ समय तक तो वह इन सीमाओं से पार भी चला गया । विद्या और साहित्य के क्षेत्र में इस समय अनेक बहुमूल्य उपलब्धियाँ प्राप्त हुईं जो आज तक हिन्दू जाति की श्रेष्ठता स्थापित करती हैं । विक्रमादित्य के नवरत्न आर्यों की मनीषा के मुकुटमणि हैं । कालिदास और भवभूति के नाम संसार में चिरस्मरणीय हैं । उस समय का ज्ञान और कला भी श्लाघनीय है । यह सब उस आस्तिक विचारधारा का प्रभाव था जो बौद्ध धर्म की पराजय के पश्चात् स्वल्प काल के लिये रही थी ।

(34) पुनः पतन का आरम्भ

स्वर्ण युग की यह झलक अल्पकालिक ही थी । प्रकाश की एक क्षीण झलक चिरस्थायी ज्योति तो नहीं बन सकती । जो जाति या देश पौराणिक ग्रन्थों का अनुगमन करें, जो पौराणिक मिथ्या विश्वासों में फँस जाये, जो पौराणिक चिन्ता से उत्पन्न जात-पाँत की जंजीरों से स्वयं को मजबूती से जकड़ ले, जो अपनी बुद्धि को साम्प्रदायिक चिन्तन के आगे आत्मसमर्पण के लिये मजबूर करे, जो अपनी बुद्धि तथा धर्म भावना को एक जाति विशेष के सर्वथा अधीन कर दे, जो अपने धार्मिक कर्मकाण्ड का अधिकार वर्ग या वर्ण विशेष को ही दे दे, जो विद्वत्ता को त्याग कर बुराइयों को अपना ले, वह जाति या कुल कब तक सुखी और निरापद रह सकता है । इस बार तो हिन्दू जाति को ब्राह्मणों ने ऐसा जकड़ लिया कि वह बाहर के लोगों का बार-बार शिकार होती रही । इस वर्ग ने अपने यजमानों को नाना प्रकार के नियमों और बंधनों में जकड़ लिया । जितने

हिन्दू परिवार उतने ही उनके देवी-देवता । यजमान के हर कार्य को उचित बताने के लिये तंत्र-साहित्य का निर्माण किया गया जो लोगों के प्रत्येक दूषित कृत्य को धार्मिक बताता और शास्त्रों से उसे प्रमाणित भी करता । भला ऐसे लोग कब तक सुखी रह सकते थे । पौराणिक चिन्तन का परिणाम वाम मार्ग के रूप में निकलना ही था । इस सम्प्रदाय का इतना प्रभाव बढ़ा कि महीधर जैसा विद्वान् भी इन विचारों से प्रभावित होकर वेद-भाष्य में प्रवृत्त हुआ और उसने वेदों की वाममार्गी टीका की । हाय, आर्यों का वह महान् वंश जिसने उपनिषदों की रचना की, जिसने अपनी प्रजा के लिये उच्च कोटि का विधि-विधान बनाया, जिसने उत्कृष्ट दर्शन, बीजगणित, रेखागणित, ज्योतिष, संगीत जैसी विधाओं के सूक्ष्म तत्त्व संसार को दिये, जिन शूरवीर आर्यों ने हजारों-लाखों वर्षों तक विदेशियों को आर्यावर्त की ओर झाँकने तक नहीं दिया, वही आर्य जाति, जिसके पतन के युग में भी महान् संस्कृत कवि उत्पन्न हुए, वही आर्य वंश अविद्या रूपी अंधकार के वशीभूत होकर मिथ्या विश्वासों और निर्बल धार्मिक विचारों का शिकार हुआ । कहाँ वैदिक धर्म के अनुयायी आर्य और कहाँ पौराणिक हिन्दू । कहाँ वेदों की पवित्र श्रुतियाँ और कहाँ पौराणिक युग में उत्पन्न तंत्र साहित्य । कहाँ उपनिषदों की सच्ची प्रेमानुभूति से उत्पन्न उपासना और कहाँ वाममार्गियों के कुत्सित क्रियाकलाप । कहाँ रामायण-महाभारत काल की वीरता और कहाँ पौराणिक युग की पहलवानी । सारांश रूप में कह सकते हैं कि वह ऐसा दुखद दृश्य था, जिसे देख कर आँसू बहाने पड़ते थे, हृदय विदीर्ण होता था और हृदय में कम्पन हो जाता था । ईश्वर का नाम स्वतः ही मुख से निकलने लगता था । जो राष्ट्र अपने विधाता से विमुख हो जाता है उसकी यही गति होती है । जैसे इष्टदेव वैसे पुजारी । जी तो चाहता है कि पौराणिक गप्पाष्टक के कुछ नमूने हम दिखावें, तंत्रों के भी कुछ नमूने पेश करें, किन्तु ग्रन्थ का कलेवर बढ़ने का भय है । हम साहसपूर्वक इतनी ही प्रार्थना करते हैं कि जिन लोगों को हमारे कथन पर विश्वास न हो वे कृपया पुराणों और तंत्रों को पढ़ें तब उन्हें हमारे लेख की सचाई पर विश्वास होगा ।

(35) पौराणिक मत और पौराणिक राज्य ने इस्लाम के आगे सिर झुकाया

जिस समय भारत में धर्म सम्बन्धी दुर्बलता व्याप्त हो रही थी उसी समय अरब देश में एक महापुरुष अपने देशवासियों को एक अद्भुत शिक्षा दे रहा था । इस्लाम का वह एकेश्वरवाद मानो एक अग्निप्रवाह था जिसकी प्रचण्डता के समक्ष न तो मूर्तिपूजा टिक सकी और न पारसियों की अग्निपूजा । न मनुष्य पूजा के लिये ही अवकश रहा और न ईसा के सेवा वाले उपदेश के लिये । वह लहर जहाँ-जहाँ गई, वहाँ की सफाई करती गई । रुधिर के प्यासे, अत्यन्त असहिष्णु, कठोर हृदय, कटु वाणी वाले ये लोग एकेश्वरवाद के जोश को लेकर 'दीन दीन' पुकारते देशों को विजय करने के लिए निकल पड़े । आग बरसाते, हरी-भरी भूमियों को अपने घोड़ों के पैरों से रौंदते हुए यूरोप में स्पेन तक और इधर पूर्व में सिंध तक आकर राजपूतों से टकराये । मजहबी जुनून और शहादत की अभिलाषा लिये इन लोगों को देशों को जीतने तथा धन प्राप्त करने का

लालच उत्पन्न हो गया। फिर किसकी सामर्थ्य थी कि वह इस मजहबी आग और दुस्साहस का मुकाबला करता। 'अल्ला हो अकबर' का नारा लगाते हुए ये लोग घरों से यह प्रतिज्ञा करके ही निकलते थे कि या तो वे शत्रुओं पर विजय प्राप्त करेंगे अथवा युद्ध में प्राण देकर स्वर्ग प्राप्त करेंगे। ऐसे वीरों का मुकाबला करना साधारण बात नहीं थी। अरब से भारत तक की विजय-यात्रा में कोई देश उनके सामने टिक नहीं पाया। तलवार के जोर से उन्होंने रास्ते में आने वाले देशों को राजनैतिक दृष्टि से अपने अधिकार में किया। चाहे यह कार्य उन्होंने तलवार के बल पर ही क्यों न किया, उन्हें इन देशवासियों को इस्लाम स्वीकार करने के लिये मजबूर भी किया। बस फिर क्या था ? इस्लाम का यह प्रवाह बढ़ता ही गया। जब ये आक्रमणकारी मुसलमान घर से निकले थे तो गिनती में थोड़े ही थे, किन्तु अब सिंधु तट पर पहुँचते-पहुँचते असंख्य हो गये। वे मरने-मारने का उत्साह रखते थे। यहाँ भी प्रतिरोध करने के लिए उन्हें राजपूत ही मिले जिन्हें लड़ने की शिक्षा तो माँ के दूध के साथ ही मिली थी किन्तु जो धर्म और विचारों की दृष्टि से दुर्बल थे। मुसलमान इतिहासकारों के ग्रन्थ इस बात के साक्षी हैं कि भारत में वीरता और साहस की कमी नहीं थी, कमी तो यही थी कि यहाँ के लोग पाषाणपूजक बन गये थे जो बल-प्रदाता ईश्वरोपासकों के आगे नहीं टिक सके।

भारत पर पहला आक्रमण मोहम्मद बिन कासिम ने सिंध के बंदरगाह देवल पर किया। कई दिनों तक युद्ध होता रहा। हिन्दू अपने मोर्चों पर डटे रहे और बार-बार मुसलमानों को हराते रहे। अन्त में मुसलमानों के मन में विचार आया कि यदि हिन्दुओं के मंदिर की ध्वजा गिरा दी जाये तो ये लोग लड़ना बंद कर देंगे। उन्होंने अपने तीरों से झण्डे को गिरा दिया। मुसलमानों की यह योजना सफल हुई। झण्डे के गिरते ही हिन्दुओं के दिल में कमजोरी आ गई। उन्होंने सोचा कि देवताओं ने हमारा साथ छोड़ दिया है अतः अब लड़ना व्यर्थ है। यह सोच कर उन्होंने युद्धक्षेत्र से भागना आरम्भ किया। केवल देवल का बंदरगाह ही कासिम के पुत्र मोहम्मद के हाथ नहीं आया, हिन्दुओं की दुर्बलता की कुञ्जी भी उसके हाथ आ गई। अब इसी कुञ्जी से उसने अपने मजहब और वंश के लिये भारत के द्वार को खोल दिया। मोहम्मद बिन कासिम आगे बढ़ता है। मुसलमान इतिहासकार लिखता है कि हिन्दू राजा अपने दरबारी ज्योतिषियों की मूर्खता के शिकार होते हैं। ज्योतिषी उन्हें समझाते हैं कि महाराज हमारी विद्या बता रही है कि मुसलमानों के भाग्य के नक्षत्र का उदय हुआ है। निस्संदेह उनकी विजय होगी, अतः लड़ना बेकार है। यह सुन कर न केवल राजपूत वीरों ने अपितु अनेक बार वीर नारियों ने अद्भुत वीरता दिखलाई, परन्तु मुसलमानों के प्रताप के आगे, जो तौहीद (एकेश्वरवाद) के विचारों से प्रेरित था, उनकी एक न चली। इस प्रकार पौराणिक धर्म और हिन्दू राज्य मुसलमानों से पराजित हुआ।

(36) वैदिक संस्कृत पुराणकालीन संस्कृत बनी

इससे आगे की अवस्था का वर्णन करने से पहले यह उचित है कि इस समय के भाषागत परिवर्तन पर भी हम विचार करें। हम पहले लिख चुके हैं कि ब्राह्मण तथा उपनिषदों की भाषा

वैदिक संस्कृत नहीं थी । वैदिक संस्कृत की रचना प्राकृतिक थी किन्तु अब उसमें भी नित्य नये परिवर्तन हो रहे थे । वेदों और उपनिषदों की भाषा में भारी अन्तर आ गया । अतः निरुक्तकार यास्क को यह बताना आवश्यक हो गया कि वेदों में प्रयुक्त अग्नि, वायु आदि नाम परमात्मा के ही हैं । उपनिषद्काल से लेकर पौराणिक युग के अन्त तक भाषा का रूप निरन्तर बदलता रहा । उपनिषद्कालीन संस्कृत और पुराणों की संस्कृत में रात-दिन का अन्तर आ गया । वेदों की संस्कृत अब लौकिक संस्कृत बन गई । भाषागत शब्दों के अर्थों में महान् परिवर्तन हो गया । यह तो सत्य है कि बुद्ध के काल में जनभाषा संस्कृत नहीं थी, वह केवल ज्ञान-विज्ञान की भाषा थी । सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा पालि या प्राकृत थी । बौद्ध धर्म के ह्रास के समय पालि पूर्णतया प्राकृत के रूप में बदल गई । इसके अनेक नमूने संस्कृत नाटकों में मिलते हैं और इसी भाषा में पृथ्वीराज के दरबारी कवि चन्द्र ने अपने काल का इतिहास[1] लिखा है । वैदिक संस्कृत में जो शब्द परमात्मा के लिये प्रयुक्त होते थे वे अब देवताओं के वाचक बन गये ।

वैदिक धर्म और पौराणिक मत में उतना ही अन्तर है जितना वैदिक संस्कृत और पौराणिक संस्कृत में । प्रो० मैक्समूलर अपने ग्रन्थ The Science or Language में लिखते हैं कि नवीन संस्कृत तथा वैदिक संस्कृत में उतना ही अन्तर है जितना वर्तमान इटैलियन तथा लैटिन भाषा में अथवा पौराणिक संस्कृत और वर्तमान देशी भाषाओं में । वस्तुतः इन दोनों का अन्तर कुछ अधिक ही है । अतः यह स्पष्ट है कि जिन विद्वानों ने पौराणिक काल में वेदों के भाष्य लिखे उन्हें वेदों के वास्तविक अर्थों का प्रकाशक नहीं माना जा सकता ।

(37) इस्लाम के काल में हिन्दू धर्म

हम धर्म की यात्रा को देखते-देखते उस काल तक आ गये हैं जब वैदिक ईश्वरोपसना ने पौराणिक देवपूजा और मनुष्य पूजा का रूप ले लिया था । इस पौराणिक आस्तिकता को इस्लामी एकेश्वरवाद ने दबा दिया । लगभग 700-800 वर्षों तक इसका असर रहा जिसके कारण पौराणिक अद्वैतवाद सिर नहीं उठा सका । इस अवधि में हिन्दुओं में अनेक सन्त-महात्माओं ने जन्म लिया जो परिस्थिति और काल-जन्य विकृतियों से बचने का हमें उपदेश देते रहे । सच पूछा जाये तो इन भद्र लोगों के कारण ही उस समय हिन्दू धर्म की रक्षा हुई । तथापि यह भी सत्य है कि इस दीर्घ अवधि में हिन्दुओं की धार्मिक और सामाजिक उन्नति के लिये कोई व्यवस्थित प्रयत्न नहीं किया गया । करोड़ों हिन्दू अनेक कारणों से स्वधर्म को त्याग बैठे । अनेक निम्न जातियों ने अपने धर्म को त्याग कर इस्लाम को ग्रहण कर लिया था । इन्हें ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने अपने जात्याभिमानवश सामाजिक अधिकार देने से वंचित कर रखा था तथा इन्हें सदा घृणा की दृष्टि से देखते थे । इस अपमान से बचने के लिये उन्होंने उस धर्म को अंगीकार किया जहाँ जन्म या कुल के आधार पर किसी को नीच नहीं कहा जाता । अन्य लोगों ने लौकिक प्रलोभनों के कारण स्वधर्म का त्याग किया जबकि अनेक जबरदस्ती और दबाव के कारण मुसलमान बन

1. यह 'पृथ्वीराज रासो' है जो डिंगल (पुरानी राजस्थानी) भाषा में लिखा गया है ।

गये । ऐसे उदाहरण भी पर्याप्त हैं जहाँ लोगों ने पौराणिक मूर्तिपूजा और अंधविश्वासों से दुखी होकर इस्लाम के विशुद्ध एकेश्वरवाद को अपनाया । सारांश यह कि इन सदियों में अनेक कारणों से अपने एक-चौथाई अंश को इस्लाम की भेंट चढ़ा दिया । उस समय के ब्राह्मणों ने इस हानि को रोकने का कोई उपाय नहीं किया । इसके विपरीत उनका प्रयत्न तो जातिगत बंधनों को अधिक दृढ़ करने का ही रहा ताकि थोड़े से संदेह और बहाने से लोगों तो धर्मच्युत किया जाये । यदाकदा जो धर्म-सुधारक आये, उनके प्रयत्न भी अधिक फलदायक नहीं हुए । यह तो हुआ कि धर्म-परिवर्तन की लहर थोड़े समय के लिये थमी । इन्होंने लोगों को क्षणिक सांत्वना देकर स्वधर्म और स्वजाति में रहने के लिये प्रेरित किया ।

(38) मुसलमानी काल में वेदों की तलाश

इस काल में लोग पौराणिक मतों के अनुयायी रहे । असंख्य देवी-देवता कल्पित किये गये जो हिन्दुओं की भिन्न-भिन्न जातियों के आराध्य बने । इस समय लोग विचार-प्रक्रिया से शून्य हो चुके थे । ऐसा समझना चाहिए कि लगभग आठ सौ वर्षों तक तर्क और विचार का बीज भी हिन्दुओं में नहीं रहा । लकीर के फकीर हिन्दुओं ने यही उचित समझा कि जिन्दगी के दिन जैसे-तैसे कटते रहें । सत्य ही है कि जब प्राणों का भय व्याप्त हो और खान-पान के बंधनों को ही सब कुछ मान लिया जाये तो गम्भीर विचारों के लिये अवकाश ही कहाँ रहता है । इस समय तो पठन-पाठन का भी ही कोई प्रबन्ध नहीं था । केवल ब्राह्मण लोग ही धार्मिक कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिये कुछ साधारण संस्कृत पढ़ लेते थे । कहीं किसी ब्राह्मण पुत्र को विद्या की कुछ अधिक लगन हुई तो वह व्याकरण, धर्मशास्त्र अथवा दर्शनशास्त्र में कुछ अधिक योग्यता प्राप्त कर लेता था । इससे अधिक विद्या का प्रचार उस काल के हिन्दुओं में नहीं था । राजधर्म की जरूरतों के कारण हिन्दू लोग फारसी भाषा की योग्यता अवश्य उपार्जित करते रहे, किन्तु वेद और वैदिक साहित्य का तो उस समय लोप सा ही हो गया था । मुसलमानी शासन में केवल दो अवसर ऐसे आये जब लोगों का वैदिक साहित्य की ओर थोड़ा सा ध्यान गया किन्तु ऐसा लगता है कि या तो ब्राह्मणों ने जानबूझ कर वेदों को सर्वसाधारण में प्रकट नहीं किया अथवा वे इनसे अनभिज्ञ ही थे । उस समय सम्राट् अकबर को मत-मतान्तरों की सचाई को जानने की रुचि हुई । उसने भिन्न-भिन्न मतों के ग्रन्थों का अनुवाद करवाया । उसकी यह भी इच्छा थी कि वेदों का अनुवाद भी किया जाये, किन्तु किसी को पता नहीं था कि वेद क्या हैं, कहाँ हैं, उनमें क्या है ? वेदों को समझना और अनूदित करना तो कठिन था अतः वेदों के नाम पर उपलब्ध उपनिषदों का फारसी अनुवाद कराने में ही बादशाह ने रुचि ली । वेदों के न मिलने पर उपनिषदों के इस आधे-अधूरे अनुवाद ने ही संसार के धर्मों की अन्य पुस्तकों पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया । इसी सम्राट् अकबर के प्रपौत्र युवराज दाराशिकोह को उपनिषदों में रुचि उत्पन्न हुई और उसने इस अनुवाद को पूरा किया । दाराशिकोह को उपनिषदों के रूप में एक अमूल्य रत्न ही मिल गया । उसने इन ग्रन्थों पर विचार कर यह निष्कर्ष निकाला कि इनके समक्ष अन्य धर्मग्रन्थ नितान्त महत्त्वहीन हैं । दारा को यदि भारत का राज्य मिलता तो शायद वह संस्कृत के अन्य भण्डारों की भी तलाश

करता किन्तु औरंगजेबी षड्यंत्र का शिकार हो जाने के कारण उसकी मनोकामना धूलिसात् हो गई ।

(39) हिन्दू अद्वैतवाद की नई चाल

अन्ततः भारत में मुसलमानी कट्टरवाद भी हिचकोले खाने लगा और हजरत मोहम्मद का एकेश्वरवाद कब्रपरस्ती, पीरों की सेवा तथा ऐसे ही अन्य मिथ्या विश्वासों में उलझ गया । इस्लाम की धार्मिक अवनति के साथ ही मुसलमानी राज्य की भी हानि होने लगी । संसार रूपी नाटक मंच पर खेले जाने वाला यह अभिनय भी समाप्त होने को आया और शीघ्र ही परदा गिर गया ।

जब मुसलमानी शासन का अन्त होने लगा तो भारत में एक नये प्रकार का अद्वैतवादी दर्शन अस्तित्व में आया । इससे हिन्दू अद्वैत दर्शन को बढ़ावा मिला किन्तु इसे पंजाब और महाराष्ट्र के सिवाय अन्य कहीं सफलता नहीं मिली । महाराष्ट्र में धर्म-सुधार को इतनी सफलता नहीं मिली जितनी पंजाब में ।[1] पंजाब में हिन्दू अद्वैतवाद ने इस्लाम को पूर्ण रीति से दबा डाला । उसने लोगों के हृदय से ही इस्लाम के प्रभुत्व को समाप्त नहीं किया, उसके राजनैतिक अधिकारों को भी छीन लिया । परन्तु यह सुधार भी किसी सुदृढ़ नींव के आधार पर नहीं था और न उसे विद्या और शिक्षा का ही बल प्राप्त था । विद्या से शून्य कोई सुधार चिरस्थायी नहीं होता । अन्ततः हिन्दू धर्म ने इस नये सुधार आन्दोलन को भी दबा दिया और इसे जो सफलता मिली थी वह एक कृत्रिम छटा दिखा कर विलीन हो गई । फलतः हिन्दू समाज पहले के समान एक नये शत्रु के समक्ष असमर्थ और असहाय होकर खड़ा रह गया ।

(40) ईसाई धर्म का आगमन और वेदों की खोज

इस समय ईसाई धर्म ने भारत में शनैः-शनैः अपने पाँव जमाने आरम्भ कर दिये । ईसाई धर्म को विद्या और शिक्षा से सहायता मिली । ईसाई पादरी भी स्वभाव की दृष्टि से मौलवियों से भिन्न थे । जिस समय ईसाई इस देश में आये उन्होंने यहाँ सर्वत्र अंधकार को देखा । यहाँ का धर्म विपत्तिग्रस्त तथा भयानक दशा में था । उन्होंने सोचा कि यहाँ के लोग मिथ्या विश्वासों में फँसे हैं, यों उनमें विश्वास की दृढ़ता भी नहीं है, किन्तु अपनी सीमाबद्ध रूढ़ियों के दुश्चक्र से निकलना उनके लिये अतीव कठिन है । न उनमें ईश्वरोपासना है और न वे इसके मूल तत्त्व को समझते ही हैं । उन्होंने समझा कि जब तक इनमें शिक्षा का प्रचार न हो, नये धर्म को ग्रहण करना उनके लिये असम्भव होगा । इसके लिये यह भी आवश्यक है कि हम लोग उनके धर्म की अभिज्ञता प्राप्त करें और तब उनके धर्म-विश्वासों का मिथ्यात्व उन्हें समझायें । इसी नीयत से पादरियों ने संस्कृत विद्या को सीखने का प्रयास किया । 16वीं सदी के मध्य तक तो उन्हें इसमें थोड़ी भी सफलता नहीं मिली और न कोई ब्राह्मण इन पादरियों को संस्कृत पढ़ाने के लिये राजी

---

1. यह धर्मान्दोलन गुरु नानक द्वारा प्रवर्तित सिख पन्थ था ।

हुआ। किन्तु जब 1559 में एक संस्कृत पण्डित ने अपने धर्म का परित्याग कर दिया तो उसने ईसाइयों को संस्कृत पढ़ाना आरम्भ किया। फिर भी इसमें उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। यहाँ तक कि 1686 में राबर्ट डि नोबिली नामक एक पादरी ने ब्राह्मण के छद्म वेश में संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया और अपनी आयु का बड़ा भाग इसी में लगाया। उसने ब्राह्मण का वेश बनाया, यज्ञोपवीत और चोटी रख ली, चंदन का टीका ललाट पर लगाया और स्वयं को ब्राह्मण घोषित कर अपने सद्यः प्राप्त संस्कृत ज्ञान के बल पर ब्राह्मण धर्म की निर्बलता सिद्ध करने लगा। उसने स्थानीय लोगों में यह प्रचार किया कि लुप्त हुए चतुर्थ वेद (अथर्ववेद) का प्रचार करने के लिये ही वह आया है। इतना परिश्रम करने पर भी उसे वास्तविक वेद प्राप्त नहीं हो सके और न वह इन ग्रन्थों का ज्ञान ही प्राप्त कर सका। उसका कुछ समय इसी प्रकार व्यतीत हुआ। अन्त में 1833 में कामीट साहब ने कर्नाटक (दक्षिण भारत) से यूरोपवासियों को सूचित किया कि न केवल पादरी संस्कृत जानते हैं अपितु वे वेदों से भी अभिज्ञ हैं। उसने पश्चिम को सर्वप्रथम बताया कि वेद चार हैं और ब्राह्मण उन्हें ईश्वरकृत मानते हैं। यही हिन्दू धर्म के सर्वमान्य ग्रन्थ हैं जिनकी आज्ञा सबके लिये माननीय है। उसने यह भी लिखा कि जिन लोगों के पास वेद की पुस्तकें हैं, वे भी इनके अर्थों से अनभिज्ञ हैं क्योंकि वेद की भाषा अत्यन्त प्राचीन है और साधारण संस्कृतज्ञ न इसे पढ़ सकते हैं और न समझ सकते हैं। बिना टीका या भाष्य की सहायता लिये इनका समझना कठिन है। उक्त पादरी ने भी लिखा कि बहुत समय तक तो वेद उन्हें मिले ही नहीं। 1752 तथा 1774 के बीच एक अन्य पादरी ने लिखा, "यद्यपि मैंने संस्कृत भाषा सीख ली है और मैं विद्वानों से इस भाषा में वाद-विवाद भी कर सकता हूँ, किन्तु मैंने आज तक वेदों के दर्शन नहीं किये हैं। सम्भवतः वे लुप्त हो गये हों और उनका नाम ही शेष रह गया हो।" अन्त में अत्यन्त मेहनत और तलाश के बाद, पर्याप्त धन व्यय करके पादरी कामीट को हस्त-लिखित वेद प्राप्त हुए। तत्पश्चात उसने अनेक ब्राह्मणों की सहायता से वेदों के कई विषयों को समझने का यत्न किया तो उसकी आँखें खुल गईं। उसे ज्ञात हुआ कि मूर्तिपूजा के खण्डन में तो वेद ही सबसे बड़े शस्त्र हैं। वह लिखता है, "जब से वेद हमारे हाथों में आये हैं हमने उनमें से ऐसे वचनों को ढूँढ़ निकाला है जो सत्य की शिक्षा देते हैं। इनसे मूर्तिपूजा का विनाश निश्चित है क्योंकि परमात्मा का एक होना तथा उसके वास्तविक गुणों का उल्लेख वेदों में ही है।" कोलब्रुक साहब ने भी एक लेख में लिखा कि पर्याप्त समय तक तो वेदों के अस्तित्व में ही हमें संदेह रहा क्योंकि भारतीय विद्वानों में भी इनकी सत्ता को लेकर संदेह रहा है। यहाँ के लोग भी इनमें वर्णित विषयों से अनभिज्ञ थे।

(41) राजा राममोहन राय और वेद

देश के अनेक भागों में वैदिक मंत्रों का पाठ मात्र होता था, वे लोगों को कण्ठस्थ भी थे, किन्तु उनके अर्थ करने का साहस किसी में नहीं था। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ब्रह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहन राय ने ईसाइयत के आक्रमणों से स्वधर्म को बचाने के लिये वेदों

के प्रमाण दिये और उपनिषदों के अनुवाद प्रकाशित किये । ये अनुवाद वेदों के नहीं थे किन्तु राजा जैसा विद्वान् भी उपनिषदों को ही वेद मानता था । वास्तविक वेदों का न तो उन्होंने विचार ही किया था और न वेदार्थ को समझने जितनी उनकी योग्यता ही थी ।

(42) ब्रह्मसमाज का कार्य

स्वधर्म विषयक अज्ञान का परिणाम यह हुआ कि हिन्दू धर्म को इस्लाम की ही भाँति ईसाइयत का सामना करने में भी कठिनाई आई । लोग धड़ल्ले से अंग्रेजी पढ़ने लगे और होनहार हिन्दू युवक अपने पूर्वजों का धर्म त्याग कर ईसाई बनने लगे । ब्रह्मसमाज ने ईसाइयत के प्रसार को रोकने का कुछ कार्य किया, किन्तु ईश्वरीय ज्ञान की सहायता के बिना उन्हें यथोचित सफलता नहीं मिली । प्रथम तो ईसाई बनने के प्रवाह में ही कोई रुकावट नहीं आई और जिन लोगों ने ब्राह्म मत को स्वीकार किया वे भी आधे ईसाई ही माने गये । इसलिये इस सुधार आन्दोलन का हिन्दू समाज पर कोई उल्लेखनीय असर नहीं हुआ ।

(43) पौराणिक रीति से संस्कृत शिक्षा

पौराणिक पण्डित मसीही धर्म की वृद्धि को नहीं रोक सके क्योंकि उनकी संस्कृत शिक्षा पद्धति ही इतनी दूषित थी कि उससे पढ़ने वालों के सन्देहों की निवृत्ति नहीं होती । यदि पौराणिक पण्डित ठीक रीति से संस्कृत और शास्त्रों को पढ़ते तो यह कब सम्भव था कि रैवरेण्ड कालीमोहन बैनर्जी और पं० नीलकण्ठ शास्त्री जैसे विद्वान् शास्त्रों के जानकार हो कर भी अपने पूर्वजों का धर्म त्याग, इंजील की शरण लेते । संस्कृत शिक्षा की तत्कालीन पद्धति कितनी अधूरी तथा अनिश्चयात्मक थी इसका पता इस बात से लगता है कि हिन्दुओं से ईसाई बने लोगों ने दो पुस्तकें हिन्दू शास्त्रों के विरोध में लिखीं और उनसे ईसाई मत के ग्रन्थ बाइबिल को श्रेष्ठ सिद्ध किया । आजकल यदि कोई पण्डित ऐसा करे तो हम उसे हँस कर टाल देंगे और इस प्रकार के प्रयत्न को घृणा से देखेंगे । किन्तु 1861 में इन लेखों ने ऐसा तहलका मचाया कि एक यूरोपीय विद्वान् को ही इन ग्रन्थों की बेहूदगी सिद्ध करने के लिये आगे आना पड़ा ।

आप यह यकीन नहीं कर सकते कि कोई संस्कृत का विद्वान् कपिल, कणाद को ही नहीं, बल्कि गौतम और जैमिनि को भी नास्तिक कह सकता है ।[1] परन्तु 1861 में इन ईसाई बने संस्कृत के दो विद्वानों ने बड़े साहस से यह सिद्ध किया कि अद्वैतवाद का सिद्धान्त बाइबिल के विभागत्रय और ईसा के चमत्कारों के सामने व्यर्थ और निकम्मा है । ये लेखक अपने हिन्दू भाइयों से अपील करते हैं कि वे स्वधर्म को त्याग कर ईसाई मत की शरण में आवें । मन तो करता है कि इन पुस्तकों के लम्बे-लम्बे उद्धरण देकर यह बताया जाए कि षट्दर्शन तथा उपनिषदों की शिक्षाओं में तेल डालने का यत्न इन लोगों ने किस प्रकार किया है और किस प्रकार प्रो० गोल्डस्टुकर ने उनका खण्डन कर उनकी मूर्खता की हँसी उड़ाई है । परन्तु हमारे ग्रन्थ का

---

1. ईसाई बने मराठी पं० नीलकण्ठ शास्त्री ने 'षट्दर्शनदर्पण' पुस्तक में ऐसे ही विचार प्रकट किये थे ।

कलेवर इसकी आज्ञा नहीं देता । अतः हम यही लिख कर इस प्रसंग को विराम देते हैं कि इस प्रकरण को पढ़ने से हमारे हृदय में महर्षि दयानन्द के कार्य का गौरव अधिक बढ़ जाता है ।

(44) यूरोपीय विज्ञान ने हिन्दू धर्म और पौराणिक दर्शन को आखिरी धक्का दिया

अपनी कथा को आगे बढ़ाते हुए हम फिर उस समय पर चलते हैं जब अंग्रेजी सरकार ने फैसला किया—भारतीयों को अंग्रेजी साहित्य के साथ-साथ यूरोपीय विज्ञान की भी शिक्षा दी जाएगी । ज्यों ही भारतवासियों ने नवीन विज्ञान का अध्ययन किया, पौराणिक विचारधारा को आघात पहुँचा । मुसलमानों और ईसाइयों द्वारा किये गये हमलों से जो कुछ बचा था उसे विज्ञान की शिक्षा ने समाप्त कर दिया । जाति की नींव खोखली होने लगी । हमारे होनहार नवयुवक हमारे ही हाथों से जाने लगे । वे अब हिन्दू धर्म, रीति-नीति तथा स्वदेशी जीवन पद्धति से घृणा कर सामूहिक रूप में धर्म-परिवर्तन करने लगे । विज्ञान पढ़ कर जो ईसाई नहीं बने वे नास्तिक बन गये । जो ईसाई बने वे तो सपरिवार ही भ्रष्ट हुए । उनके कारण उनकी स्त्रियाँ जीवित ही विधवा बनीं, बालक अनाथ हुए और वृद्ध माता-पिता को कष्ट उठाना पड़ा । इस धर्म-परिवर्तन ने माता-पिता को उनके पुत्रों से, स्त्रियों को पतियों से और पुत्रों को पिताओं से अलग किया । हिन्दू समाज में कोलाहल मच गया । सारे देश में दारुण रुदन छा गया । इस हताशा और विपत्ति के समय किसी को कोई युक्ति नहीं सूझी । जिन्होंने धर्म-परिवर्तन नहीं किया, उन्होंने नास्तिकता के विचारों से अपने से बड़ों को पीड़ित किया । उन्हें न बड़ों की लज्जा रही न छोटों के प्रति स्नेह भाव, न किसी का भय और न खुद की प्रतिष्ठा की चिन्ता । सारांश यह कि सारे देश में एक विचित्र कोलाहल मच गया और लोगों के मनों में इच्छा जागृत हुई कि इस निराशा के समय कोई ऐसा महापुरुष पैदा हो जो देश की नौका को विपत्ति के भँवर से पार ले जाये ।

(45) यूरोपीय विद्वानों की भारत के प्रति सहानुभूति

यह प्रबल इच्छा केवल हिन्दुओं के हृदय में ही उत्पन्न नहीं हुई थी अपितु अंग्रेजों में भी ऐसे कई करुणाशील पुरुष थे जिनकी यही इच्छा थी । यह ठीक भी था, क्योंकि हिन्दुओं जैसी महान् जाति को पतन के सागर में डूबते देख कर किसे दया नहीं आती ? जिन लोगों ने उपनिषदों की शिक्षा को जाना था, जिन्होंने हिन्दू धर्म और जाति की पूर्वकालिक उन्नति की झलक देखी थी उनको इस डूबते बेड़े को देख कर दया आना स्वाभाविक ही था । अंग्रेजी शासन के कारण जब यूरोपीय विद्वानों को भारत के पुरातन इतिहास का अध्ययन करने का अवसर मिला तो उन्हें इसमें एक अपूर्व दिव्यता दिखाई पड़ी । सर विलियम जोन्स, प्रोफेसर कोलब्रुक, लार्ड एलफिंस्टन तथा डॉ० म्योर आदि संस्कृतविदों ने प्राचीन भारत के साहित्य की खोजबीन की और उसके अज्ञात भण्डारों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया । परिणाम यह हुआ कि समस्त यूरोप में आर्य जाति के प्रति सहानुभूति जागी । अंग्रेजों ने जान लिया कि जिन लोगों पर शासन करने

आये हैं वे निरे पशु नहीं हैं, जैसा कि हम समझ बैठे हैं। हिन्दू साहित्य और दर्शन ने एकाएक शासकों के मन में हमारे प्रति आदर के भाव पैदा कर दिये।

(46) प्रो० गोल्डस्टुकर की हिन्दुओं के वेदों के विषय में सम्मति

1861 और 1871 के बीच उक्त प्रोफेसर ने हिन्दुओं में मान्य ईश्वरप्रणीत पुस्तकों (वेदों) के बारे में दो-तीन लेख लिखे। वे इतने मूल्यवान तथा उत्तम विचारों से युक्त हैं कि हम उनके अनेक अंशों को अपने पाठकों के लिये प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रोफेसर गोल्डस्टुकर ने 1857 की क्रान्ति के बारे में अपने विचारों को इस प्रकार लिखा—

"इस हलचल के बाद हम (यूरोपीय) कुछ अधिक बुद्धिमान् बन गये हैं और अब जब हम भारत के प्राचीन आश्चर्योत्पादक साहित्य का स्मरण करते हैं तो हमारा मन प्रफुल्लित हो जाता है। अब हम उन अगणित प्रमाणों की उपेक्षा नहीं कर सकते जो हिन्दू जाति की प्रबल बुद्धि तथा उनकी श्रेष्ठ योग्यता की साक्षी देते हैं। हम अब जान गये हैं कि इन लोगों की रीति-नीति, विधि-नियमों में कोई न कोई तत्त्व की बात अवश्य है जिसके कारण कालजन्य भारी परिवर्तनों के होने पर भी वे अद्यापि प्रचलित हैं तथा इस जाति को जोड़े हुए हैं। 1857 की घटनाओं में जिन धार्मिक कारणों को हमने देखा है उन्हें अनुभव कर हम यह मानने लगे हैं कि हिन्दुओं को स्व-मर्यादाओं के पालन में हमें स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए।" इस लेखक ने यह लिख कर 1858 में महारानी विक्टोरिया द्वारा प्रचारित उस घोषणापत्र की ओर संकेत किया है जिसमें रानी ने अपनी प्रजा को धार्मिक स्वतंत्रता देने की बात कही थी।

आगे प्रो० गोल्डस्टुकर लिखते हैं—"भारत की उन्नति में सबसे बड़ी कठिनाई इस देश के लोगों की धार्मिक स्वतंत्रता को लेकर है और अब कोई भी सरकार इससे अचेत नहीं रह सकती। तथापि कोई भी राजनैतिक कानून अथवा बाहर की सभ्यता या धर्म इस प्रश्न का समुचित उत्तर भी नहीं दे सकता। इसलिये यह एक शुभ संकेत है कि हिन्दू विद्वानों के मन में भी इस धार्मिक समस्या के समाधान की इच्छा उत्पन्न हुई है। इसलिये रैवरेण्ड के० एम० बैनर्जी तथा नीलकण्ठ शास्त्री द्वारा लिखे गये उन लेखों पर बहस आरम्भ हो गई है जो उन्होंने हिन्दू धर्म एवं शास्त्रों का विरोध करते हुए ईसाई धर्म के पक्ष में लिखे हैं।" इस प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए प्रोफेसर गोल्डस्टुकर यह सिद्ध करते हैं कि हिन्दुओं द्वारा मान्य ईश्वरीय ग्रन्थ (वेद) ईसाइयों और अन्य मतों के ऐसे ग्रन्थों से किस प्रकार भिन्न हैं। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि जिन लोगों के पास वेदों के तुल्य श्रेष्ठ ग्रन्थ हों, उन्हें ईसाई बनाने का परिश्रम व्यर्थ ही है। वे यह भी कहते हैं कि पादरियों द्वारा जब हिन्दुओं के धर्म-परिवर्तन के प्रयत्न किये जाते हैं तो यह नहीं सोचा जाता कि अन्ततः इसका परिणाम क्या होगा ? यदि कोई मनुष्य किसी धर्म की श्रेष्ठता को समझ कर उसे अपनाता है तब तो इसमें अधिक हानि नहीं है, किन्तु यदि कोई मनुष्य बिना विचार किये ही अपने जातीय धर्म को त्याग देता है तो समझ लो कि वह अपने राष्ट्र की प्रमुख धारा से कट जाता है। जो जाति स्वधर्म का अकारण ही त्याग करती है, मान लो कि वह अपनी जड़ों

को ही काट रही है। प्रत्येक ईश्वरीय धर्म (जो किसी पवित्र पुस्तक पर आधारित है) उस जाति के इतिहास की व्याख्या है जो उस धर्म को ग्रहण किये है तथा जिसे वह जीवन के लिये परमोपयोगी समझती है।

उक्त प्रोफेसर यह भी बताते हैं कि इस सचाई को सिद्ध करने के लिये किसी उदाहरण की आवश्यकता यदि है तो वह ईसाई मत से ही मिल सकती है। ईसाई धर्म यूरोप में फैला और जिन जातियों ने उसे स्वीकार किया उनका वह जातीय धर्म बन गया। कारण कि इन जातियों के पास ईसाई मत को स्वीकार करने से पहले कोई इल्हामी पुस्तक नहीं थी। यहूदियों के पास एक इल्हामी पुस्तक (तौरेत) अवश्य थी। इन लोगों ने अनेक विपत्तियों के आने पर तथा देश से निष्कासित होने पर भी ईसाई धर्म स्वीकार नहीं किया, यद्यपि ईसाइयों ने तौरेत को भी इल्हामी पुस्तक स्वीकार कर लिया तथा अपने इल्हाम का ही एक हिस्सा माना। उक्त प्रोफेसर की सम्मति है कि कोई भी पुस्तक ईश्वरप्रणीत नहीं मानी जा सकती यदि उसकी शिक्षा मनुष्य को उच्च बनाने वाली न हो। उनका विचार यह भी है कि इल्हामी कही जाने वाली प्रत्येक पुस्तक में न्यूनाधिक रूप से ऐसी शिक्षाएँ होती हैं। वे डॉ० बैनर्जी के उक्त लेख से भी यह सिद्ध करते हैं कि वेदों और उपनिषदों की शिक्षा इंजील की शिक्षा से किसी भी प्रकार कम नहीं है। वे यह भी बताते हैं कि आधुनिक समय में हिन्दुओं को क्या करना चाहिए। वे लिखते हैं कि "हिन्दुओं को ईसाई बनाना या पवित्र बाइबिल को अपनी ईश्वरीय पुस्तक मानने के लिये उन्हें प्रेरित करना न केवल मूर्खता अपितु व्यंर्थ है जिससे किसी फल की आशा नहीं की जा सकती।"

"हम यह चाहते हैं कि हिन्दू जाति अपने पुरातन उच्च भाव को प्राप्त करे ताकि वे लोग अपने पूर्वजों की सुयोग्य सन्तान कहलाने के योग्य हों। किन्तु उनको यह योग्यता तब तो कदापि प्राप्त नहीं होगी यदि वे अपने धार्मिक विश्वासों को तिलाञ्जलि देकर अन्य लोगों के अपरिपक्व विश्वासों को ग्रहण कर लें। परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह भी आवश्यक है कि वे अपनी वर्तमान दशा को भली भाँति समझें। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दुओं का शिक्षित वर्ग प्रचलित पूजा पद्धति को पसन्द नहीं करता। तथापि यह बताना आवश्यक है कि अपनी धार्मिक अधोगति के बारे में जो धारणा उन्होंने बनाई है, वह सत्य नहीं है।

प्रत्येक हिन्दू से जब यह पूछा जाता है कि तुम्हारे धर्म का आधार क्या है तो वह वेदों की बात करता है। यह भी ठीक है कि वह कभी-कभी पुराणों या तंत्रों का भी नाम ले लेता है, परन्तु प्रत्येक हिन्दू यह भी मानता है कि ये ग्रन्थ स्वतःप्रमाण नहीं हैं। यदि इन ग्रन्थों की शिक्षा वेदानुकूल सिद्ध न हो तो उन्हें मान्य नहीं किया जा सकता। वेदानुकूल होने से ही वे मान्य होते हैं। दुख तो इस बात का है कि पुराणों की शिक्षा को वेदानुकूल सिद्ध करने में कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जाता अन्यथा प्रत्येक हिन्दू को यह ज्ञात हो जाता कि प्रचलित देवपूजा वेदों के अनुकूल नहीं है। उक्त प्रोफेसर की सम्मति में "वेद ही ऐसी धुरी हैं जिसके चारों ओर भारत के मत-मतान्तर घूमते हैं। उनके अनुसार चाहे कोई दार्शनिक हो, शैव हो या वैष्णव—वेद को सब उच्च मानते हैं। इसलिये पुनः प्रश्न होता है कि वेद क्या हैं ? इसका उत्तर चाहे कितना

ही आधा-अधूरा मिले, उससे यह तो पता चल ही जायेगा कि हिन्दू धर्म सम्बन्धी सारे प्रश्नों का समाधान उनमें ही छिपा है।"

इस भूमिका के पश्चात् प्रो० गोल्डस्टुकर योग्यतापूर्वक सिद्ध करते हैं कि प्राचीन आर्य लोग उपनिषदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रति अत्यन्त आदर का भाव रखते थे। वे वेदों का आशय समझने के लिए इनकी सहायता लेते थे परन्तु इन्हें मंत्र भाग के तुल्य ईश्वर रचित नहीं समझते थे। इनका तो यह भी विचार है कि वास्तव में हिन्दुओं को ईश्वरप्रणीत ग्रन्थ तो केवल ऋग्वेद को ही मानना चाहिए।

(47) प्रो० गोल्डस्टुकर की अपील

अपने इस विवेचन के अन्त में वे हिन्दू विद्वानों से अपील करते हुए कहते हैं कि आप अपने वेदों के पवित्र वाक्यों का संकलन कर संसार को यह दिखाएँ कि हमारे धार्मिक विश्वास और विचार किसी दूसरे धर्म से कम नहीं हैं। उक्त प्रोफेसर यह भी मानते हैं कि यह कार्य अत्यन्त कठिन है परन्तु उनका यह भी कहना है कि कठिन होने पर भी यह अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिये उन्हें विभिन्न प्रान्तों में विद्वानों की सभाएँ स्थापित करना चाहिए जो पारस्परिक विचार-विमर्श से अपने आत्मिक प्रभाव को सारी जाति में प्रसारित करें। ऐसा करके ही हिन्दू विद्वान् अपने पूर्वजों के उस ऋण से उऋण हो सकेंगे जिसे वे शताब्दियों से उतार नहीं सके हैं। प्रत्येक हिन्दू यह जानता है कि उसे अपने पूर्वजों की विरासत इसी शर्त पर मिली है कि उसे पा कर वह अपने धर्मानुकूल कर्त्तव्यों को पूरा करे। आजकल के हिन्दू अपने बाप-दादों की दाय के मालिक बनने का तो दावा करते हैं किन्तु वे उस कर्त्तव्यपालन को छोड़ चुके हैं जो उन्हें इसका वारिस बनाता है। कितने हिन्दू हैं जो आज ब्रह्मयज्ञ करते हैं और अपने धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ते हैं। मनु तथा छान्दोग्योपनिषद् के रचयिता इस यज्ञ को मनुष्य के महान् तीन धर्मों में प्रमुख ठहराते हैं। सच कहें तो आधुनिक काल के हिन्दुओं का अपने धर्मग्रन्थों का ध्यान एक पतले धागे से बँधा हुआ है जो किसी भी समय टूट सकता है। प्रत्येक हिन्दू अपने पितरों का श्राद्ध करना धर्मकृत्य समझता है किन्तु कितने लोग ऐसे हैं जो यह जानते हैं कि प्राचीन ऋषि-महर्षियों और पिता-पितामहों का तर्पण ब्रह्मयज्ञ से ही हो सकता है।

प्रो० गोल्डस्टुकर का कथन है कि महाभारत की एक कथा से हिन्दुओं को यह शिक्षा लेनी चाहिए कि यदि हमारे परिवार का प्रत्येक सदस्य यह जान ले कि अपने पूर्वजों के प्रति उसका क्या कर्त्तव्य है तो अब भी बिगड़ी बात बन सकती है। क्या यह बतलाने की आवश्यकता है कि हिन्दुओं की असावधानी से ही संस्कृत शिक्षा की स्थिति कितनी दुर्दशापूर्ण हो गई है। क्या यह सच नहीं है कि वर्षों के प्रमाद से जो हानि हिन्दुओं ने अपने साहित्य को पहुँचाई है उसका अनुमान लगाना भी कठिन है। ऐसे अनेक बहुमूल्य संस्कृत ग्रन्थ हैं जिनका पता लगाना भी असम्भव है। अनेक ग्रन्थ जो मिलते हैं वे भी नहीं मिलते यदि कुछ यूरोपीय विद्वानों ने उनकी तलाश न की होती। उक्त प्रोफेसर हिन्दुओं से अपील करते हैं, "ईश्वर के लिये अब उठो, अन्य

जातियों ने तुम्हारी धार्मिक दशा पर जो कलंक लगाया है उसे धो डालो । तुम्हारी बुद्धि और श्रेष्ठता के जो चिह्न शेष हैं उनको नष्ट मत होने दो । अपनी प्राचीन और मान्य भाषा के अवशेषों को एकत्र करो, पुस्तकालय और विद्यालय स्थापित करो जिससे दुनिया को यह मालूम हो जाये कि जो जाति स्वयं पर अभिमान करती है, दूसरे भी उसका सम्मान करते हैं ।" ईश्वर करे प्रो० गोल्डस्टुकर की इस अपील को हमारे हिन्दू भाई स्वीकार करें ।

(48) स्वामी दयानन्द सरस्वती का आगमन

जिस समय राजा राममोहन राय वेदान्त तथा उपनिषदों के अनुवादों को प्रस्तुत कर हिन्दू धर्म को ईसाइयत के आक्रमणों से बचा रहे थे, काठियावाड़ के एक औदीच्य ब्राह्मण परिवार में एक बालक का पालन हो रहा था जिसके भाग्य में वैदिक धर्म के प्रचार तथा धर्मसुधार का श्रेय अंकित था । जिस समय झुण्ड के झुण्ड हिन्दू युवक ईसाई बन रहे थे और हिन्दू जाति में कोलाहल मचा हुआ था उन्हीं दिनों में एक दण्डी संन्यासी नर्मदा के तटवर्ती जंगलों में उसी कार्य की सिद्धि के लिये तप कर रहा था जिसके लिये प्रो० गोल्डस्टुकर की अपील थी । जिन दिनों में उक्त प्रोफेसर उपर्युक्त लेख लिख रहा था, उन्हीं दिनों में एक बाल ब्रह्मचारी संन्यासी मथुरा के एक अंध संन्यासी से वैदिक व्याकरण की शिक्षा प्राप्त कर रहा था और अपने आपको उस कार्य के लिये तैयार कर रहा था जो उसे आगे चल कर करना था ।

यह ब्राह्मण बालक तथा दण्डी संन्यासी स्वामी दयानन्द थे और जिस प्रज्ञाचक्षु दण्डी ने उसे वैदिक व्याकरण की शिक्षा देकर पुराणों के खण्डन तथा वैदिक धर्म के मण्डन के लिये तैयार किया, वे थे विरजानन्द सरस्वती । धन्य था वह गुरु और धन्य वह शिष्य जिन्होंने वैदिक धर्म की डूबती नौका को सहारा देकर उसे भँवर से निकाला और हिन्दुओं को अधोगति से उबरने का मार्ग दिखलाया ।

यद्यपि स्वामी जी ने गोल्डस्टुकर के लेखों को नहीं देखा था, क्योंकि वे अंग्रेजी नहीं जानते थे और न उन्होंने उक्त अपील को ही सुना था, परन्तु यदि किसी आर्य सन्तान ने उक्त प्रोफेसर की अपील को हृदय में धारण किया, उसके अभिप्राय को जाना तथा उसको पूरा करने के लिये यत्न किया तो वे स्वामी दयानन्द ही थे ।

स्वामी दयानन्द उस समय उत्पन्न हुए जब हिन्दू लोग मुसलमानी बादशाहत की जीर्ण-शीर्ण इमारत को ठोकर लगा कर भी एक अन्य शक्तिशाली जाति के पंजे में फँसते जा रहे थे । स्वामी जी का पालन-पोषण उस समय हुआ जब ब्रह्मसमाज प्राचीन आर्य धर्म के प्रचार के लिये प्रयत्नशील था और ईसाई मत की जड़ भारत में जमती जा रही थी । स्वामी दयानन्द उस समय तपस्यारत थे जब भारत में आत्मिक और राजनैतिक हलचल से समस्त वातावरण व्याप्त था । स्वामीजी उस समय वैदिक व्याकरण के अध्ययन में रत थे जब पंजाब में नवीन शिक्षा प्रणाली का आरम्भ हो रहा था । वे उस समय कर्मक्षेत्र में उतरे, जब हिन्दुओं की व्याकुल आत्माएँ किसी ऐसे ही महापुरुष के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थीं ।

ऐसी ही आवश्यकता के समय परमात्मा ने उनको यह प्रेरणा दी कि वे वैदिक धर्म की रक्षा करें और भूली-भटकी आर्य जाति को सन्मार्ग पर लायें, मृतप्राय संस्कृत भाषा में नवीन प्राणों का संचार करें और वैदिक साहित्य में नवीन प्रज्ञा को समाविष्ट करें । अतः यह निर्विवाद है कि स्वामी दयानन्द का आगमन वैदिक धर्म, संस्कृत भाषा, वैदिक साहित्य और दर्शन के लिये संजीवनी सिद्ध हुआ ।

दोहा—भारत दुर्दशा को देख कर दयालु को दया आई ।
महर्षि जिसे भेज के दिया यश और पण्डिताई ॥

(49) स्वामी दयानन्द महापुरुष थे

संसार में लाखों मनुष्य नित्य जनमते और मरते हैं । सैकड़ों आत्माएँ नवीन सजधज और शोभा के साथ सृष्टि में आती हैं । उनके जन्म लेने पर अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट की जाती है, संसार के समाचारपत्र उनकी प्रशंसा के गीत गाते हैं और उनके माता-पिता तथा परिवार के लोगों को बधाइयाँ देते हैं । देश के मंदिरों में उनकी आयु-वृद्धि के लिये प्रार्थना की जाती है । बड़े-बड़े धर्मनिष्ठ लोग उनकी सफलता के लिये ईश्वर से प्रार्थना करते हैं । प्रतिक्षण उनकी सुरक्षा के कदम उठाये जाते हैं । प्रतिवर्ष उनकी प्रगति की रिपोर्टें छपती हैं । उनके कार्यों को सृष्टि के अद्भुत कार्यों में गिना जाता है । उनकी उत्पत्ति से ही लोगों के मन में एक अपूर्व आह्लाद पैदा हो जाता है क्योंकि लोगों को उनसे बहुत आशाएँ होती हैं । परन्तु खेद इस बात का है कि ऐसे लोगों में से अधिसंख्य अपने कार्यों से यह सिद्ध कर देते हैं कि उनका जन्म लेना लोगों के लिये प्रसन्नता का हेतु नहीं था । उनमें से अनेक अपने माता-पिता तथा अपने वंश को कलंकित करने वाले सिद्ध होते हैं तथा मानवता से सर्वथा रहित होते हैं । जब वे मर जाते हैं तो संसार को उनकी मृत्यु से कोई खेद नहीं होता अपितु कई लोग तो उनसे इतनी घृणा करने लगते हैं कि उनकी मौत को पृथ्वी का भार दूर होना ही समझते हैं । लोग यही समझते हैं कि धरती से एक बला टली । दूसरी ओर बहुत कम संख्या में ऐसे लोग भी जन्म लेते हैं जिनके आने की दुनिया को खबर ही नहीं लगती । केवल उनके नाते-रिश्तेदारों को ही उनके जन्म का ज्ञान होता है और उनका आविर्भाव संसार के लिये किसी भी प्रकार महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता । ऐसे लोग पर्याप्त समय तक गुमनामी की जिन्दगी ही जीते हैं और इस अप्रसिद्धि में ही जीवन-यात्रा का कुछ भाग व्यतीत करते हैं । वे अप्रसिद्ध रह कर ही मर जाते हैं । उनका जन्म, जीवन और मृत्यु संसार की कोई प्रसिद्ध घटना नहीं मानी जाती । लोगों को पता ही नहीं चलता कि कौन जन्मा और कौन मरा । अनेक ऐसे भी होते हैं जो अप्रसिद्धि की अवस्था में जन्म लेते हैं, इसी अवस्था में शिक्षा ग्रहण करते हैं किन्तु जब युवा होते हैं तो उनकी गणना प्रसिद्ध लोगों में होती है । समस्त संसार में नहीं तो कम से कम एक प्रान्त में तो वे अपना नाम करते ही हैं । जब उनकी मृत्यु होती है तो अनेक लोग उनके लिये शोक करते हैं और उनके गुणों का स्मरण करते हैं । उनका यश थोड़ा स्थायी होता है । किन्तु एक-दो पीढ़ी के बाद लोग उन्हें भी भूल जाते हैं परन्तु किसी समय विशेष पर

ही लोग उन्हें याद करते हैं। इसके अतिरिक्त एक श्रेणी उन लोगों की है जिनकी संख्या अत्यन्त कम है। ये लोग गुमनामी में ही पैदा होते हैं और गुमनामी में ही पलते हैं किन्तु जब कर्मक्षेत्र में आते हैं तो अपनी बुद्धि, अन्तश्चेतना, लगन, योग्यता, मनुष्यत्व तथा वीरता के कारण संसार के लोगों को अपनी ओर खींचते हैं। वे लोग संसार में दृढ़ प्रभाव उत्पन्न करते हैं, लोगों में खुद के लिये आकर्षण पैदा करते हैं। कार्लाइल ने ऐसे मनुष्यों की उपमा अग्नि के स्फुलिंगों से दी है जिन्हें लोग परमात्मा कहते हैं। ऐसे मनुष्य पृथ्वी को प्रकाशित करने के लिये सूर्य तुल्य हैं। वे सूर्य के तुल्य ही यश पाते हैं और संसार को उनसे प्रकाश मिलता है। उनकी मृत्यु मनुष्य जाति के एक सीमित वर्ग के लिये ही नहीं, बल्कि समस्त मानव-जाति के लिए खेदजनक होती है। उनका नाम कभी नहीं मरता और उनका काम कभी नष्ट नहीं होता। उनकी याद कुछ दिनों या कुछ शताब्दियों में भी विलीन नहीं होती, किन्तु वह सदा तरोताजा रहती है। उनके द्वारा फैलाई गई ज्योति एक काल या एक पीढ़ी को ही प्रकाशित नहीं करती, किन्तु उसका प्रभाव सदा के लिए जगत् में रहता है। उनकी कार्यप्रणाली एक वंश या एक समय तक ही स्मरणीय नहीं रहती, अपितु उस पर सदा चर्चा और वाद-विवाद होता रहता है। ऐसे मनुष्यों का आचरण ही संसार में महत्त्वपूर्ण होता है। ऐसे मनुष्य बहुत थोड़े होते हैं। संसार में अन्य लोगों के लिये वे प्रकाशस्तम्भ तुल्य होते हैं। संसार के महावन में वे विश्रामस्थल के समान होते हैं। विश्व के राजमार्ग पर मील के पत्थर तुल्य होते हैं जिन पर यात्रा की मंजिलें अंकित रहती हैं। ऐसे लोग आत्मिक क्षुधातुरों तथा तृषा से व्याकुल पुरुषों के लिए भोजनागार तथा जलाशय के तुल्य हैं। लोग उनके व्याख्यान सुन कर ही अपनी आत्मा का आहार पाते हैं और व्याकुलता को शान्त करते हैं। आप चाहे उन्हें अवतार कहें या पैगम्बर, ईश्वर का स्थानापन्न कोई ऋषि-महर्षि कहें अथवा उन्हें महापुरुष कहकर पुकारें, वे एक ही शिला के खण्ड, एक ही अग्नि के स्फुलिंग, एक ही कारखाने के पहिये और एक ही कल के पुर्जे होते हैं। संसार का कोई भाग ऐसे मनुष्यों के अस्तित्व से खाली नहीं होता। भगवान् कृष्ण, महात्मा बुद्ध, महर्षि व्यास, गौतम, कणाद, जैमिनि, कपिल और पतञ्जलि आदि इसी श्रेणी के मनुष्य थे। स्वामी शंकराचार्य, गुरु नानकदेव, गुरु गोविन्द सिंह भी इसी कोटि के थे। महाराज विक्रमादित्य, सम्राट् अशोक तथा शिवाजी महाराज भी ऐसे ही महापुरुष थे। हमने केवल नमूने के रूप में ये नाम लिखे हैं।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि स्वामी दयानन्द भी इसी श्रेणी के महापुरुष थे। अप्रसिद्धि में जन्मे, उसी रूप में पले, शिक्षा-प्राप्ति तक भी अप्रसिद्ध ही रहे, किन्तु जब कर्मक्षेत्र में आये तो जीवनपर्यन्त सिंह की तरह गरजते रहे। स्वामीजी ने एक पुरातन जाति को मृत्यु की स्थिति से हटा कर आशा के आसन पर ला बिठाया। एक महान् धर्म को गड्ढे से निकालकर प्रकाश के उच्च शिखर पर स्थापित कर दिया। संस्कृत जैसी गौरवमयी भाषा को अप्रसिद्धि की हालत से हटा कर संसार की भाषाओं में प्रधान स्थान दिला दिया। संसार की सभ्यता को गतानुगति से हटा कर सचेत किया। प्रत्येक प्रकार से देखें तो स्वामी दयानन्द महापुरुष सिद्ध होते हैं। यदि शारीरिक दृष्टि से देखें तब भी स्वामी जी महान् प्रतीत होते हैं। वे शरीर से दुर्बल लोगों को सदा तुच्छ

मानते थे। शारीरिक बल तथा इन्द्रिय दमन में वे अद्वितीय थे। जीवन से मृत्युपर्यन्त उन्होंने कभी नारी का सान्निध्य नहीं किया। उनके अखण्ड ब्रह्मचर्य पर उनके बड़े से बड़े शत्रु ने भी शंका नहीं की, न उनके जीवनकाल में और न उनकी मृत्यु के पश्चात्।

स्वामीजी उच्च कोटि के विरक्त और वीतराग पुरुष थे। उन्होंने अपने पिता की सम्पत्ति को लात मारी। जीवन में ऐसे अनेक अवसर आये जब उन्हें अपरिमित धन तथा ऐश्वर्यपूर्ण जीवन जीने के प्रलोभन दिये गये किन्तु वे इससे सर्वथा असंपृक्त रहे। उनमें तीव्र बुद्धि तथा अपूर्व स्मरण शक्ति थी। उनके समकालीनों में उनकी सी तीक्ष्ण बुद्धि वाला शायद ही कोई रहा हो। विद्या और चारित्रिक श्रेष्ठता में वे अद्वितीय थे। संस्कृत ज्ञान में उनका कोई सानी नहीं था। निर्भयता में अद्वितीय थे। वे अपने विश्वास पर आजीवन दृढ़ रहे। एक समय ऐसा था जब सारा संसार एक ओर था और स्वामी दयानन्द एक ओर थे। अपने विश्वास को व्यक्त करने तथा विचारों का प्रचार करने में उनके तुल्य अन्य कोई नहीं था। उनको न राजा का भय था और न प्रजा का। वे अपने परिजनों या जाति वालों से कभी भयभीत नहीं हुए और न इतर जाति वालों से। अनथक परिश्रम करने से कभी विरत नहीं हुए। यदि उनके सार्वजनिक जीवन के उस स्वल्प काल का लेखा-जोखा किया जाए तो उनकी कर्मठता का पूर्ण प्रमाण मिल जाता है। उनकी वाणी और लेखन तथा शास्त्रार्थ कौशल सब कुछ असाधारण था। लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने की उनमें अद्‌भुत शक्ति थी। जो मनुष्य उनके समक्ष आता, उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। वे उच्च कोटि के योगी थे किन्तु उनमें अपने योग बल का स्वल्प भी अभिमान नहीं था।

योग शक्ति का अभिमान करना तो दूर वे इसे प्रकट करने में भी संकोच करते थे। कठिनाइयों से कभी घबराये नहीं बल्कि साहस और वीरतापूर्वक उनका सामना किया। न किसी की मित्रता की परवाह की और किसी की शत्रुता की चिंता। अपितु हुआ यह कि अनेक शत्रु उनके मित्र बन गये और मित्र शत्रुवत् आचरण करने लगे। तथापि उस महापुरुष के कार्य और व्यवहार में थोड़ा भी अन्तर नहीं आया। सारांश यह कि स्वामी जी में महापुरुषों के सभी गुण विद्यमान थे। उनके समग्र कार्यों का मूल्यांकन करने का अभी उचित समय नहीं आया है किन्तु हमारा विश्वास है कि एक समय आएगा जब उनके नाम से सारा संसार परिचित हो जाएगा। संस्कृत पृथ्वी की समस्त भाषाओं में वरिष्ठ पद प्राप्त करेगी तो विश्व के लोग उन्हें महापुरुषों की श्रेणी में उच्च पद पर प्रतिष्ठित करेंगे। उनके मिशन और कार्य को भी आदर की दृष्टि से देखा जाएगा।

(50) स्वामी दयानन्द सरस्वती का काम

स्वामीजी अभी बालक ही थे जब उन्हें यह बोध हो गया कि मूर्तिपूजा ईश्वरोपासना का वास्तविक मार्ग नहीं है अपितु यह निकृष्ट कोटि का भ्रष्टाचार है। यह विचार दृढ़ता से उनके मन में जम गया और जीवन में वे इसे कभी छोड़ नहीं सके। अपने माता-पिता के सामने ही उन्होंने मूर्तिपूजा का खण्डन किया और अपने पिता के क्रोधित होने पर भी वे अपने विश्वास को

छिपा नहीं सके, जबकि पिता का क्रोध बालक के लिये भयजनक होता है । ब्रह्मचर्य काल और पुनः संन्यास ले लेने पर भी उन्होंने मूर्तिपूजा विषयक अपनी धारणा को कभी गुप्त नहीं रखा । न तो वे किसी यति-मण्डल से डरे और न मण्डलेश्वरों से । वे न राजा से भयभीत हुए और न किसी पण्डित से । जब तक जिये उसी सिंह-गर्जना से मूर्तिपूजा का खण्डन करते रहे । लोगों को मूर्तिपूजा से विरत कर निराकारोपासना की ओर प्रेरित करना उनके जीवन का महत् उद्देश्य था और प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि जो प्रकाश उन्होंने बचपन में ग्रहण किया उसे वीरता और साहस से जीवनपर्यन्त बुझने नहीं दिया । प्रत्येक हिन्दू जानता है कि उपनिषदों के काल के पश्चात् भारत में इतना साहसी, निर्भय और मूर्तिपूजा का कट्टर शत्रु दयानन्द के अतिरिक्त और कोई उत्पन्न नहीं हुआ । सभी मतावलम्बी, चाहे वे ईसाई, मुसलमान, पौराणिक, वेदान्ती अथवा बौद्ध ही क्यों न हों, इस बात को जानते हैं कि मूर्तिपूजा के प्रति श्रद्धा का भाव उनके मन में कभी उत्पन्न नहीं हुआ । मूर्तिपूजा का खण्डन करने के ही कारण उनके सजातीयों ने, अपनी ही भाषा बोलने वालों ने, स्वधर्म वालों ने, साधारण लोगों ने ही नहीं अपितु विद्वानों ने भी उन्हें नास्तिक बताया । कोई उन्हें पादरियों का वैतनिक नौकर बताता तो किसी ने उन्हें धर्म का शत्रु कहा, परन्तु इस पुरुष-सिंह ने इसकी थोड़ी भी परवाह नहीं की ।

कई बार उनके सजातीय पण्डितों ने प्रत्यक्ष तथा परोक्ष में भी उनसे प्रार्थना की कि यदि वे मूर्तिपूजा का खण्डन छोड़ दें तो वे उन्हें विष्णु का अवतार घोषित कर देंगे ताकि उनकी सर्वत्र पूजा हो । परन्तु उस महापुरुष पर इन प्रलोभनों का कोई असर नहीं हुआ । वह एक ऐसे दृढ़ आसन पर बैठे थे, जहाँ से उन्हें कोई हिला नहीं सकता था । अनेक सामन्तों, राजाओं तथा महाराजों ने उन्हें गुप्त तथा प्रत्यक्ष सम्मति दी थी कि वे मूर्तिपूजा का खण्डन छोड़ दें । उन्हें अनेक प्रकार के लोभ-लालच दिये गये, प्राणों का भय, बदनामी का डर दिखाया, धमकियाँ भी दी गईं, किन्तु उनके दृढ़ हृदय पर कोई असर नहीं हुआ । उन्होंने जिस स्थान पर, जिस दिशा में और जिस रीति से मूर्तिपूजा को देखा, उसका खण्डन उतनी ही निडरता से किया । जड़ पूजा का विरोध उनके हृदय में पत्थर की रेखा की भाँति अंकित था जिसे मिटाने का सामर्थ्य किसी में नहीं था । यह एक ऐसा विषय था जिस पर उन्हें संसार में किसी की परवाह नहीं थी । काशी के 300 पण्डित, कलकत्ता के विद्वान् और नदिया (नवद्वीप) के दार्शनिक भी उनको इस आसन से हटा नहीं सके । जयपुर, उदयपुर, जोधपुर, इन्दौर और बनारस के राजाओं के प्रयत्न भी व्यर्थ गये । मुसलमान और ईसाई प्रकटतया मूर्तिपूजा के शत्रु हैं किन्तु इनके धर्म में भी उन्होंने मूर्तिपूजा का जितना अंश देखा उसका साहसपूर्वक खण्डन किया । स्वामी दयानन्द का विश्वास था कि मूर्ति-पूजा बुद्धिवाद के तो विरुद्ध है ही, वेदों में भी उसका निषेध है तथा यह ईश्वर के प्रकृत ज्ञान के विरुद्ध है । उनकी पक्की धारणा थी कि मूर्तिपूजा धर्म और शिष्टाचरण के भी विरुद्ध है और राजनैतिक दासता तथा संसार में असम्मान इसके आवश्यक परिणाम हैं । वह समझते थे कि जब तक हिन्दू लोग मूर्तिपूजा से विरत नहीं होंगे तब तक न तो वे सत्यपथ पर चलेंगे और न उनकी राजनैतिक तथा सामाजिक उन्नति ही होगी । इसलिये उन्होंने अपनी आत्मा का समस्त बल मूर्ति-

पूजा के खण्डन में तथा उसे वेद एवं युक्ति के विरुद्ध सिद्ध करने में लगाया । कौन नहीं जानता कि उन्होंने बड़े-बड़े मूर्तिपूजकों के दिल हिला दिये थे । उन्होंने हिन्दू जाति रूपी स्थिर जल में हलचल पैदा की और हिन्दू पण्डितों को विवश किया कि वे मूर्तिपूजा के समर्थन में वेदों के प्रमाण तलाश करें ।

स्वामीजी वेदों को पूर्ण ज्ञान मानते थे और यदि मूर्तिपूजा का प्रमाण उन्हें वेदों में मिल जाता तो शायद उनका समाधान भी हो जाता, किन्तु ऐसा होना असम्भव ही था । सत्य तो यह है कि मूर्तिपूजा तथा मिथ्या देवपूजा के खण्डन में स्वामीजी ने जो काम किया उसे करने में शंकराचार्य भी असमर्थ रहे थे । हिन्दू धर्म के शत्रु हिन्दू धर्म को मूर्तिपूजक कहकर उस पर आक्रमण करते थे । अब मूर्तिपूजा को हिन्दू धर्म की मौलिक अवधारणा के विरुद्ध सिद्ध कर स्वामीजी ने इन शत्रुओं के हाथ से यह हथियार छीन लिया । मुसलमान और ईसाइयों की वैदिक धर्म के प्रति जो दूषित धारणा थी वह स्वामीजी की शिक्षाओं से छिन्न-भिन्न हो गई । उनमें अब इतनी शक्ति ही नहीं रही कि हिन्दू धर्म को मूर्तिपूजा का धर्म बतला कर हिन्दुओं को बहका सकें और अपने सम्प्रदाय में मिला सकें । उनके आक्रमणों की रीढ़ ही टूट गई । स्वामीजी ने मूर्तिपूजा को वास्तविक ईश्वर-पूजा से भिन्न सिद्ध कर परकीयों के हमलों को व्यर्थ कर दिया । लाखों मनुष्यों को स्वधर्म-त्याग के पाप से बचाया । यदि वे अपने जीवन में और कुछ भी नहीं करते और केवल यही एक काम (मूर्तिपूजा का खण्डन) करते तब भी वे महापुरुषों की श्रेणी में गिने जाते । परन्तु उन्होंने अन्य भी महान् कार्य किये थे, जिनका वर्णन हम आगे करेंगे । तथापि यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि मूर्तिपूजा का खण्डन स्वामी दयानन्द के जीवन का मुख्य उद्देश्य था ।

स्वामीजी का दूसरा कार्य था हिन्दुओं को रूढ़िवादी ब्राह्मणों द्वारा निर्मित कारा से मुक्त करना । उन्होंने आर्यों की श्रेष्ठ बुद्धि को वरीयता प्रदान की और उसे तीव्र बनाने के लिये वेद-मंत्रों का ज्ञान दिया । तत्कालीन आर्यों की बुद्धि कुण्ठित हो चुकी थी, किसी में सामर्थ्य नहीं था कि वह उसे इस जकड़न से मुक्त करता । इस कुण्ठित बुद्धि से उन्हें तभी छुटकारा मिलता यदि वे स्वधर्म का त्याग कर देते । लोग स्वहित का चिन्तन करना भी भूल गये थे । तथाकथित निम्न वर्ग के लोगों को तो शिक्षित होने का अधिकार भी नहीं था । यदि शूद्र भूल से भी वेदमंत्रों को सुन लेता तो उसके कानों में पिघला सीसा डालने की आज्ञा थी । स्वामीजी ने उन्हें वेदमंत्र पढ़ने और सीखने की आज्ञा दी तथा बंधनमुक्त किया । उन्होंने समस्त आर्य सन्तान को गायत्री की शिक्षा दी और लोगों को बताया कि शिक्षा से भी बढ़ कर प्रार्थना बुद्धि की शुद्धता की है, जो हमें परमात्मा से करनी चाहिए ।

स्वामीजी ने लोगों को समझाया कि मनुष्य का सर्वोत्तम गुरु तो परमात्मा ही है जिसकी शिक्षा में न तो त्रुटि है और न पक्षपात । परमात्मा ने जब अपने पुत्र (मानव) को संसार में भेजा तो उसे जीवन-यात्रा का निर्भय मार्ग भी बताया । यह शिक्षा सृष्टि के आरम्भ में दी गई थी जिससे मनुष्य बुद्धि की सहायता से मार्गदर्शन प्राप्त करे । स्वामीजी ने आर्यों को बताया कि संसार में

जो ज्ञान और सचाई दिखाई देती है उसका आदि कारण परमात्मा ही है क्योंकि वही आदि गुरु भी है ।[1] उस आदि गुरु ने जो शिक्षा दी वह वेदमंत्रों में वर्णित है और वेद ही मानव मात्र का सर्वस्व हैं । मनुष्यों को इन वेदों को पढ़ने तथा उनसे शिक्षित होने का अधिकार है । उस आदि गुरु की शिक्षा और उसे ग्रहण करने वाली जीवात्मा के बीच कोई पर्दा या अवरोध नहीं है । मनुष्य और ईश्वर के ज्ञान के बीच में जो कृत्रिम बाधाएँ स्वार्थवश खड़ी की गई थीं उन्हें स्वामीजी ने समाप्त किया और सबको ईश्वरीय ज्ञान की ज्योति दिखलाई । लोगों को ज्ञान के उस स्रोत से परिचित कराया जिससे नाना विज्ञानों की नहरें निकलती हैं । मनुष्य को उस शाश्वत ज्योति की झलक दिखा दी जिससे संसार के समस्त ज्ञान रूपी दीपक अपना प्रकाश ग्रहण करते हैं और अंधकार को दूर करते हैं । स्वामीजी के जीवन का यह एक महान् कार्य था । हठ और पक्षपात के कारण जो सर्वसाधारण को वेदों की शिक्षा देने के विरोधी थे तथा स्वयं भी इस ज्ञान से अपरिचित थे, उन्हें स्वामीजी ने वैदिक ज्ञान से परिचित कराया । यों कहने के लिये सभी कहते थे कि हमारा धर्म वेदों पर आधारित है, ब्राह्मण तो यह बात कहते ही थे । किन्तु सच पूछो तो न तो उन ब्राह्मणों को और न सर्वसाधारण को ही इस बात का पता था कि इन वेदों में क्या है तथा उनकी शिक्षा क्या है ।

1862 में मुम्बई की हाईकोर्ट में एक लायबल केस (मानहानि) दायर किया गया था । इसका कारण यह था कि 'सत्यप्रकाश' नामक एक पत्र ने वल्लभ सम्प्रदाय के तत्कालीन आचार्य की चरित्रहीनता को लेकर एक समाचार प्रकाशित किया था । उसमें यह सवाल उठाया गया था कि दुराचार और व्यभिचार की शिक्षा हिन्दुओं के प्राचीन धर्म से तो अनुमोदित नहीं है, किन्तु वल्लभ सम्प्रदाय के गुरु इन्हीं दुराचारों के पुञ्ज हैं, अतः इस सम्प्रदाय की नवीनता तथा इसमें प्रचलित पाखण्ड स्वतःसिद्ध हैं । इस लेख को अपनी बदनामी का कारण मान कर उक्त सम्प्रदाय के एक गुरु ने पत्र पर मानहानि का अभियोग दायर किया । समाचार के लेखक ने वेदों का सहारा लिया था और कहा था कि हिन्दुओं के धर्म की मौलिक शिक्षाएँ वेदों में ही हैं । किन्तु वादी और प्रतिवादी दोनों को ही पता नहीं था कि वास्तव में वेदों में क्या है । अपने बयान में वादी ने वेद, शास्त्र और पुराणों को हिन्दू धर्म के मान्य ग्रन्थ ठहराया किन्तु उसे स्वीकार करना पड़ा कि वह वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम भी नहीं जानता । वल्लभ सम्प्रदाय का यह गुरु अपने मान्य शास्त्रों के नाम भी नहीं बता सका, यह मूर्खता की पराकाष्ठा थी ।

स्वामी दयानन्द के जीवन में भी ऐसे प्रसंग आये हैं जिनसे हिन्दुओं के वेद विषयक अज्ञान का पता चलता है । काशी में जब स्वामी विशुद्धानन्द और बालशास्त्री जैसे विद्वान् अन्य सैकड़ों पण्डितों को साथ लेकर स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिये आये तो उन्होंने मंत्र भाग की जगह गृह्य सूत्रों के कुछ पन्ने उनके हाथ में दे दिये और उन्हें ही वेद कहा । उस समय की बात को जाने दें । सनातन धर्म सभा लाहौर तो आज भी यह मानती है कि पुराण वेदों की ही भाँति ईश्वर

---

1. पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।
—योगदर्शन समाधिपाद-26

रचित हैं तथा उनकी रचना भी वेदों जितनी पुरानी है। यह तब है जबकि एक साधारण संस्कृतज्ञ भी जानता है कि वेदों के ईश्वरप्रणीत होने के बारे में लोगों का कुछ भी विचार हो, उनके काल के सम्बन्ध में तो कोई सन्देह है ही नहीं। स्वामी दयानन्द के काल के पहले ही यूरोप के संस्कृतज्ञ यह स्पष्ट कर चुके थे कि हिन्दू विद्वानों ने पुराणों के ईश्वरप्रणीत होने की बात कभी नहीं कही। प्रो० गोल्डस्टुकर ने एक स्थान पर ठीक ही लिखा है—"जब कोई जाति अपने धर्माचार्यों के बहकाने से अथवा अविद्या के कारण पुराणों जैसी नवीन पुस्तकों को ईश्वरीय ज्ञान कहने लगे तो उसका नतीजा उस जाति के घोर अधःपतन का ही होगा, जिससे उठना कठिन है। हिन्दू जाति पतन की उसी सीमा तक पहुँच गई है और देखना है कि उसके कदम अब किस ओर उठते हैं। माना कि वह कई शताब्दियों से उसी स्थान पर खड़ी है किन्तु वर्तमान समय की राजनैतिक और सामाजिक दशा उसे एक स्थान पर खड़ा नहीं रहने देगी। जब से हिन्दुओं ने पुराणों को अपना धर्मस्रोत बताना आरम्भ किया, तब से धार्मिक प्रवञ्चना के मार्ग की बाधाएँ दूर हो गईं और ऐसे सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये जिन्होंने धर्म और समाज को नष्ट कर दिया। ऐसे-ऐसे नियम बने जो सर्वथा लज्जाजनक थे। ऐसी-ऐसी प्रथायें जारी की गईं जो हिन्दुओं के लिये चिन्ता तथा लज्जा का कारण बनीं। यहाँ इस बात की आवश्यकता नहीं है कि विस्तार में जाकर इन प्रथाओं की हम परीक्षा करें। इस प्रसंग में तंत्र साहित्य की कलई खोली जा सकती है किन्तु इस समय कलकत्ता, बम्बई तथा बनारस से जो पत्र प्रकाशित होते हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि पुराण और तंत्र साहित्य कितना विषाक्त है। तथापि इन ग्रन्थों के आलोचक आज के विद्वान् भी हिन्दू जाति के समक्ष उत्पन्न खतरे का मुकाबला करने में असमर्थ हैं। ऐसा वे तब ही कर सकेंगे जब वे साहस के साथ रोग का निदान करेंगे और हिन्दुओं को इन दूषित ग्रन्थों से बचा पायेंगे।"

यूरोप के धर्मसुधार का संदर्भ देकर उक्त लेखक (प्रो० गोल्डस्टुकर) लिखते हैं—"इस बुराई को रोकने का एकमात्र उपाय यही है कि सर्वसाधारण को उन मूल ग्रन्थों को देखने की इजाजत हो जो आज ब्राह्मण जाति के एक अल्पांश के अधिकार में हैं। ये ही उसका अर्थ जानते हैं। इसी वैदिक साहित्य को हिन्दुओं को पढ़ना चाहिए ताकि उन्हें मालूम हो कि उनके धर्म का वास्तविक मूल न ब्राह्मण ग्रन्थ हैं और न पुराण, बल्कि वह है ऋग्वेद।"

हम यह जानते हैं कि उक्त प्रोफेसर की इस अपील को कलकत्ता, बम्बई तथा काशी के पण्डितों ने अनसुना कर दिया। यदि किसी मनुष्य के हृदय में ये विचार उत्पन्न हुए और उसने इन्हीं विचारों को आधार बना कर हिन्दू धर्म के सुधार का कार्य किया तो वे स्वामी दयानन्द ही थे। स्वामीजी ने युक्ति, प्रमाण तथा ऐतिह्य के प्रमाणों से सिद्ध कर दिया कि पुराण हिन्दुओं के ईश्वरप्रदत्त ग्रन्थ नहीं हो सकते और न हैं। जो कोई पुराणों के प्रतिपाद्य को पढ़ेगा वह स्वामीजी की इस व्यवस्था को स्वीकार करेगा। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि हिन्दुओं के ईश्वरीय ग्रन्थ वेद संहिताएँ हैं न कि पुराण, धर्मशास्त्र, उपनिषद् अथवा ब्राह्मण। उन्होंने यह भी प्रमाणित किया कि यद्यपि उपनिषद्, ब्राह्मण तथा धर्मशास्त्र ऋषिप्रणीत हैं किन्तु वे वेदों पर ही निर्भर हैं और उनकी मान्यता तभी तक है जहाँ तक वे वेदानुकूल तथा वेदों से अविरुद्ध हैं। सिद्धान्त यह है कि केवल

चार वेद ही ईश्वरीय ज्ञान हैं । इन्हीं पर वैदिक धर्म का आधार है और ये ही हमारे लिये अन्तिम प्रमाण हैं । शास्त्रकारों के अनुसार वे ही स्वतःप्रमाण हैं, सत्य शास्त्र हैं जिनमें सत्य के सिवाय कुछ नहीं है ।

स्वामी दयानन्द के जीवन का द्वितीय महान् कार्य

स्वामी जी ने हमको यह तो बताया कि वेद ही ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ हैं किन्तु जब तक हम वेदार्थ की वास्तविक प्रणाली को नहीं समझ लेते तब तक यह ग्रन्थ हमारे किसी काम के नहीं थे । उन्होंने यह अनुभव किया कि वेदों की संस्कृत और वेद भाष्यकारों के युग की संस्कृत में कितना अन्तर आ गया था । उन्होंने जान लिया कि इन भाष्यकारों ने वेदों की भाषा को समझने तथा उसका अनुवाद करने में क्या-क्या भूलें की हैं । इन भूलों का कारण यह था कि उन्होंने वैदिक संस्कृत को भी आधुनिक संस्कृत के नियमों से ही पढ़ा और उसे समझने में महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को ओझल किया । वेदों पर आजकल सायण के भाष्य को ही प्रामाणिक माना जाता है जिसका समय यूरोपीय विद्वानों के अनुसार 500 वर्ष पुराना है ।[1] सायण मुसलमानी समय में हुआ था । उसकी रचना (भाष्य) पर पौराणिक छाया है । सायण पौराणिक देवपूजा पद्धति को मानता था जबकि महीधर तांत्रिक था । दोनों ने वेदभाष्य करते समय निरुक्त की उपेक्षा की । दोनों ने प्रचलित संस्कृत के नियमों से ही वेदार्थ किया । दोनों ने इस सिद्धान्त को दृष्टि से हटा दिया कि वेदों के शब्द यौगिक हैं और उनके वास्तविक अर्थ तभी प्राप्त हो सकते हैं जब उन्हीं नियमों से उनका अर्थ किया जाए । इन दोनों ने पाणिनीय व्याकरण, निरुक्त तथा निघण्टु की उपेक्षा करके ही वेदभाष्य किया । जिन मंत्रों का उपनिषद् तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के लेखकों ने अर्थ कर दिया था, उन अर्थों की भी अवज्ञा कर अपने नये अर्थ किये । परिणाम यही निकला कि अर्थ का अनर्थ हो गया । वेदों को ईश्वरीय मान कर भी उन्हें साधारण पुस्तकों की कोटि से भी गिरा दिया । जिस समय वेदों के ज्ञान का पूर्ण अभाव था, उस समय लोगों ने सायण और महीधर के भाष्यों को ही पढ़ा और मंत्रों के अर्थ का पूर्ण बोध न हो सकने के कारण उन्हें सर्वथा अचिंतनीय मान लिया । उन्होंने ऐसे ग्रन्थों को ईश्वर का ज्ञान मानना तो अस्वीकार किया ही, इन्हें सामान्य महत्त्व भी नहीं दिया-। ब्रह्मसमाज ने यह जानने के लिये कि वेदों में क्या है, चार युवा ब्राह्मणों को वेद पढ़ने के लिये काशी भेजा और उनकी साक्षी से यह घोषित कर दिया कि वेद ईश्वर वाक्य नहीं हैं । राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्मसमाज ने इन्हीं ब्राह्मणों के कहने में आकर स्वयं राजा साहब तथा प्राचीन ऋषियों की वेद विषयक मान्यता को नकार दिया । पहले तो यूरोपीय विद्वानों ने भी सायण और महीधर के आधार पर ही वेदों के विषय में अपनी सम्मति दी थी, किन्तु वे

1. सायण दक्षिण के विजयनगर राज्य के अधिपति महाराजा बुक्क तथा उसके पुत्र हरिहर के राजत्वकाल (1350-1379 तथा 1379-1399) में प्रधान मंत्री के पद पर रहा था । इस प्रकार उसका काल 700 वर्ष पुराना सिद्ध होता है ।

शीघ्र ही यह समझ गये कि वेदार्थ ज्ञान के लिये सायण और महीधर की सहायता लेना निरापद नहीं है। किन्तु आर्यावर्त में किसी पण्डित ने यह साहस नहीं दिखाया कि सायण के भाष्य को एक ओर रख कर वेदों का सत्यार्थ करे। इसके कई कारण थे। प्रथम तो यह कि ब्राह्मण लोग ही विचारशक्ति से हीन थे। वे लकीर के फकीर बने हुए थे और किसी में चिन्तन के क्षेत्र में क्रान्ति लाने का साहस नहीं था। वे तो उसी मार्ग पर चल रहे थे जिसे उन्होंने कई शताब्दियों पूर्व अपना लिया था। इस परम्परागत पथ से थोड़ा भी हटने का साहस उनमें नहीं था। यदि उन सदियों में दयानन्द सरस्वती जैसा कोई व्यक्ति उत्पन्न भी होता तो युग की परिस्थितियाँ उसे आगे बढ़ने नहीं देतीं। सत्य तो यह है कि लोग जिस रास्ते पर सदियों से चल रहे थे उसे ही वे निरापद समझ बैठे थे। यदि उन विगत वर्षों में स्वामी विरजानन्द जैसा कोई क्रान्तिकारी उत्पन्न भी होता तो वह भी युगजन्य विवशताओं के कारण इच्छित कार्य करने में असमर्थ ही रहता। सत्य तो यह है कि शंकर स्वामी के पश्चात् स्वामी दयानन्द के अतिरिक्त किसी का भी साहस नहीं हुआ कि सायण और महीधर को एक ओर रख कर वेदार्थ करे। स्वामीजी की तो यह दृढ़ धारणा थी कि हिन्दुओं की बुद्धिहीनता तभी दूर होगी जब वे मध्यकालीन पण्डितों की अंध धारणाओं से अपने को मुक्त करेंगे। यह साहस का कार्य उन्होंने ही किया और स्वबुद्धि के अनुसार ईश्वरीय ज्ञान वेदों को सर्वसाधारण तक पहुँचाया। दो हजार वर्षों के पश्चात् उन्होंने हिन्दुओं को समझाया कि वेदों में प्रयुक्त इन्द्र, अग्नि और वायु आदि नाम परमात्मा के ही हैं। वेदों का व्याकरण अष्टाध्यायी ही है और वेदार्थ को जानने के लिये सायण और महीधर को मार्गदर्शक मान लेना उचित नहीं है। वेद के वास्तविक अध्यापक तो निरुक्त, निघण्टु, उपनिषद् तथा ब्राह्मण ही हैं। दो हजार वर्षों के बाद स्वामीजी ने प्रथम बार हिन्दुओं को यज्ञ, देवता आदि शब्दों के वास्तविक अर्थ बताये। यह भी बताया कि वैदिक साहित्य में ये शब्द जहाँ आये हैं वहाँ उनका क्या अर्थ करना चाहिए। परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं ने स्वामीजी की विद्वत्ता के प्रभाव को स्वीकार किया। आज तक वेदों का यह प्रकृत अर्थ कोई नहीं कर सका था अतः इस कार्य में उनके साहस को देख कर लोग चकित रह गये। यद्यपि अनेक लोगों ने उनके भाष्य को नहीं माना किन्तु किसी को उसमें दोष निकालने का साहस नहीं हुआ। यूरोपीय विद्वानों ने इसका लाभ अवश्य उठाया और वह इस प्रकार कि इस विषय में पहले जो सन्देह थे वे अब निश्चय में बदल गये। उन्होंने सायण भाष्य को अविलम्ब अप्रामाणिक मान लिया। अब वे स्वतंत्र रीति से वेदों का अर्थ करने लगे। तथापि यह स्मरणीय है कि यूरोपीय विद्वानों की प्राचीन संस्कृत भाषा तथा पुरातन ग्रन्थों में पूरी गति नहीं थी। सच कहें तो अभी वे इस विषय के प्रारम्भिक विद्यार्थी ही थे। संस्कृत कोई ऐसी भाषा नहीं है जिस पर थोड़े समय में ही अधिकार प्राप्त किया जा सके। इसलिये यूरोपीयों द्वारा किये हुए वेदानुवाद हिन्दुओं के लिये विशेष उपयोगी नहीं थे। प्रो० मैक्समूलर ने ऋग्वेद के कुछ मंत्रों का अनुवाद प्रकाशित किया था। इसकी द्वितीयावृत्ति अभी हाल में निकली है। दोनों की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि यूरोपीय विद्वानों की वेद विषयक सम्मति में कितने परिवर्तन हो रहे हैं। इस अनुवाद की भूमिका में प्रोफेसर साहब खुद स्वीकार करते हैं कि सौ

वर्षों के अविरल परिश्रम के पश्चात् यूरोपीय विद्वान् इस योग्य हुए हैं कि वे अनेक मंत्रों के अर्थ को जान पाये हैं । इस प्रकार प्रो० मैक्समूलर की सम्मति में वेदों की भाषा को समझने में समय अपेक्षित है । उसको समझना पहेलियाँ बूझने के समान है । वे ठीक कहते हैं कि वेदों के सत्यार्थ तक पहुँचने के लिये सदियों तक यत्न करना होगा क्योंकि इस भाषा में विगत हजारों वर्षों में अनेक परिवर्तन हुए हैं । इन परिवर्तनों को समझने में समय लगना स्वाभाविक ही है । इस विषय पर हम आगे विस्तारपूर्वक लिखेंगे । अभी यही लिखना पर्याप्त है कि स्वामीजी के जीवन का एक महान् कार्य वेदभाष्य करना ही था ।

स्वामी दयानन्द के जीवन का तृतीय महान् कार्य वेदभाष्य करना था

(क) स्वामी दयानन्द ने अपनी दूरदर्शिता से यह समझ लिया था कि हिन्दू धर्म का सुधार किसी एक व्यक्ति के द्वारा सम्भव नहीं है और न यह थोड़े समय में ही हो सकता है । इसे यों भी कहा जा सकता है कि वैदिक धर्म का पुनरुद्धार एक ऐसा कार्य है जो एक व्यक्ति के द्वारा एक जीवन में किया जाना सम्भव नहीं है । इसलिये उन्होंने यह जरूरी समझा कि एक ऐसा संगठन बने जो उनके द्वारा उठाये गये कार्य को करता रहे । यह संस्था ईश्वर की निराकारोपासना का प्रचार करेगी, मूर्तिपूजा का खण्डन करेगी और उसे वेदविरुद्ध सिद्ध करती रहेगी । वह वेदों के अर्थ करने में प्राचीन ग्रन्थों की सहायता लेगी ।

स्वामीजी हिन्दू परिवार में जन्मे, वहीं उनका पालन हुआ, उन्हीं के शास्त्रों को पढ़ा तथा इस धर्म के पवित्र ग्रन्थों को अपना मार्गदर्शक माना । आर्यों की आश्रम-व्यवस्था को उन्होंने स्वीकार किया था । अतः यह स्वाभाविक ही था कि उनके हृदय में हिन्दू जाति के सुधार का भाव आता । आर्यों के पवित्र पुरातन धर्म को जान कर उस धार्मिक पुरुष के मन में यह विचार आया कि धर्म-सुधार के बिना इस जाति का सुधार असम्भव है । उन्होंने अपने जीवन का बहुमूल्य भाग सच्चे धर्म की खोज में व्यतीत किया । यह सम्भव ही नहीं था कि वे धर्म के अतिरिक्त अन्य किसी विषय को अपने सुधार का विषय बनाते । उनके जैसे महापुरुष के लिये यह समझ लेना स्वाभाविक ही था कि धार्मिक सुधार के बिना इस धर्मभूमि भारत का सुधार असम्भव ही है । अतः सुधार के इस विचार को ही प्रधानता देकर उन्होंने एक ऐसी संस्था का बीजारोपण किया जिसका उद्देश्य था—देश में धर्म-सुधार करना तथा सच्चे वेदाधारित धर्म का प्रचार करना ।

तथापि यह याद रखना आवश्यक है कि स्वामीजी का विचार किसी नये सम्प्रदाय या मत की नींव डालना कदापि नहीं था । अपितु उनका विचार तो पुरातन शुष्क धर्मवृक्ष को हराभरा करने का ही था । उसे पुनरुज्जीवित करना था । वे सुधार का कार्य करना चाहते थे न कि अराजकता उत्पन्न करने वाली कोई क्रान्ति । इसलिये उन्होंने अपने द्वारा स्थापित समाज के कोई नये सिद्धान्त नहीं बनाये । दो मन्तव्यों पर उनका दृढ़ विश्वास था—(1) प्रथम तो यह कि जो विद्या या पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उनका आदिमूल परमेश्वर है और इस विद्या का ज्ञान पुरुषों को

परमात्मा से वेदों के द्वारा ही मिला है। (2) यह कि परमात्मा निराकार और अजन्मा है तथा उसकी उपासना करना ही हमारा परम धर्म है। ये दोनों नियम उनके जीवनाधार थे और इन सिद्धान्तों को स्वीकार किये बिना किसी प्रकार का सुधार सम्भव नहीं था। वे यह भी जानते थे कि यदि हिन्दू धर्म में एकता स्थापित हो सकती है तो इन्हीं दो सिद्धान्तों के सहारे। इन्हें त्याग कर जातीय एकता कदापि सम्भव नहीं है। अतः उन्होंने आर्यों की धार्मिक एकता के लिये इन दो सिद्धान्तों को नींव का पत्थर बनाया।

सर्वप्रथम आर्यसमाज की स्थापना मुम्बई में हुई। उस समय आर्यसमाज के जो नियम बनाये गये उनमें उपर्युक्त दोनों धार्मिक नियम थे। उसके बाद लाहौर में इन नियमों का पुनरवलोकन किया गया और आर्यसमाज के सार्वकालिक नियमों से भिन्न उपनियम भी बनाये गये। उस समय भी परमात्मा और वेद विषयक मन्तव्यों पर विशेष ध्यान दिया गया तथा इनके लिये तीन नियम बने। आर्यसमाज के ये प्रथम तीन नियम ही वास्तव में उसके प्रमुख धर्म सिद्धान्त हैं।

वेदों के विषय में स्वामीजी का विश्वास उनके द्वारा रचित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा सत्यार्थप्रकाश में वर्णित है। वे चारों वेदों को ईश्वरकृत मानते हैं और किसी मनुष्य को इस विषय में संदेह करने की आज्ञा नहीं देते। तथापि आर्यसमाज के नियम बनाते समय उन्होंने अपने शब्दों का प्रयोग न कर प्राचीन शास्त्रकारों के शब्दों को ही ग्रहण किया। बम्बई में बनाये गये नियमों में यह शब्द थे–"इस समाज में मुख्य स्वतःप्रमाण वेदों का ही प्रमाण माना जाएगा" और लाहौर में निर्मित नियम इस प्रकार है–"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।" दोनों वाक्य शास्त्रकारों के हैं। समस्त शास्त्रकार वेदों को स्वतःप्रमाण मानते हैं। वेदों की सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती। बम्बई के नियमों में 'मुख्य' शब्द इसलिये था कि उससे वेदों के तथा प्रकृति के नियमों का भेद किया जा सके। प्रकृति नियम भी स्वतःप्रमाण होते हैं परन्तु उनको समझने के लिये विद्या की आवश्यकता होती है जो वेदों से ही प्राप्त हो सकती है। इसलिये वेद ही मुख्य स्वतःप्रमाण सिद्ध हुए परन्तु लाहौर में और भी सरल शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता समझी गई इसलिये 'स्वतःप्रमाण' इस संस्कृत शब्द को छोड़कर 'सत्य विद्याओं का पुस्तक' यह वाक्यांश रखा गया। वेदों के विषय में स्वामीजी ने उन शब्दों का प्रयोग उचित समझा जिसके सम्बन्ध में समस्त आर्य शास्त्रकार एकमत थे। बौद्धों को छोड़ कर कोई भी आर्य शास्त्रकार ऐसा नहीं जो वेदों को इतना उच्च स्थान न देता हो, जो आर्यसमाज के तीसरे नियम में दिया गया है। स्वामीजी उसी धर्म का प्रतिपादन करते थे जिसके विषय में शास्त्रकारों की एक सम्मति थी। किसी नवीन मत को स्थापित करना उनका उद्देश्य नहीं था। अनेक स्थानों पर लोगों ने उनसे कहा कि यदि वे तीसरे वेद विषयक नियम को हटा दें तो बहुत से मनुष्य आर्यसमाज में प्रविष्ट हो जायेंगे। किन्तु उन्होंने इसे कभी स्वीकार नहीं किया। वेदों के बिना वे किसी धर्म की कल्पना भी नहीं कर सकते थे और न वेदों से भिन्न किसी अन्य धर्म को मानते थे। वेदों पर वे दृढ़ता से जमे हुए थे। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज को एक करना उनके जीवन

का उद्देश्य नहीं था । उनके जीवन का ध्येय था वेदों को आर्य जाति का मुख्य आश्रय बनाना तथा वेदों को धर्म का आदि स्रोत सिद्ध करना । यदि वे इस विषय में आग्रह नहीं रखते तो उन्हें वह उच्च पद प्राप्त नहीं होता जो आर्य जाति में प्राप्त हुआ है । वेदों के अभाव में हिन्दू धर्म का जीवित रहना ही कठिन है । ईश्वरीय ज्ञान के बिना धर्म निर्मूल है । ईश्वरीय शिक्षा के अभाव में धर्म अंधा और लँगड़ा है । ईश्वरीय ज्ञान के बिना धर्म पंगु होता है । अनेक आर्यसमाजियों ने भी स्वामीजी से विनय की कि वे तीसरे नियम के शब्द ही बदल दें जिससे वेदों का वह महत्त्व न रहे जो आज है, किन्तु इसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया । इस तथ्य से ही स्वामी दयानन्द का महापुरुषत्व सिद्ध होता है ।

आर्यसमाज की स्थापना स्वामीजी का चौथा महत्त्वपूर्ण काम था

(51) स्वामीजी की दृष्टि में आर्यसमाज का क्या उद्देश्य था ?

क्या स्वामी दयानन्द की दृष्टि में एक ईश्वर की उपासना का प्रचार करना और वेदों को सत्य विद्या का पुस्तक सिद्ध करना ही आर्यसमाज का काम था या इससे भिन्न भी वे इसका कोई उद्देश्य मानते थे । आर्य समाज के शेष नियम इस प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ नहीं हैं यद्यपि छठा नियम यह कहता है कि संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना । परन्तु इन शब्दों से यह नहीं समझना चाहिए कि स्वामीजी के कार्यक्रम में देश या जाति की उन्नति के लिये कोई स्थान नहीं था । 1 अप्रैल 1878 को दानापुर से लिखे एक पत्र में उन्होंने लिखा–

"आपकी इच्छानुसार कल 31 मार्च 1878 को दो छपे पत्र (आर्यसमाज के मुख्य दस उद्देश्य) भेज चुके हैं । रसीद शीघ्र भेज दीजिये और इन नियमों को ठीक-ठीक समझ कर वेद की आज्ञानुसार देश को सुधारने में अत्यन्त श्रद्धा, प्रेम और भक्ति, सबके परस्पर सुख के अर्थ तथा उनके क्लेशों को मेटने में सत व्यवहार और उत्कण्ठा के साथ अपने शरीर के सुख-दुखों के समान जान कर सर्वदा यत्न और उपाय करने चाहिए । क्योंकि इस देश से विद्या और सुख सारे भूगोल में फैला है । हिन्दू मत सभा के स्थान में आर्यसमाज नाम रखना चाहिए क्योंकि आर्य नाम हमारा और आर्यावर्त नाम हमारे देश का सनातन वेदोक्त है ।"

फिर 12 अप्रैल 1878 के पत्र में लिखते हैं–"अब आपकी दृष्टि देश सुधार पर होनी चाहिए ।" याद रखना चाहिए कि आर्यसमाज के दस नियम जून 1877 में नियत किये गये थे और ये पत्र अप्रैल 1878 में लिखे गये हैं । स्वामीजी की दृष्टि में आर्यसमाज का क्या उद्देश्य था, यह इन पत्रों से प्रकट होता है । क्या इन पत्रों से यह विदित नहीं होता कि स्वामी जी उन लोगों में नहीं थे जो मनुष्य मात्र के हित की तुलना में अपने देश और जाति का कोई स्वत्व नहीं मानते । वास्तव में बात यह है कि स्वामीजी पहले संस्कृत विद्वान् थे जिन्होंने स्वार्थ के जाल में

फँसे हिन्दुओं को बताया कि परोपकार और देशोपकार धर्म के दो प्रमुख अंग हैं और वैदिक धर्म में इन्हें बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। जो मनुष्य परोपकार और देशोपकार नहीं कर सकते वे कभी धार्मिक भी नहीं हो सकते और देश के उपकार को जीवन का प्रथम ध्येय न मानने वाला भी कभी धार्मिक नहीं हो सकता।

बम्बई में जो नियम बनाये गये थे उनमें नियम 17 अपनी व्याख्या स्वयं ही करता है—

"इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिये प्रयत्न किया जाएगा। एक परमार्थ और दूसरा लोक-व्यवहार। इन दोनों का शोधन और शुद्धता की उन्नति तथा सब संसार के हित की उन्नति की जाएगी।"

बम्बई के नियम यह भी बताते हैं कि स्वामीजी की सम्मति में आर्यसमाज के उद्देश्यों को प्राप्त करने के साधन क्या थे। 12वें नियम में आर्यसमाज, आर्य विद्यालय, और आर्य प्रकाश (पत्र) के प्रचार और उन्नति के लिये 1 रुपया सैकड़ा चंदा लेने की शिक्षा है। यहाँ आर्यसमाज से आशय प्रचार और संगठन के खर्च से है। 19वें नियम में प्रचारक भेजने की बात आई है। 20वें में स्त्रियों और पुरुषों के लिये पाठशालाएँ नियत करने की आवश्यकता बताई गई है। लाहौर में बने तीसरे नियम में कहा है—"वेदों का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।" साथ ही आठवें में अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करने की आज्ञा है।

इसके अतिरिक्त दिल्ली के शाही दरबार के अवसर पर स्वामीजी की प्रेरणा से जो एक सम्मेलन आयोजित किया गया था वह भी उनकी देशभक्ति का परिचय देता है। (द्रष्टव्य : पं० लेखराम कृत उर्दू जीवनचरित, पृ० 264) स्वामीजी ने वहाँ कहा था, "यदि हम लोग एकमत हो जायें और एक ही रीति से देश का सुधार करें तो आशा है देश शीघ्र सुधर सकता है।"

इस जीवनचरित में यह भी लिखा है कि एक स्थान पर स्वामीजी ने स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर एक विशेष व्याख्यान दिया। इन सब तथ्यों से स्वामीजी का देशभक्त होना स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। वस्तुतः वे तो देशभक्त महापुरुषों में भी शीर्ष स्थान पर बिठाये जाने की योग्यता रखते हैं। ऐसे लोग संसार में बहुत कम पैदा होते हैं जो देश और जाति के लिए प्राण तक न्यौछावर कर देते हैं। ऐसे मनुष्यों का कोई भी कार्यक्रम स्वदेश और स्वजाति के हित से रहित नहीं हो सकता। अतः हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि देश और जाति के सुधार की एक सुनिश्चित योजना स्वामी दयानन्द के पास थी।

(52) स्वामी दयानन्द के अन्य सिद्धान्त

हमने ऊपर स्वामीजी के पत्रव्यवहार से ही उनके महान् कार्यों और उद्देश्यों का वर्णन किया है। परन्तु उन्होंने अपने अल्पकालीन जीवन में अन्य भी अनेक महत्त्वपूर्ण शिक्षाएँ दी हैं। उनके जैसे सुधारक के लिये यह सम्भव नहीं था कि वे केवल महत्त्वपूर्ण विषयों की ही चर्चा करते और अन्य गौण विषयों को छोड़ देते। उन्होंने जहाँ प्रचलित धर्म और रीति-नीति की आलोचना की है वहीं अनेक विधेयात्मक उपदेश भी दिये हैं।

श्राद्ध, तीर्थ और अवतार : धार्मिक विषयों में उन्होंने केवल मूर्तिपूजा पर ही आक्रमण

नहीं किया अपितु प्रचलित श्राद्ध प्रणाली, तीर्थ और अवतारवाद का भी खण्डन किया। उन्होंने बताया कि मृत पितरों के नाम पर दान देने से उनकी आत्मा को कोई लाभ नहीं पहुँचता। किसी जलाशय तथा नदी में स्नान करने से पापों का विनाश नहीं होता और मुक्ति भी नहीं मिलती। परमात्मा अजन्मा और अमर होने से कभी मनुष्य देह में नहीं आता।

नवीन वेदान्त : उन्होंने नवीन वेदान्त की शिक्षा का भी खण्डन किया और बतलाया कि आत्मा और परमात्मा दो पृथक् पदार्थ हैं तथा प्रकृति भी अनादि है। तथापि परमात्मा सर्वशक्तिमान् और सृष्टि का आदि कारण है।

मुक्ति : इस विषय में उनका कहना है कि जीव मुक्त होकर परमात्मा के सान्निध्य में निश्चित अवधि तक दिव्यानन्द का भोग करता है, तत्पश्चात् पुनः संसार में आता है।

आवागमन : स्वामीजी कर्म-सिद्धान्त को मानते थे। उनका यह मन्तव्य था कि आत्मा बार-बार जन्म लेता है और भिन्न-भिन्न योनियों में कर्म करते हुए फल भी भोगता है। पवित्र और शुद्ध आत्मा मोक्ष को प्राप्त करता है तथा निश्चित समय के लिये जन्म-मरण के बंधन से छूट जाता है।

शिक्षा : इस विषय में उनकी सम्मति थी कि प्रत्येक वर्ण के बालक और बालिका को विद्या ग्रहण करनी चाहिए और इसका अधिकार सभी को है।

सामाजिक व्यवहार : स्वामीजी बाल-विवाह के विरोधी थे और इसको शारीरिक निर्बलता का कारण मानते थे। उनकी सम्मति में पुरुष के लिए 25 वर्ष तक तथा कन्या के लिये 16 वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन आवश्यक है। विवाह में वर और कन्या की सहमति को जरूरी समझते थे। इसलिये वे अक्षत वीर्य युवा-युवतियों के विवाह के समर्थक थे। द्विजों में पुनर्विवाह को अच्छा नहीं मानते थे किन्तु सन्तानोत्पत्ति के लिये नियोग की आज्ञा देते थे।

जाति और संस्कार : जाति (वर्ण) को जन्माधारित नहीं वरन् कर्म के अनुसार मानते थे। प्रत्येक आर्य के लिये शिखा और यज्ञोपवीत को आवश्यक बताते थे। प्रत्येक स्त्री-पुरुष के लिए सोलह संस्कारों को अनिवार्य मानते थे। भोजन-व्यवहार में आर्येतर लोगों के हाथ का खान-पान उचित नहीं समझते थे। मदिरापान और मांस-भक्षण को भी अनुचित मानते थे। उनके जीवन की एक घटना इस प्रकार है। "तब जोन्स साहब ने कहा,···तो आप छूतछात को क्यों मानते हैं, हमारे साथ खाने में क्या डर है ? उत्तर दिया कि किसी के साथ खाने या न खाने में हम धर्म या अधर्म नहीं मानते। यह सब देश और जाति के रिवाजों से सम्बन्धित हैं। वास्तविक धर्म से इनका कुछ सम्बन्ध नहीं है। जो समझदार हैं वे अकारण ही देशाचार के विरुद्ध काम नहीं करते। क्या आप अपने पुत्र का विवाह किसी देसी ईसाई से कर सकते हैं।" आदि। यह भी वर्णित हुआ है कि देहरादून में उन्होंने एक ब्रह्मसमाजी के घर बना भोजन खाने से मना कर दिया था क्योंकि वह भंगिन के हाथ का बना हुआ था।

(53) क्या स्वामी दयानन्द सिद्ध थे ?

हम यह तो स्वीकार करते हैं कि स्वामीजी बड़े भारी योगी थे किन्तु जो लोग उन्हें सिद्ध प्रमाणित करते का यत्न करते हैं हम उनका खण्डन करते हैं। स्वामीजी ईश्वर-प्राप्ति के लिये

योग विद्या को जरूरी समझते थे । परन्तु उन्होंने अपने समस्त जीवन में कोई ऐसा कार्य नहीं किया जिससे लोगों को यह बतलायें कि वे योग बल से भविष्य के हालात जान लेते हैं, किसी के मन की बात को समझ लेते हैं अथवा किसी गुम हुई वस्तु अथवा व्यक्ति का पता बता सकते हैं । उन्होंने भविष्यवक्ता कहलाने जैसा कोई काम नहीं किया और जो उन्हें ऐसा कहता है हम उसे अस्वीकार करते हैं । उनके ग्रन्थों में इस बात की गंध तक नहीं है । अच्छा हो ऐसे लोग उनकी इस प्रकार श्लाघा कर उन्हें बदनाम न करें । इसके विपरीत कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवेट्स्की से हुए उनके पत्र-व्यवहार से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि वे इस प्रकार के चमत्कारों को दिखाने के विरोधी थे । ऐसे खेल तो थियोसोफिकल सोसाइटी के सदस्य अपनी कथित योग विद्या के प्रदर्शन के लिये दिखलाया करते हैं ।

(54) स्वामी दयानन्द और शुद्धि

स्वामीजी द्वारा किये गये शुद्धि कार्य के वर्णन के बिना उनके जीवन का यह विवेचन अधूरा रहेगा । यह काम शुद्धि का था । गुरु गोविन्दसिंह के बाद स्वामी दयानन्द ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दुओं को शुद्धि के लिये प्रेरित किया । स्वामीजी के कार्यक्षेत्र में आने से पहले विदेशों से लौटे हिन्दुओं को पुनः शुद्ध करने और प्रायश्चित्तपूर्वक समाज में सम्मिलित करने पर विवाद था । सर्वसाधारण पण्डित हिन्दुओं का समुद्र पार जाना ही अनुचित समझते थे । उनके धर्मशास्त्र कहते थे कि विदेश से लौटा हिन्दू पुनः अपनी जाति में प्रविष्ट नहीं हो सकता । अन्य विद्वानों का कहना था कि हमारे प्राचीन सूत्र तथा स्मृति ग्रन्थ इस बात की आज्ञा देते हैं कि आवश्यकतानुसार यदि आर्य लोग समुद्र यात्रा करें तो लौटने पर प्रायश्चित्तपूर्वक शुद्ध हो जाएँ । किन्तु उस समय कोई यह स्वप्न में भी नहीं सोचता था कि धर्म से पतित हिन्दू से मुसल-मान या ईसाई बनने के बाद भी वह स्वजाति या स्वधर्म में प्रवेश पा सकता है । स्वामी दयानन्द ने ऐसा पंजाब के जालंधर नगर में किया जहाँ एक ईसाई बने बालक को उन्होंने पुनः उसकी जाति में प्रविष्ट करा दिया । (द्रष्टव्य : पं० लेखराम रचित जीवनचरित, पृष्ठ 333) अमृतसर में शुद्धि पर व्याख्यान दिया । देहरादून में एक जन्मना मुसलमान को आर्यसमाज में मिला लिया । लाहौर और अन्यत्र अंग्रेजों, ईसाइयों तथा मुसलमानों के पूछने पर कहा कि आर्यों जैसा आचरण कर आप भी आर्य बन सकते हैं । इस समय पंजाब में शुद्धि का जो कार्य हो रहा है वह उनकी शिक्षा का ही फल है । उनके पहले किसी भी हिन्दू या सिख का यह साहस नहीं था कि वह अपने धर्म से पतित किसी स्त्री-पुरुष को पुनः अपने में मिला ले । स्वामीजी ने शुद्धि का उपदेश देकर हिन्दू जाति को बचाया और जाति की डूबती नौका को उबार लिया । सैकड़ों परिवारों को विनाश से बचाया, सहस्रों बालकों को अनाथ होने से बचाया तथा हजारों स्त्रियों को वैधव्य की पीड़ा से सुरक्षित किया ।

(55) स्वामी दयानन्द और अनाथ रक्षा

स्वामीजी को अपने देश के अनाथ बालकों की रक्षा का पूरा ध्यान था । उन्होंने अपने

जीवनकाल में फीरोजपुर के अनाथालय की स्थापना की । वे खुद परोपकार के इस कार्य में सहायक थे । अपने स्वीकार-पत्र में अपनी स्थानापन्न परोपकारिणी सभा के उद्देश्यों में भी उन्होंने अनाथ रक्षा को प्रमुख रखा और कहा कि आर्यावर्त के दीन-अनाथों के पालन एवं शिक्षण में इस सभा का धन व्यय किया जाएगा ।

स्वामीजी के हृदय में जाति रक्षा का विचार कूट-कूट कर भरा हुआ था । उनके आचरण और कार्यों से विदित होता है कि अनाथों की रक्षा के प्रति हिन्दू समाज की विरक्ति को वे अपने संवेदनायुक्त तथा प्रेमपूर्ण हृदय में कैसा अनुभव करते थे । भिखारी रूपी तीर्थ-पण्डों ने अपनी दान-दक्षिणा इतनी बढ़ा दी थी कि दान का वास्तविक रूप ही लुप्त हो गया था । फलतः लाखों अनाथ बालक अन्य धर्मों में प्रविष्ट हो जाते थे । अन्य मतावलम्बियों ने तो अनाथालयों की स्थापना करके ऐसे अनाथ बालकों को अपनी ओर खींचने की व्यवस्था कर रखी थी । स्वामीजी भी इस कार्य के महत्त्व को जानते थे । इसे अनुभव कर उन्होंने आर्यसमाज में भी अनाथों के पालन तथा रक्षा के लिये विशेष प्रावधान करने पर जोर दिया । हमें यह सुन कर दुःख होता है जब कई लोग कहते हैं कि अपने वसीयतनामे में स्वामीजी ने अनाथ पालन को तीसरे स्थान पर रखा है और इसका अर्थ वे यह करते हैं कि जब पहले बताये दोनों कर्त्तव्य पूरे हो जाएँ तब इस ओर ध्यान दिया जाना चाहिए । हमें इस विचार को सुन कर ही लज्जा और हँसी आती है । हँसी उन लोगों की बुद्धि पर आती है जो स्वीकार-पत्र की ऐसी व्याख्या करते हैं । लज्जा इसलिये कि जिन लोगों को स्वामीजी के उपदेशों को सुनने का अवसर मिला था वे भी उस महापुरुष के कहे स्पष्ट वाक्यों की कैसी गलत व्याख्या करते हैं । हमारे विचार से इस विचित्र व्याख्या की चर्चा करना भी व्यर्थ है । हमने स्वामीजी के स्वीकार-पत्र को इस ग्रन्थ के अन्त में दिया है, उसे पढ़ कर आप स्वयं विचार कर सकते हैं ।

(56) अन्तिम निवेदन

पाठक महाशय, हमारी भूमिका बहुत बढ़ गई है और भय है कि आप इसके और अधिक विस्तार से घबरा न जायें । इसलिए अब हम उन महापुरुष के जीवन-वृत्तान्त को प्रस्तुत करते हैं जिनके कार्यों की संक्षिप्त समालोचना हमने इस भूमिका में संक्षेप में की है । जो हमें अधिक कहना है वह आगे के पृष्ठों में कहेंगे । हमें विश्वास है कि पक्षपातरहित होकर यदि इसे पढ़ेंगे तो आप इस बात से अवश्य सहमत हो जाएँगे कि स्वामीजी एक महापुरुष थे, चाहे आपके धार्मिक विचार स्वामीजी के विचारों के अनुरूप हों या न हों । आप यह भी स्वीकार करेंगे कि आर्य जाति उन पर जितना भी गर्व करे, वह कम है ।

एक बात हम अपने युवकों से कहना चाहते हैं । हमारी जाति के होनहार बालको, स्वामीजी को आपके हित की विशेष चिन्ता थी । वे जहाँ जाते थे विद्यार्थी उन्हें चारों ओर से घेर लेते थे । वे उन पर प्राण देते थे और विद्यार्थी भी उन पर न्यौछावर थे । वे समझते थे कि ये विद्यार्थी ही हमारे देश और जाति की आशा हैं, इन पर ही देश की उन्नति और प्रतिष्ठा निर्भर है ।

विद्यार्थी भी जानते थे कि यह पुरुष हमारा शुभचिन्तक है । इन्होंने ही हमें अपनी जाति और साहित्य का मान करना सिखाया है । नवयुवकों के लिये यह पुस्तक बहुमूल्य उपदेशों से भरी हुई है । हमें पूरा विश्वास है कि हमारी जाति के युवा उस महापुरुष के जीवन से पूर्ण लाभ उठा कर उनकी आज्ञा का पालन करेंगे । नौजवानो, आओ । हम तुमको जितेन्द्रिय, बाल ब्रह्मचारी; महोपकारी, देश-हितैषी, विद्वान्, योगी महर्षि दयानन्द के जीवन की कथा सुनाते हैं । परमात्मा से प्रार्थना करो कि वह इस जीवनचरित से यथायोग्य लाभ उठाने के लिये तुम्हारी बुद्धि को निर्मल और पवित्र बनाये । ओ३म् शान्ति शान्ति शान्ति ।

—लाजपतराय

क्रम

परिशिष्ट

प्रथम भाग

वंश, उत्पत्ति तथा बाल्यकाल

स्वामी दयानन्द का वास्तविक जन्मस्थान और उनके असली नाम का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है । अपनी जन्मभूमि के विषय में उन्होंने इतना ही बताया था कि वे गुजरात देश में उत्पन्न हुए । पं० लेखराम ने अनेक प्रमाणों के आधार पर लिखा कि उनका जन्म मौरवी नगर (जो एक छोटे से राज्य की राजधानी है तथा मच्छू नदी के तट पर बसा है) में हुआ था तथा उनका वास्तविक नाम मूलशंकर था । हम भी उनका यही नाम मानेंगे । स्वामीजी सं० 1881 वि० (1824 ई०) में उत्पन्न हुए । इनके पिता अम्बाशंकर (नवीन शोध से ज्ञात हुआ कि पिता का नाम करसनजी तिवारी था) औदीच्य ब्राह्मण वंश के धनी जमींदार थे । उनके परिवार में जमींदारी के साथ साहूकारी (लेनदेन) का काम भी होता था । इससे उनका जीवन आसानी से व्यतीत होता था । जमींदारी का कार्य पुश्तैनी था । उन्हें राज्य की ओर से राजस्व वसूलने का अधिकार भी प्राप्त था जो आजकल तहसीलकारों द्वारा किया जाता है । इस कार्य के लिये उन्हें कुछ सिपाही भी मिले हुए थे ।

पाँच वर्ष की अवस्था में उन्हें देवनागरी का अभ्यास कराया गया और उसी समय माता-पिता तथा कुल वृद्धों ने अपने वंश की रीति-नीति सिखानी आरम्भ की । आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत हुआ । गायत्री और संध्योपासन सिखलाया गया । मूलशंकर की प्रारम्भिक शिक्षा पिता से हुई जो सामवेदी ब्राह्मण थे तथा शैव थे । उन्होंने अपने पुत्र को पहले यजुर्वेद के रुद्राध्याय[1] पढ़ाये ताकि बाल्यकाल में ही उन पर शैव मत के संस्कार दृढ़ हो जायें । पिता अपने पुत्र को शैव आस्थाओं का पालन करने की ताकीद करते और पार्थिव पूजन[2] के लिये आदेश देते थे ।

दसवें वर्ष (1890 वि०) में वे पार्थिव शिव की पूजा करने लगे । पिता की यह भी इच्छा थी कि मूलशंकर शिवरात्रि का व्रत रखे, कथा सुने तथा रात्रि-जागरण भी करे । परन्तु उनकी माता इन कठोर व्रतों के खिलाफ थीं । वे मानती थीं कि कोमल बालक इन कठोर साधनाओं के लिये उपयुक्त नहीं है । पिता ने उन्हें संस्कृत व्याकरण तथा वेदपाठ सिखाया । वे जहाँ कहीं मंदिरों अथवा अपने मित्रों के घर जाते, उन्हें अवश्य ले जाते और शिवोपासना को सर्वश्रेष्ठ तथा विशेष फलदायक बताते । 14 वर्ष की आयु (1894 वि०) तक उन्होंने यजुर्वेद संहिता कण्ठस्थ कर

1. यजुर्वेद के रुद्र देवता वाले मंत्र इसके अन्तर्गत आते हैं । इनमें 16वाँ तथा 18वाँ अध्याय मुख्य है ।
2. मिट्टी का शिवलिंग बना कर पूजा करना पार्थिव-पूजन कहलाता है ।

लिया था। वेदों के कुछ अन्य अंश भी पढ़े तथा व्याकरण के कुछ लघु ग्रन्थों का भी अध्ययन किया।

इसी वर्ष मूलशंकर के पिता ने उन्हें शिवरात्रि का व्रत रखने के लिये कहा जिसके लिये वे पहले तो तैयार नहीं हुए किन्तु जब उन्हें इस व्रत का माहात्म्य सुनाया गया तो वे इसके लिये मान गये। प्रातःकाल ही कुछ खा लेना उनकी आदत बन गई थी, इसलिये उनकी माता ने व्रत करने के लिये मना करते हुए कहा कि बालक का स्वभाव सवेरे ही कुछ खाने का है अतः व्रत के कारण वह बीमार हो जाएगा। परन्तु पिता के हठ के कारण बालक को व्रत करना ही पड़ा। काठियावाड़ प्रदेश में शिवरात्रि का व्रत माघ कृष्ण 14 को रखा जाता है।[1] उस सायं उन्हें रात्रि जागरण के लिये भी कहा गया। यदि वे जागरण नहीं करेंगे तो व्रत का लाभ नहीं मिलेगा। रात्रि-पूजा की विधि भी उन्हें सिखाई गई।

मौरवी नगर[2] के बाहर एक बड़ा शिवालय है जहाँ लोग शिवरात्रि के दिन पूजापाठ के लिये जाते हैं। इसी स्थान में स्वामीजी के पिता तथा अन्य लोग रात्रि को एकत्र हुए। रात्रि के प्रथम प्रहर की पूजा समाप्त हुई और दूसरे प्रहर की पूजा को भी लोगों ने जैसे-तैसे समाप्त किया, परन्तु आधी रात बीतते-बीतते लोगों को नींद सताने लगी। धीरे-धीरे सभी उपासक सो गये। निद्रा लेने वालों में मूलशंकर के पिता सर्वप्रथम थे। उन्हें सोया जानकर पुजारी लोग भी बाहर जाकर सो गए। परन्तु मूलशंकर जानता था कि यदि वह सो गया तो व्रत का फल नहीं मिलेगा। इसलिये आँखों पर पानी डाल कर भी वह जागता रहा। जब पर्याप्त रात्रि बीत गई और मंदिर जनकोलाहल से शून्य हो गया तो एक चूहा कहीं से निकल कर शिवपिण्डी पर अर्पित वस्तुओं को खाने लगा। मूलशंकर ने यह सब दृश्य देखा। उस समय उनके हृदय में जो भाव उत्पन्न हुए उसका चित्रण करना हमारे लिये अशक्य है। बालक के मन में विचार आया कि क्या ये कथा-वर्णित महादेव ही हैं जिनके बारे में कहा गया है कि वे हाथ में त्रिशूल रखते हैं, डमरू बजाते हैं, कैलास पर्वत के स्वामी हैं और भक्तजनों को वर तथा दुष्टों को शाप देते हैं। किन्तु यह मूर्ति तो एक तुच्छ चूहे को हटाने में भी असमर्थ है।

इसी रात्रि को उस महान् धर्मक्रान्ति की नींव रखी गई जो स्वामी दयानन्द द्वारा प्रवर्तित होनी थी। देश के लाखों-करोड़ों मनुष्य शिवरात्रि को जागते हैं तथा शिव से वर याचना भी करते हैं किन्तु उस शिव (संसार का कल्याण करने वाले ईश्वर) ने आज तक किसी को वर नहीं दिया। हाँ, 1894 वि० की माघ कृष्ण 14 की रात को एक बालक वर-प्राप्ति के लिये जागता रहा और शिव ने उसे व्रत देकर कहा कि देखो, आर्यावर्तवासी मेरे नाम को कलंकित कर रहे हैं। मेरे वास्तविक गुणों को न जान कर पत्थर-निर्मित लिंगाकृति की मेरे स्थान पर पूजा करते हैं। मूलशंकर उठ, विद्या पढ़, मेरे ज्ञान को प्राप्त कर, वेदों का अध्ययन कर और लोगों को

1. उत्तर भारत में यह पर्व फाल्गुन मास के कृष्णा पक्ष की त्रयोदशी या चतुर्दशी को मनाया जाता है।
2. नवीन खोज ने यह भी सिद्ध किया है कि स्वामी दयानन्द का जन्मस्थान मौरवी राज्य के अन्तर्गत टंकारा ग्राम था।

समझा कि शिव तो विश्व का कल्याण करने वाले परमात्मा का नाम है। लोग दूसरों के उपकार के लिये स्वयं तथा अपने सर्वस्व को अर्पित कर मेरे भक्त बन सकते हैं न कि केवल एक नियत रात्रि को जागरण कर तथा पाषाण प्रतिमा पर कुछ चढ़ा कर। ये शब्द यद्यपि किसी की जिह्वा से उच्चरित नहीं हुए थे किन्तु इसमें संदेह नहीं कि शिव के इन ज्ञानपूरित वचनों ने मूलशंकर के मन पर असर डाला।

अन्ततः यह बालक अपने विचारों को बहुत देर तक नहीं रोक सका। उसने तत्काल अपने पिता को जगाया और उनसे अपने संदेह को निवृत्त करने के लिये कहा। उसका प्रश्न था कि क्या पुराणों में वर्णित महादेव ही इस मंदिर का अधिष्ठाता देवता है। इस प्रश्न ने पिता को विस्मय से पूरित तो किया ही, उन्हें लज्जा भी आई। पुनः क्रोध कर पूछा, "तू ऐसा प्रश्न क्यों करता है ?" मूलशंकर का उत्तर था कि इस पत्थर के महादेव पर तो चूहे दौड़ रहे हैं और इसे अपवित्र करते हैं। कथा में जिसका वर्णन सुनते हैं वह तो चैतन्य है, फिर वह अपने ऊपर चूहों को क्यों दौड़ने देता है। यह मूर्ति तो इसका कुछ भी प्रतिकार नहीं करती। मैं तो सोचता हूँ कि मूर्ति के द्वारा सर्वशक्तिमान् और चैतन्य ईश्वर की प्राप्ति असम्भव है। उत्तर में मूलशंकर के पिता ने यह कह कर समझाने का प्रयत्न किया कि कैलास पर्वत के निवासी का ही मूर्ति में आवाहन करते हैं और तब उनकी पूजा करते हैं। कलियुग में उनका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता इसलिये धातु की प्रतिमा बना कर तथा उसी में देवता का ध्यान कर उसकी पूजा करने से कैलास-वासी महादेव प्रसन्न होते हैं। फिर पुत्र को डाँटते हुए कहा कि प्रश्न करने का यह तेरा बुरा स्वभाव है। यह तो केवल देवता की मूर्ति ही है। किन्तु इन युक्तियों से भला बालक की कहाँ तसल्ली होने वाली थी। इसके विपरीत उसके मन में यह बात दृढ़ता से पैठ गई कि मूर्तिपूजा व्यर्थ है। उसने निश्चय कर लिया कि जब तक मैं महादेव को प्रयत्क्ष नहीं देख लूँगा तब तक चैन नहीं लूँगा। थोड़ी देर के बाद बालक ने पिता से घर जाने की आज्ञा माँगी। पिता ने जाने की आज्ञा तो दे दी और साथ में एक सिपाही भी कर दिया, किन्तु साथ ही चेतावनी देते हुए कहा कि घर जाकर भोजन कदापि मत करना। मूलशंकर ने घर जाकर माता से यही बात कही कि उसे भूख लगी है। माता ने बालक को कुछ मिठाई खाने को दी और साथ ही यह भी कहा कि खाने की बात पिता को हरगिज मत बताना। मैंने तो तुझे पहले ही कहा था कि व्रत रखना कठिन होता है।

दूसरे दिन बालक देर से उठा। जब पिता को किसी प्रकार मूलशंकर के रात को भोजन करने का पता चला तो उनके क्रोध का पारावार नहीं रहा। मूलशंकर ने अपने स्पष्टीकरण में कह दिया कि वह प्रस्तर के शिव को महादेव नहीं मानता और न उसकी पूजा ही करेगा। निस्संदेह इसी रात को मूलशंकर के मन में मूर्तिपूजा के प्रति अविश्वास जागा और उन्होंने सब से अपनी बात स्पष्टतया कह दी। उनके एक विचारशील चाचा ने भी पिता को समझाया कि बालक को कठोर व्रत आदि करने के लिये न कहें। इसके पश्चात् मूलशंकर ने अध्ययन में मन लगाया और वह एक पण्डित से निघण्टु, निरुक्त, पूर्वमीमांसा तथा कर्मकाण्ड के अन्य ग्रन्थ पढ़ने लगा।

दो वर्ष पश्चात् एक ऐसी घटना घटी जिसने मूलशंकर के सारे जीवन को ही पलट दिया। मूलशंकर के दो छोटे भाई और दो बहिनें थीं। जिस समय उनकी आयु सोलह वर्ष की थी (1896 वि०) और वे अपने किसी सम्बन्धी के यहाँ कोई नृत्योत्सव देखने गए थे, एकाएक सेवक ने आकर उन्हें सूचित किया कि उनकी चौदह वर्षीया बहिन विशूचिका (हैजा) से पीड़ित है। मूलशंकर तुरन्त घर आये और देखा कि बहन की प्राण-रक्षा के सभी प्रयत्न किए जा रहे हैं। अनेक कुशल वैद्य बुलाए गए किन्तु देखते-देखते उसके प्राण निकल गए। घर में रोना-पीटना मच गया। मूलशंकर के समक्ष मृत्यु का यह पहला ही दृश्य था। एक ओर घर के सभी लोग रो रहे थे, उधर मृत्यु की इस घटना ने मूलशंकर के मन में हलचल मचा दी। वह सोचने लगा कि यह मृत्यु क्या है। क्या संसार के प्रत्येक प्राणी को किसी न किसी दिन मृत्यु को स्वीकार करना पड़ेगा ? यदि मृत्यु अवश्यम्भावी है तो क्या उससे बचने का भी कोई उपाय है ? जिस बालक को शिव प्रतिमा पर क्रीड़ा करके मूषकों नें मूर्तिपूजा से विरत कर दिया था उसके मन में मृत्यु को साक्षात् देखने से भी कुछ न कुछ असर उत्पन्न होना ही था। यों तो यह अवस्था उसके खेलने और खाने की थी, किन्तु इस घटना ने किशोर मूलशंकर को गम्भीर बना दिया और उसका मन वैराग्योन्मुख हो गया।

बहिन की मृत्यु को देख कर भी जिसका दिल नहीं पसीजा, पाषाणहृदय कह कर माता-पिता ने उसकी भर्त्सना की और परिवार के अन्य लोगों ने भी उसे धिक्कारा। जब वह सोने गया तो नींद भी उससे मुँह मोड़ चुकी थी। मृत्यु के दृश्य ने मूलशंकर को अशान्त बना दिया। उसने विचारना आरम्भ किया कि क्या मृत्यु उसे भी अपना ग्रास बनाएगी ? यदि यह सत्य है तो इससे बचने का उपाय क्या है ? उसने अपने हृदय की दशा किसी को नहीं बताई और पूर्ववत् अपने अध्ययन में लग गया। मूलशंकर के एक चाचा धर्मात्मा तथा विद्वान् थे। उनका इस बालक से अत्यन्त स्नेह था। जब मूलशंकर की आयु 18 वर्ष की थी तो अचानक ये धर्मात्मा चाचा भी काल के गाल में समा गये। इस बार मूलशंकर का हृदय करुणा से भर उठा और अपने प्रिय चाचा की निष्प्राण देह को देख कर वे फूट-फूट कर रो पड़े। किन्तु मृत्यु के रहस्य को जानने की जिज्ञासा और भी दृढ़ हो गई। उन्होंने निश्चय किया कि अपना अवशिष्ट जीवन वे मृत्यु पर विजय प्राप्त करने में लगाएँगे।

सारांश यह कि चाचा की मृत्यु के पश्चात् वैराग्य में तीव्रता आई और उसे छिपाना उनके लिये कठिन हो गया। यह बात मूलशंकर ने अपनी माता से तो गोपनीय रखी किन्तु अपने मित्रों और पण्डितों से पूछना आरम्भ किया कि अमर होने का क्या उपाय है ? उसे उत्तर मिला—'योगाभ्यास के द्वारा ही मृत्यु पर विजय पाई जा सकती है।' अन्ततः मूलशंकर ने निश्चय किया कि संसार और परिवार का त्याग करना चाहिए क्योंकि यह निस्सार हैं तथा अध्यात्मोन्मुख होने में बाधक हैं। उन्होंने इस विचार को अपने मित्रों के आगे प्रकट कर दिया जिन्होंने इसकी सूचना उनकी माता को दे दी। जब माता-पिता को मूलशंकर का मनोरथ ज्ञात हो गया तो उन्होंने निश्चय किया कि उसे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने से रोकना चाहिए। अन्त में यही निश्चय किया कि

विवाह करके इसे गृहस्थ के बंधनों में जकड़ देना चाहिए । जब मूलजी को यह ज्ञात हुआ कि उनके माता-पिता उन्हें विवाह के बंधन में बाँधना चाहते हैं तो उन्होंने मित्रों से कहलवा कर विवाह प्रसंग को थोड़े दिनों के लिये स्थगित कर दिया ।

शास्त्रों में लिखा है कि आठ वर्ष तक माता-पिता स्वयं पुत्रों को शिक्षित करें, उसके पश्चात् उन्हें गुरुकुल में भेजें । इतिहास से पता चलता है कि जिस समय यूनान का प्रसिद्ध यात्री मेगास्थनीज भारत आया था, उस समय इस देश में गुरुकुल संस्था का प्रचलन था । लोग राजाज्ञा से अपने बच्चों को गुरुकुल में पढ़ने के लिये भेजते थे । जैसा कि उक्त यात्री ने लिखा है, "32 वर्ष की आयु में वे विद्या समाप्त कर घर आते थे तब उनका विवाह होता था ।" समय के परिवर्तन के साथ यह व्यवस्था भी समाप्त हो गई । इस काल में ब्रह्मचर्याश्रम का ही लोप हो गया । मूलशंकर तो बाल्यावस्था से ही विद्या का जिज्ञासु होने के कारण ब्रह्मचारी था । जब उसने देखा कि विद्या पूरी किए बिना ही उसके माता-पिता उसे गृहस्थ बनाना चाहते हैं तो उसने प्रबल वैराग्य भाव से यह निश्चय किया कि वह गृह त्याग देगा और अपना जीवन विद्या प्राप्त करने में लगाएगा ।

आयु के बीस वर्ष समाप्त होने पर 1800 वि० में मूलशंकर ने पिता से अनुरोध किया कि वे उसे आगे पढ़ने के लिये काशी भेज दें ताकि वहाँ रह कर वह व्याकरण, ज्योतिष, वैद्यक आदि विद्याएँ सीखे । इस प्रस्ताव का घरवालों ने विरोध किया और कहा कि थोड़े समय बाद तो तुम्हारा विवाह होने वाला है । लड़की वाले विवाह में अधिक देर करने को तैयार नहीं होंगे । माता ने यह भी कहा कि अधिक विद्या पढ़ने से लड़का विवाह से विमुख हो जाता है । अतः तुम्हारे काशी जाने से विवाह में बाधा आएगी । मूलशंकर ने जब अधिक आग्रह किया तो माता का विरोध बढ़ गया और उसने उसे काशी भेजने से साफ इन्कार कर दिया । पिता ने भी कहा कि अब तुम्हें जमींदारी का कामकाज देखना चाहिए जिसे मूलजी ने स्वीकार नहीं किया ।

कुछ दिन पश्चात् मूलशंकर ने अपने पिता से कहा कि आप मुझे काशी चाहे न भेजें किन्तु गाँव से तीन कोस पर एक वृद्ध पण्डित हमारी बिरादरी के ही रहते हैं, उनसे पढ़ने की आज्ञा तो अवश्य दे दें । पिता ने उनके इस आग्रह को स्वीकार कर लिया । फलतः वे उस वृद्ध पण्डित के समीप जाकर पढ़ने लगे । एक दिन संयोगवश मूलजी ने अपने मन के विचार इन पण्डितजी को बता दिये और कहा कि विवाह से उन्हें अतीव घृणा है । अध्यापक पण्डित ने मूलजी के मन का यह विचार पिता तक पहुँचा दिया । परिणाम में पिता ने लड़के को घर बुला लिया और उसके विवाह की तैयारियाँ आरम्भ कर दीं । इस समय उनकी आयु 21 वर्ष की थी । अब उन्होंने सोचा कि विवाह से बचने के लिये गृहत्याग के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है । माता-पिता तो उनका विवाह निश्चित रूप से कराएँगे और आगे पढ़ने की आज्ञा भी नहीं देंगे । अन्ततः उन्होंने यही निश्चय किया कि वे गृह को अवश्यमेव त्याग दें । इधर जब विवाह की तैयारियाँ वेग से होने लगीं तो मूलशंकर के संकल्प में भी तीव्रता आई और विक्रम संवत् 1903 की एक सायं उन्होंने स्वगृह से सदा के लिये विदा ले ली ।

ब्रह्मचारी मूलशंकर

घर से निकल कर आठ मील की दूरी के एक ग्राम में उन्होंने वह रात्रि काटी और एक पहर रात रहने पर वहाँ से चल कर दूसरे दिन सायंकाल एक गाँव के हनुमान मंदिर में रात्रि व्यतीत की। यह मार्ग उन्होंने निश्चित राजमार्ग पर चल कर तय नहीं किया अपितु पगडंडियों और टेढ़े-मेढ़े रास्तों से होकर चले ताकि रास्ते में आता-जाता कोई पहचान न ले। यह सावधानी आवश्यक थी क्योंकि गृहत्याग के तीसरे दिन उन्होंने एक राजकर्मचारी से सुना कि मूलशंकर नामक एक युवक को सिपाही तलाश कर रहे हैं। यहाँ से जब वे आगे चले तो उन्हें साधुओं के वेश में कुछ ठग मिले जिन्होंने उनके शरीर पर धारण किये आभूषण, अँगूठी तथा कुछ अन्य द्रव्य यह कह कर ले लिये कि जब तक वे इनका त्याग नहीं करेंगे, उन्हें पूर्ण वैराग्य कैसे मिलेगा। इन साधु-वेशी ठगों के पास कोई देवमूर्ति थी जिसके आगे उन्होंने वे वस्तुएँ भेंट रूप में रखवा लीं।

यहाँ से चल कर मूलशंकर सायला नामक ग्राम में पहुँचे जहाँ उन दिनों लाला भक्त नामक एक वैष्णव साधु रहते थे जो योगी लाला भक्त के नाम से विख्यात थे। यहाँ आने पर मूलशंकर ने एक अन्य ब्रह्मचारी से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा ले ली। अब उनका नाम ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य हो गया। उन्हें पात्र रूप में एक कमण्डल दिया गया और वे योगसाधन में तत्पर हुए। एक रात्रि जब वे योगाभ्यासपूर्वक ध्यान में बैठे थे, उन्हें वृक्ष के ऊपर बैठे पक्षियों का रव सुनाई पड़ा। वे भयभीत हो गये। भूत-प्रेतादि संस्कारों से अभी उन्हें मुक्ति नहीं मिली थी, अतः एकान्त त्याग कर साधुओं की मण्डली में आ गये। यहाँ से चलकर ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य कोट काँगड़ा नामक स्थान पर आए। यह स्थान अहमदाबाद के निकट है। यहाँ पर उन्होंने बहुत से वैरागियों को देखा। किसी राज्य की एक रानी भी उनके फंदे में फँसी उनके समीप ही थी। इन वैरागियों ने अकारण ही शुद्ध चैतन्य का उपहास किया और उन्हें अपनी मण्डली में प्रवेश करने के लिये कहा। इस पर शुद्ध चैतन्य ने घर से पहने रेशमी वस्त्रों को त्याग दिया और सादे वस्त्र पहन लिये। यहाँ पर वे तीन मास तक रहे। यहाँ रहते हुए ही उन्हें ज्ञात हुआ कि सरस्वती नदी के तट पर बसे सिद्धपुर में कार्तिक मास में प्रतिवर्ष मेला लगता है जहाँ हजारों साधु, महात्मा तथा योगी जन आते हैं। यह सोच कर कि वहाँ कोई उच्च कोटि का योगी अवश्य मिलेगा, शुद्ध चैतन्य सिद्धपुर की ओर चल पड़े। रास्ते में उन्हें एक साधु मिला जो उनके परिवार का परिचित था। इससे भेंट कर एक बार तो ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य को रोना आ गया। अभी वैराग्य में दृढ़ता भी नहीं आई थी। उन्होंने इस परिचित वैरागी से अपना हाल कहा। पहले तो उसने मूलशंकर को घर छोड़ने के लिये बुरा-भला कहा, किन्तु शुद्ध चैतन्य को अपने संकल्प से विचलित नहीं

कर सका ।

अन्ततः ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य सिद्धपुर आए और नीलकण्ठ महादेव के मंदिर में डेरा किया जहाँ पहले से ही अनेक साधुगण ठहरे थे । मेले में जिस किसी विद्वान् योगी की चर्चा सुनते, वे उसके निकट अवश्य जाते और सत्संग का लाभ उठाते । सिद्धपुर आते हुए मार्ग में जो वैरागी मिला था उसने मूलशंकर का सारा वृत्तान्त उनके पिता को लिख भेजा और उनके वर्तमान में सिद्धपुर में होने की सूचना भी दे दी । यह समाचार पाते ही मूलशंकर के पिता चार सिपाहियों को साथ लेकर वहाँ आ गए और नीलकण्ठ के मंदिर में उन्हें जा पकड़ा । जब उन्होंने पुत्र को साधु वेश में देखा तो क्रोध में आ कर अनेक कठोर वाक्य कह कर उनकी भर्त्सना की । यहाँ तक कहा कि तुमने हमारे परिवार पर कलंक लगाया है । तेरी माता तेरे वियोग में मरणोन्मुख है । एक बार तो पिता के इस क्रोध ने उन्हें भयभीत कर दिया । डर के मारे वे पिता के चरणों में गिर पड़े और कह दिया कि लोगों के बहकावे में आकर वे घर से निकल पड़े हैं । आप क्रोध न करें । मुझे क्षमा कर दें । यह भी कह दिया कि मैं आपके साथ घर लौटने के लिये तैयार हूँ । इन बातों से भी पिता का क्रोध शान्त नहीं हुआ और उन्होंने आवेश में आकर पुत्र के पीत वस्त्र फाड़ डाले । उसका तूम्बा भी तोड़ दिया और कहा कि तू मातृहन्ता है । उन्होंने पुत्र को नवीन वस्त्र दिए तथा अपने डेरे पर ले आए । मूलशंकर के घर लौट चलने के कथन का भी उन्हें विश्वास नहीं हुआ और उन्हें सिपाहियों की निगरानी में रखा ।

रात्रि को भी मूलशंकर पहरे में रहे । वे यद्यपि प्रकट रूप में तो पिता से यह कह चुके थे कि घर लौटने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु अपने मन में वे दृढ़ थे और अपने निर्धारित वैराग्य पथ पर ही बढ़ने की प्रबल भावना लिये थे । दैववश रात के तीसरे पहर में प्रहरियों को भी नींद आ गई और शुद्ध चैतन्य ने यह अवसर भाग निकलने के लिये उपयुक्त माना । वे चट-पट वहाँ से चल पड़े और एक वृक्ष के सहारे निकट के एक मंदिर की छत पर जा बैठे । उनके हाथ में एक जल-पात्र अवश्य था । यदि कोई पूछता तो यह कहने का बहाना था कि वे शौच के लिये निकले हैं । जब वे उस एकान्त में चुपचाप छिपे बैठे थे, उन्होंने देखा कि वही पहरे वाले सिपाही उनकी तलाश में उधर आये हैं और आसपास के लोगों से पता कर रहे हैं । इस प्रकार शुद्ध चैतन्य को वह सारा दिन मंदिर की छत पर बैठे ही व्यतीत करना पड़ा । जब दिन छिप गया तो वे उतरे और मुख्य मार्ग को छोड़ कर दो कोस दूर एक गाँव तक आ गए । सवेरा होने पर फिर वहाँ से चल पड़े । अपने पिता से उनकी यही अन्तिम भेंट थी । अब वे अहमदाबाद होते हुए बड़ोदरा पहुँचे । यहाँ उन्हें जिन संन्यासियों का सान्निध्य मिला वे शाङ्कर मत को मानने वाले वेदान्ती थे । उनके सम्पर्क में आकर शुद्ध चैतन्य ने भी नवीन वेदान्त को स्वीकार किया । यहाँ उन्हें पता चला कि नर्मदा के तटवर्ती क्षेत्र में साधुओं की एक वृहत् गोष्ठी होने वाली है । उसमें भाग लेने के लिये वे चाणोद करनाली के लिये चले । यहाँ उन्हें नाना शास्त्रों के ज्ञाता स्वामी सच्चिदानन्द नामक एक संन्यासी मिले जिनसे उनका विस्तृत वार्तालाप हुआ । अन्ततः वे अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचे और स्वामी परमानन्द परमहंस के निकट 'वेदान्त-सार' तथा 'वेदान्त-परिभाषा' आदि शाङ्कर मत के ग्रन्थों का अध्ययन करने लगे ।

ब्रह्मचारी का संन्यास-ग्रहण

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की मर्यादा के अनुसार शुद्ध चैतन्य को अपना भोजन स्वयं बनाना पड़ता था। इससे पढ़ने में विघ्न होता था। इस विपत्ति से छुटकारा पाने के लिये उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लेने का विचार बनाया। भोजन बनाने के कष्ट से तो छुटकारा मिलता ही, नाम परिवर्तित हो जाने के कारण घर के लोग भी उन्हें नहीं पहचान पाएँगे, यह एक अतिरिक्त लाभ था। इसी आशा से उन्होंने एक दक्षिणी पण्डित को कहा कि वे चिदाश्रम स्वामी को कहें कि वे उन्हें संन्यास की दीक्षा दे दें। किन्तु इन स्वामी ने ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य की युवावस्था देखकर उन्हें संन्यास देने से इन्कार कर दिया। तथापि ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य अपने विचार पर दृढ़ थे। वे लगभग डेढ़ वर्ष तक नर्मदा के तट पर रहे। यहाँ चाणोद ग्राम के निकटवर्ती एक जंगल में स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती नामक एक दण्डी स्वामी अपने शिष्य सहित ठहरे हुए थे। उक्त दक्षिणी पण्डित उन्हें लेकर स्वामी पूर्णानन्द के निकट गये और वहाँ पर्याप्त देर तक तीनों में ब्रह्मचर्चा होती रही। शुद्ध चैतन्य ने इस वार्तालाप से दण्डीजी की विद्वत्ता का अनुमान कर लिया और इसी समय दक्षिणी संन्यासी से साथी ब्रह्मचारी ने निवेदन किया कि वे आगन्तुक ब्रह्मचारी को संन्यास की दीक्षा अवश्य दें। यह ब्रह्मचारी ब्रह्मविद्या का जिज्ञासु है किन्तु स्वयंपाकी होने के कारण इसके अध्ययन में विघ्न होता है। आप कृपा कर इसे चतुर्थाश्रम में दीक्षित करें। दण्डी पूर्णानन्द ने भी पहले तो शुद्ध चैतन्य की युवावस्था देख कर उन्हें संन्यासी बनाने से इन्कार किया और यह भी कहा कि वे स्वयं तो महाराष्ट्रवासी हैं अतः एक गुजराती को संन्यास की दीक्षा कैसे दे सकते हैं। दक्षिणी पण्डित ने इस आपत्ति का समाधान करते हुए कहा कि गुर्जर देशवासी को संन्यासी बनाने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि महाराष्ट्र और गुर्जर दोनों की गणना पञ्च द्रविड़ों में होती है। उन्होंने शुद्ध चैतन्य के कुलीन औदीच्य ब्राह्मण होने की बात भी बताई। अन्ततः स्वामी पूर्णानन्द ने स्वीकृति दे दी और तीसरे दिन ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य को विधिवत् संन्यास की दीक्षा दे दी। कुछ काल तक दीक्षा-गुरु के सान्निध्य में वे रहे। अन्ततः गुरु पूर्णानन्द द्वारिका की ओर चले गये।

इस प्रकार चौबीस वर्ष के परिपूर्ण यौवन में मूलशंकर ने संन्यास लेकर दयानन्द सरस्वती का नाम तो ग्रहण कर लिया, किन्तु अभी तक उनका विद्याध्ययन पूरा नहीं हुआ था। गुरु ने संन्यास की दीक्षा देते समय उन्हें दण्ड धारण कराया था, किन्तु संन्यास की प्रचलित मर्यादा के अनुसार दण्ड विषयक अनेक कठोर नियमों का पालन करना पड़ता है, अतः उन्होंने दण्ड को विसर्जित कर दिया और एतद् विषयक कर्मकाण्ड से मुक्त हो गए। यहाँ उन्होंने व्यासाश्रम में

रहने वाले स्वामी योगानन्द नामक एक योगी की प्रशंसा सुनी और वहाँ जाकर उनसे विद्याध्ययन किया। पुनः वे सिनौर नामक स्थान पर गए। यहाँ उन्होंने कृष्णाशास्त्री नामक एक विद्वान् से कुछ काल तक अध्ययन किया। कुछ समय पश्चात् उनकी भेंट ज्वालानन्द पुरी और शिवानन्द गिरि नामक दो योगियों से हुई। उनसे दयानन्द ने योग विद्या सीखी, किन्तु कुछ काल के पश्चात् योगीद्वय यह कह कर अहमदाबाद की ओर चले गये कि एक मास पश्चात् वे उनसे अहमदाबाद के दूधेश्वर महादेव में आकर मिलें। वहाँ वे उनसे योग की सूक्ष्म विधियाँ सीख सकेंगे। निश्चित कार्यक्रम के अनुसार स्वामीजी अहमदाबाद गए और उक्त योगियों से योगतत्त्व का अध्ययन किया। वे योग में अत्यन्त निपुण हो गए। उन्होंने अपने योग-गुरुओं के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए लिखा है—"इन महात्माओं ने मुझे योग सिखा कर निहाल कर दिया।"

अहमदाबाद में ही उन्हें पता चला कि उच्च कोटि के योगी आबू पर्वत पर रहते हैं। अतः अब वे गुजरात से चल कर आबू शिखर पर आए और अर्बुदा भवानी के मंदिर में योगी भवानीगिरि से भेंट की। इस योगी ने भी उन्हें योग के गूढ़ रहस्यों को सिखाया। वि०सं० 1911 तक अनेक स्थलों का भ्रमण कर दयानन्द सरस्वती ने विद्या और योग का अध्ययन किया। इस प्रकार यत्र-तत्र भ्रमण कर स्वामीजी 1912 वि० में प्रथम बार हरिद्वार आए और कुम्भ के मेले को देखा। जब तक मेला चलता रहा स्वामीजी चण्डी पर्वत पर रह कर योगाभ्यास करते रहे। मेले की समाप्ति पर वे ऋषिकेश चले गए। यहाँ भी उन्हें अनेक साधु, सन्त, महात्मा मिले जिनके सत्संग का लाभ उन्हें मिला। यहाँ एक ब्रह्मचारी और दो साधु उनके सम्पर्क में आए। उन्हें लेकर स्वामीजी टेहरी चले गए जो उन दिनों विद्या का प्रसिद्ध केन्द्र था। यहाँ के पण्डितों ने उन्हें भोजन के लिये आमंत्रित किया। जब वे अपने ब्रह्मचारी को लेकर निश्चित स्थान पर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि उक्त पण्डित उनके भोजन के लिये मांसाहार तैयार कर रहा है। इसे देख कर उन्हें अतीव घृणा हुई और वे यह कह कर लौट आए कि मांस को देखना ही उनके लिये रोग का कारण बन जाता है, उसे खाना तो दूर रहा। इतना अवश्य कहा कि यदि ये पण्डित सचमुच उन्हें भोजन कराना चाहते हैं तो वे उनके निवास स्थान पर कुछ फल तथा अन्न भेज दें, उनका ब्रह्मचारी इन वस्तुओं से उनका भोजन बना देगा। ऐसा ही हुआ। यहाँ रहकर स्वामीजी ने पण्डितों से तंत्र ग्रन्थ मँगवा कर देखे। अब तक वे इस साहित्य का अध्ययन नहीं कर पाए थे। जब उन्होंने तंत्रों को सामान्य रूप से देखा तो उन्हें यह जानकर खेद और आश्चर्य हुआ कि इन ग्रन्थों के अधिकांश प्रसंग अत्यन्त आपत्तिजनक तथा जुगुप्सा उत्पन्न करने वाले हैं। इनमें मद्य, मांस-भक्षण तथा अमर्यादित मैथुन को मोक्ष का साधन बताया गया था। इन्हें देखकर स्वामीजी की तंत्रों के बारे में जो धारणा बनी वह जीवनपर्यन्त रही और वे अवसर आने पर इन तंत्रों का प्रमाण देकर बड़े-बड़े पण्डितों को निरुत्तर कर देते।

इसी स्थान पर उनकी गंगागिरि नामक एक सच्चरित्र संन्यासी से भेंट हुई। दोनों स्नेहसूत्र में आबद्ध हो गए। दो मास तक टेहरी में रह कर स्वामीजी अपने साथियों को लेकर केदारघाट होते हुए अगस्त्य मुनि की समाधि पहुँच गए। यहाँ से शिवपुरी नामक पर्वत पर पहुँचे। यहाँ

पर लगभग चार मास तक रहे और अकेले ही केदारघाट आए । पुनः गुप्तकाशी, गौरीकुण्ड तथा भीम गंगा होते हुए त्रियुगी नारायण पहुँचे । यहाँ जब मन नहीं लगा तो केदारघाट आ गए । वे यहाँ के निवासियों से परिचित हो गए थे और यहीं से उन्होंने निकटवर्ती पर्वतीय स्थलों की यात्रा की । स्वामीजी ने सुन रखा था कि हिमशिखरों से आच्छादित इन पर्वतीय चोटियों पर योगी महात्मा रहते हैं । जब वे स्थानीय लोगों से इनका पता पूछते तो लोग अनभिज्ञता प्रकट करते । शीत ऋतु पराकाष्ठा पर थी अतः लगभग बीस दिन इतस्ततः घूम कर स्वामीजी केदारघाट लौट आए । अब वे तुंगनाथ की चोटी पर चढ़े और वहाँ के मंदिर को पुजारियों तथा मूर्तियों से भरा पाया । यहाँ से उसी दिन लौट चले । वापस आने के दो मार्ग थे । एक पश्चिम की ओर जाता था और दूसरा नैऋत्य दिशा में । थोड़ी दूर चल कर वे एक गहन वन में आ गए । यहाँ के सभी नदी-नाले सूखे पड़े थे । मार्ग भी अवरुद्ध हो गया । आगे चल कर वे एक नाले के समीप पहुँच गए । जब एक चट्टान पर खड़े होकर उन्होंने चारों ओर दृष्टि डाली तो सिवाय ऊँची पर्वत-चोटियों के उन्हें और कुछ दिखाई नहीं दिया । इस समय सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा था । उन्हें लगा कि इस कठिन स्थान में शीत निवारण के लिये अग्नि नहीं है और न पीने के लिये पानी । उनके वस्त्र भी फट गए, शरीर काँटों से छिल गया । चलने में कष्ट होने लगा । अन्ततः एक ऊँचे पहाड़ से उतर कर वे मुख्य मार्ग पर आए । तब तक चारों ओर अंधकार छा गया था । आगे एक बस्ती दिखाई दी । यहाँ के रहने वालों से रास्ता पूछा और ऊखी मठ पहुँच कर रात्रि वहीं व्यतीत की ।

प्रातःकाल होते ही उन्होंने गुप्तकाशी की ओर चलने का विचार किया । यहाँ उन्हें अच्छे-अच्छे विद्वान् और योगी मिले जिनसे उन्होंने योग विषयक अनेक बातें सीखीं । इन महात्माओं से विदा लेकर स्वामीजी बद्रीनाथ की ओर गए । इन दिनों यहाँ 'रावल' पदवीधारी जो महन्त थे वे बड़े विद्वान् थे । स्वामीजी की उनसे कई दिनों तक वेदों तथा दर्शनों पर चर्चा होती रही । स्वामीजी को यह जान कर खेद हुआ कि यहाँ कोई विद्वान् योगी नहीं है । रावल जी ने उन्हें बताया कि कभी-कभी कोई विद्वान् भगवान् बद्रीनाथ के दर्शन करने यहाँ आते हैं । स्वामीजी ने निश्चय किया कि वे यहाँ रहकर योगियों की तलाश करेंगे । इसी विचार से वे एक दिन प्रातःकाल चल पड़े और पहाड़ की तराई में अलखनन्दा के तट पर आ पहुँचे । वे नदी के स्रोत की ओर चले । सारा पर्वत बर्फ से ढँका था । बड़ी कठिनाई से नदी के स्रोत तक पहुँचे । यहाँ उन्होंने ऊँची-ऊँची पर्वत-श्रेणियाँ देखीं किन्तु कोई मार्ग नजर नहीं आया । तब उन्होंने नदी को पार करना ही उचित समझा । उनके शरीर पर बहुत हलके वस्त्र थे जबकि भयंकर शीत था । खाने की कोई वस्तु उनके पास नहीं थी किन्तु उन्हें क्षुधा सता रही थी । उन्होंने बर्फ के टुकड़े मुँह में रखे किन्तु उससे क्षुधा-तृप्ति होना सम्भव ही नहीं था । जब वे नदी में उतरे तो बर्फ के तीक्ष्ण टुकड़ों ने उनके पाँवों को घायल कर दिया । उनसे रक्त बहने लगा । भयंकर ठण्ड के कारण पाँव सुन्न हो गए । यहाँ तक कि थोड़ी देर के लिये वे अचेत से हो गए । शीताधिक्य के कारण जब उनकी बेहोशी बढ़ने लगी तो उन्होंने सोचा कि यदि वे एक बार बैठ गए तो पुनः

उठ नहीं सकेंगे । जिस वस्तु की तलाश में उन्होंने घर-परिवार का त्याग किया है, उसे प्राप्त करना असम्भव हो जाएगा । इसी विचार से उन्होंने जैसे-तैसे नदी पार की, परन्तु आगे चलने की शक्ति ही नहीं रही ।

स्वामीजी ने शरीर के वस्त्रों को घुटनों तक लपेट लिया और आगे बढ़े । इस समय उन्हें दो पहाड़ी आदमी मिले । उन्होंने स्वामीजी को प्रणाम किया और उन्हें अपने घर चलने के लिये कहा । स्वामीजी ने इसके लिये उन्हें धन्यवाद दिया और कहा कि मेरी स्थिति ऐसी नहीं है कि मैं चल सकूँ । पहाड़ी व्यक्ति अपने रास्ते चले गए । जब थोड़ी देर बाद उनके शरीर में कुछ चेतना आई तो वे वसुधारा नामक तीर्थ पर आए और रात्रि को आठ बजे बद्रीनारायण मंदिर में पहुँचे । रावलजी को इतनी देर तक स्वामीजी के न पहुँचने के कारण चिन्ता हो गई थी । अब स्वामीजी ने उन्हें दिनभर का सारा वृत्तान्त सुनाया और स्वल्प भोजन के बाद वे सो गए । दूसरे दिन रावलजी से आज्ञा लेकर वे रामपुर की ओर चले गए । रास्ते में एक रात किसी योगी के पास ठहरे । स्वामीजी ने स्वयं लिखा है कि वह बड़ा विद्वान् था और परस्पर वार्तालाप ने उनके इस विचार को और भी दृढ़ कर दिया । दूसरे दिन वे जंगलों और पर्वतों को पार करते हुए रामपुर पहुँचे और रामगिरि नामक साधु के पास ठहरे ।

रामपुर में निवास करने वाला यह साधु बड़ा प्रसिद्ध था किन्तु उसका स्वभाव विचित्र था । उसे रात को नींद नहीं आती थी और समय काटने के लिये वह देर तक खुद से ही बातें करता रहता । किन्तु दूसरों को लगता मानो वह किसी अन्य व्यक्ति से बातें कर रहा है । कई बार वह जोरों से चीखने लगता । जब कोई उसके कमरे में जाता तो वह अकेला ही मिलता । स्वामीजी को उसके इस स्वभाव से आश्चर्य होता । जब उन्होंने उसके शिष्यों से इसका कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि हमारे गुरुजी का स्वभाव ही ऐसा है । रामगिरि से एकान्त में वार्तालाप कर स्वामीजी ने यह निष्कर्ष निकाला कि यह व्यक्ति योग की सिद्धियाँ प्राप्त करना चाहता है, किन्तु इस विद्या की इसे पूरी जानकारी नहीं है ।

यहाँ से चल कर स्वामीजी काशीपुर आए । वहाँ से द्रोणसागर गए और शीतकाल व्यतीत किया । यहाँ एक बार उनके मन में विचार आया कि जीवन निरर्थक है अतः हिमालय की किसी चोटी से कूद कर प्राण दे देना चाहिए । किन्तु तुरन्त ही विचारों में परिवर्तन हुआ और सोचा कि मर जाना तो कोई पुरुषार्थ नहीं है वरन् ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् यदि देह छूटे तो वही श्रेयस्कर होगा । 21 वर्ष का युवक मूलशंकर मृत्यु की औषधि ढूँढ़ने घर से निकला था । 15 वर्षों की कठोर तपस्या, अरण्यों में भ्रमण तथा कठिनाइयों को सहन करके भी यदि लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हुई तो जीवन व्यर्थ ही गया । स्वामीजी ने मन का समाधान कर लिया कि बिना लक्ष्य प्राप्त किए देह त्यागना कायरता है । अतः वे क्षणिक दुर्बलता को छोड़कर लक्ष्य-प्राप्ति के लिये आगे चले । द्रोणसागर से चल कर मुरादाबाद, सम्भल और गढ़मुक्तेश्वर होते हुए वे गंगा के किनारे-किनारे चले आए । उस समय उनके पास जो पुस्तकें थीं उनमें हठयोग के भी कुछ ग्रन्थ थे । वे प्रायः इन्हें पढ़ा करते थे । एक ऐसी ही पुस्तक में उन्होंने शरीरस्थ चक्रों के बारे में पढ़ा किन्तु इस पर

उन्हें विश्वास नहीं हुआ । परन्तु अब उन्हें इसकी परीक्षा करने का अवसर मिल गया । एक दिन उन्होंने गंगा में बहते हुए एक शव को देखा । उनके मन में विचार आया कि शव की शल्य परीक्षा कर हठयोग कथित चक्रों की स्थिति का पता करना चाहिए । उन्होंने शव को बाहर निकाला, एक तेज चाकू से उसे चीरा तथा उसके अंग-प्रत्यंगों को पुस्तक के विवरण से मिलाया । जब उन्हें विश्वास हो गया कि शरीरस्थ अंगों का विवरण हठयोग के ग्रन्थों से भिन्न है तो उन्हें इस विषय की असत्यता का ज्ञान हो गया । फलतः उन पुस्तकों को फाड़ कर शव के साथ ही उन्हें नदी में बहा दिया । इस घटना से यह सिद्ध होता है कि सत्य को जानने और विवेकपूर्वक सत्यासत्य का विवेचन करने में स्वामीजी की कितनी आस्था थी । कहाँ तो हिन्दू संन्यासी की मर्यादाएँ और कहाँ शव जैसी अस्पृश्य वस्तु की चीरफाड़ । सत्य को जानने के इसी आग्रह ने उन्हें महापुरुष बनाया था ।

इस प्रकार गंगा-तट पर कुछ दिन और ठहर कर स्वामीजी 1912 वि० के अन्त में फर्रूखाबाद आ गए । वि० 1913 के आरम्भ में उन्होंने इलाहाबाद और कानपुर के मध्य के कई स्थान देखे । फिर मिर्जापुर तथा काशी में रहे । पुनः विंध्याचल के मंदिर में ठहरे । पश्चात् काशी आए और वरुणा तथा उसी के संगम पर एक गुफा में रहे । यह गुफा अभी स्वामी भवानन्द के अधिकार में है । यहाँ अनेक विद्वानों से उनकी भेंट हुई । यहाँ से चल कर वे चण्डालगढ़ (चुनार) पहुँचे और दुर्गा कुण्ड के मंदिर में उतरे । वहाँ दिन-रात योगसाधना तथा योगविद्या के अध्ययन में लगे रहे । एक दिन उन्होंने चुनार के समीप के एक गाँव के शिवालय में रात बिताई । वे मंदिर के बरामदे में बैठे हुए थे । वहाँ एक विशाल प्रतिमा शिव के वाहन नंदी (वृषभ) की थी । वह खोखली थी । स्वामीजी ने अपने वस्त्र और पुस्तक उस मूर्ति के उदर में रख दिए । उन्होंने देखा कि एक आदमी प्रतिमा के खोखले पेट में छिपा बैठा है । उन्होंने उसकी ओर हाथ फैलाया तो वह डर कर भाग गया । अब स्वामीजी उस प्रतिमा के खोखले भाग में जाकर बैठ गए । प्रातः होने पर एक वृद्ध स्त्री ने मंदिर में जाकर नंदी की पूजा की और उसे दही तथा गुड़ का भोग लगाया । स्वामीजी ने उस प्रसाद को खाकर अपनी क्षुधा शान्त की ।

चैत्र सं० 1914 में वे नर्मदा के स्रोत की ओर गए और चलते-चलते एक निर्जन वन में जा पहुँचे । यहाँ कुछ ग्रामवासियों की झोंपड़ियाँ थीं । इनमें से एक व्यक्ति ने उन्हें बुला कर दूध पिलाया । वहाँ से वे जंगल में घुसे और डेढ़ मील की दूरी पर बेरियों के ऐसे कुञ्ज में जा पहुँचे जहाँ वृक्षों की सघनता के कारण आगे का मार्ग भी दिखाई नहीं पड़ता था । यहाँ उनका सामना एक रीछ से हुआ । वह चिंघाड़ता हुआ पाँवों के बल खड़ा होकर उन पर झपटा । स्वामीजी ने डण्डे से अपना बचाव किया । उसी समय समीपवर्ती वनवासी अपने जंगली कुत्तों को लेकर आ गए और इस तरह रीछ को भगा दिया । इन लोगों ने स्वामीजी से आगे न जाने की विनय की और कहा कि इस जंगल में हाथी, शेर, रीछ आदि वन्य पशु रहते हैं । स्वामीजी आगे जाने के लिये कृतसंकल्प थे अतः वनवासियों द्वारा दी गई एक लम्बी लाठी लेकर वे आगे चल पड़े ।

सारा दिन चलने पर भी उन्हें मनुष्यों की बस्ती कहीं नजर नहीं आई । आगे काँटेदार बेरों के घने वृक्ष थे । इससे पार होने के लिये उन्हें घुटनों के बल चलना पड़ा । उनका शरीर जख्मी हो गया और वे अधमरे से हो गए । उधर संध्याकाल हुआ, चारों ओर अँधेरा छा गया किन्तु उनका आगे बढ़ना जारी रहा । अब वे एक ऐसी जगह आए जो पर्याप्त भयानक थी तथा चारों ओर ऊँची-ऊँची पर्वतमालाओं से घिरी थी । यहाँ उन्हें मनुष्यों के रहने के चिह्न दिखाई दिए और उन्होंने कुछ झोंपड़ियाँ देखीं । वहाँ एक स्वच्छ पानी का जलस्रोत भी था तथा समीप ही बकरियाँ चर रही थीं । इन झोंपड़ियों में रहने वाले लोगों ने उनसे वहीं रह कर रात्रि-विश्राम के लिये कहा, परन्तु स्वामीजी एक वृक्ष पर चढ़ गए और रात वहीं बिताई । प्रातःकाल होते ही वहाँ से उतरे और नदी तट पर जाकर चोट लगे अपने पाँवों को धोया । अब वे उपासना के लिये बैठे ही थे कि उन्होंने किसी जंगली जानवर की गर्जना सुनी जो वास्तव में एक गाड़ी की आवाज थी । थोड़ी देर में देखा कि अनेक नर-नारियों का समूह गायों और बकरियों के साथ कोई जातिगत रस्म पूरी करने के लिये उधर से जा रहा है । जब उन्होंने स्वामीजी को देखा तो वे सब उनके समीप आ गए और एक व्यक्ति ने उनसे पूछा कि उनका आगमन कहाँ से हुआ ? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि वे काशी से आ रहे हैं और नर्मदा के स्रोत की ओर उन्हें जाना है । इसके बाद वे लोग तो चले गए और स्वामीजी अपनी उपासना में लगे । लगभग आधा घण्टे बाद उन लोगों का मुखिया अपने साथ दो लोगों को लेकर आया और उनसे आग्रह किया कि वे चल कर उनकी झोंपड़ी को पवित्र करें तथा उन्हें अतिथि-सत्कार का अवसर दें । स्वामीजी ने अनिच्छा प्रकट की तो उस मुखिया ने अपने साथ वालों को आज्ञा देकर समीप ही आग की धूनी जलवा दी और रातभर उनकी रक्षा के लिये वहीं रहने के लिये भी कहा । उत्तर में महाराज ने बताया कि वे केवल दूध ही पीते हैं । इस पर वह व्यक्ति स्वामीजी का कमण्डल दूध से भर लाया । स्वामीजी ने दुग्धपान किया और रात को निश्चिन्त होकर सोये । सवेरे संध्या-वंदनादि से निवृत्त होकर आगे चल पड़े । नर्मदा तट पर भ्रमण के समय ही उन्हें मथुरा के दण्डी विरजानन्द की योग्यता तथा उनके अपूर्व शास्त्रज्ञान का परिचय मिला । फलतः वे मथुरा की ओर चल पड़े ।

मथुरा में स्वामी विरजानन्द से विद्या-प्राप्ति

स्वामी विरजानन्द मूलतः पंजाब के द्वाबा क्षेत्र (जिला जालंधर) के एक ग्राम गंगापुर (करतारपुर के निकट) के निवासी थे । बाल्यावस्था में ही शीतला से आक्रान्त होने के कारण वे दृष्टिहीन हो गए थे । नेत्रों की शक्ति चाहे चली गई किन्तु उनके अन्तःचक्षु खुल गए जिससे उन्हें असामान्य प्रकाश मिला । माता-पिता की मृत्यु हो जाने के कारण लगभग 11 वर्ष की आयु में वे अनाथ हो गए । अब यह अंधा तथा अनाथ बालक अपने बड़े भाई की शरण में जीवन काटने लगा । अब उसके लिये घर में कोई आकर्षण नहीं रहा । अन्ततः वह भाई और भौजाई के कठोर व्यवहार को सहन न करने के कारण एक दिन घर से निकल गया और दर-दर की ठोकरें खाता हुआ हरिद्वार आ पहुँचा । यहाँ उसने संस्कृत का अध्ययन किया और शीघ्र ही उसमें निपुणता प्राप्त कर ली । स्वामी दयानन्द अपने गुरु को विद्या का सूर्य कहा करते थे । विरजानन्द

भी दण्डी संन्यासी थे और दण्डीजी के नाम से ही विख्यात थे। इन्हीं स्वामी विरजानन्द का विद्या में बड़ा नाम सुन कर स्वामीजी मथुरा आए। अपनी आत्मकथा में स्वगुरु के बारे में स्वामी दयानन्द लिखते हैं, "सं० 1917 वि० को मथुरा में एक संन्यासी सत्पुरुष मुझे मिले। उस समय उनकी आयु 81 वर्ष की थी। उनकी वेद तथा आर्ष शास्त्रों में बड़ी रुचि थी। वे नेत्रहीन थे और उन्हें कौमुदी, शेखर आदि आधुनिक व्याकरण ग्रन्थों से चिढ़ थी। वे भागवत आदि आधुनिक पुराणों का भी तिरस्कार करते थे। समस्त आर्ष ग्रन्थों में उनकी बड़ी भक्ति थी।"

स्वामी दयानन्द यमद्वितीया (भाईदूज) कार्तिक शुदि 2, सं० 1817 तदनुसार 14 नवम्बर 1860 को मथुरा आए और सीधे दण्डीजी के निवास में गए। दण्डीजी के पूछने पर उन्होंने बताया कि अब तक सारस्वत आदि ग्रन्थ उन्होंने पढ़े हैं। दण्डीजी ने कहा कि इन्हें यमुना में फेंक आओ। उनसे यह भी प्रतिज्ञा कराई कि आगे से वे मनुष्य रचित ग्रन्थों को प्रमाण नहीं मानेंगे। स्वामीजी ने ऐसा ही किया। तब दण्डीजी ने उन्हें पढ़ाना आरम्भ किया और 31 रुपये की राशि एकत्र कर उनके लिये महाभाष्य की पुस्तक मँगाई।

स्वामीजी अभी मथुरा में ही थे कि उत्तर भारत में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। लोगों के लिये जीवन-निर्वाह कठिन हो गया। छात्रों के लिये तो अधिक कठिनाई थी। स्वामीजी ने यह समय जैसे-तैसे काटा। दुर्गा खत्री के यहाँ से कभी चने या चने की रोटी लाकर क्षुधापूर्ति करते। कुछ दिन पश्चात् जोशी अमरलाल नामक एक उदार व्यक्ति ने उनके भोजन तथा पुस्तकों की व्यवस्था कर दी। जोशी जी ने स्वामीजी को निरन्तर अपने घर भोजन करने के लिये कहा। यदि वे स्वयं कार्यवश कहीं बाहर भोजन को जाते तो पहले उन्हें स्वगृह पर भोजन कराते, बाद में स्वयं अन्यत्र जाते। इस व्यक्ति के उपकार को स्वामीजी कभी नहीं भूले। जोशी अमरलाल दानी तथा उदार प्रकृति का था। ऐसा प्रसिद्ध है कि उसके यहाँ नित्य सौ-सवा सौ लोग भोजन करते थे। अमर-लाल जैसे उदारमना पुरुष को स्वामीजी ने भावी जीवन में कृतज्ञतापूर्वक याद किया।

वे रात के समय भी अध्ययन करते। लाला गोवर्धनदास ने मासिक तेल के लिये उन्हें चार आने देने का वचन दिया। एक अन्य व्यक्ति उन्हें दूध के लिये दो रुपये मासिक देता था। स्वामी विरजानन्द क्रोधी स्वभाव के थे, इसलिये उन्होंने कभी-कभी पाठ विस्मृत हो जाने पर क्रोधवश उन्हें अपने स्थान से चले जाने का आदेश दिया, परन्तु गुरु के प्रति असीम श्रद्धावश स्वामीजी कभी नहीं गए। कहते हैं कि एक बार स्वामी विरजानन्द का वैष्णव आचार्य (रंगाचार्य) से शास्त्रार्थ हुआ तो स्वामी दयानन्द भी उनके साथ थे। रंगाचार्य का एक शिष्य जब अशुद्ध संस्कृत बोलने लगा तो स्वामीजी ने उसे टोक दिया। स्वामी विरजानन्द ने उन्हें ऐसा करने से मना कर दिया। यह प्रसिद्ध है कि कठोर स्वभाव होने के कारण दण्डीजी कभी-कभी स्वामीजी की ताड़ना भी करते थे। एक बार जब उन्हें लाठी मारी तो स्वामी दयानन्द ने कहा कि आप मुझे न मारें क्योंकि मेरा शरीर तो कठोर है इसलिये उस पर प्रहार करने से आपको ही कष्ट होता होगा। इस चोट के कारण उनके शरीर पर जो निशान बन गया था उसे दिखा कर वे अपने गुरु के उपकारों को स्मरण करते थे।

विद्यार्थी काल में स्वामी दयानन्द ने स्वगुरु की बड़ी सेवा की थी । वे उनके स्नान और पीने के लिये यमुना से जल लाते । उनका विद्यार्थी जीवन नियम और अनुशासन से पूर्ण था । रात को 11 बजे तक पढ़ते । वे एक ईश्वर की उपासना तथा मूर्तिपूजा के खण्डन की चर्चा अपने सहपाठियों से करते । लगभग अढ़ाई वर्षों तक स्वामीजी ने दण्डीजी से अध्ययन किया । इस समय उन्होंने अष्टाध्यायी, महाभाष्य तथा वेदान्त का अध्ययन किया । जब अध्ययन समाप्त हुआ और विदाई की बेला आई तो वे कुछ लौंग भेंट रूप में देने के लिये गुरु के समीप आए जबकि अन्य विद्यार्थी बहुमूल्य भेंटें लेकर उपस्थित हुए थे । स्वामीजी ने इसी भेंट को गुरु के समक्ष रख कर कहा कि मुझ अकिंचन के पास अन्य कुछ नहीं है जो आपको प्रस्तुत करूँ । इस पर दण्डीजी ने कहा कि वे तो उनसे वही माँगेंगे जो उनके पास है । इस पर स्वामीजी ने कहा कि वे यथा-सामर्थ्य वह वस्तु उन्हें अवश्य देंगे । अब स्वामी विरजानन्द ने कहा, "पुत्र, तुमने जो अध्ययन किया है उसकी सफलता तभी है जब तुम देश का सुधार करो । वेद की विद्या लुप्त हो गई है, इसका पुनः प्रचार करो । सत् शास्त्रों की शिक्षाओं को फैलाओ । मतमतान्तरों को समाप्त कर वास्तविक वेद धर्म का प्रचार करो । सदा याद रखना कि मनुष्यकृत ग्रन्थों में परमेश्वर तथा ऋषियों की निंदा भरी है । ऋषिकृत ग्रन्थ अत्यन्त सुबोध तथा विद्यायुक्त हैं । आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों में विवेक करना और इसी कसौटी से सत्धर्म को परखना तथा उसका प्रचार करना ।"

स्वामीजी ने गुरु के आदेश को विनयपूर्वक स्वीकार किया और उसे पूरा करने का वचन भी दिया । गुरु का आशीर्वाद लेकर वे चल पड़े । स्वामीजी ने गुरु के समक्ष की गई स्वप्रतिज्ञा को कैसे पूरा किया इसका साक्षी तो सारा देश है । सहस्रों क्लेश उठा कर भी वे स्वकर्त्तव्य से कभी विचलित नहीं हुए । स्वामी दयानन्द ने यह महत्त्वपूर्ण कार्य उस समय किया जब उनका कोई सहायक भी नहीं था । दण्डीजी भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने अत्यन्त वृद्ध होने पर भी देश की दुरवस्था को देखा तथा उसके निवारण के लिये दक्षिणा रूप में देशोपकार का व्रत दयानन्द से ले लिया तथा उनको इसकी पूर्ति में सफल होने का आशीर्वाद भी दिया । स्वामीजी के हृदय में गुरु के प्रति श्रद्धाभाव जीवन पर्यन्त रहा । दण्डीजी के समीप रह कर विद्या प्राप्त करना और यहाँ से विदा होना स्वामीजी के ब्रह्मचर्य काल (शिक्षा काल) की समाप्ति समझी जानी चाहिए ।

द्वितीय भाग

स्वामी दयानन्द का कार्यक्षेत्र में प्रवेश

वैशाख सं० 1920 से वैशाख सं० 1924 वि०

मथुरा में शिक्षा समाप्त कर एवं गुरु से धर्मप्रचार की आज्ञा लेकर स्वामीजी वैशाख 1920 वि० में आगरा आए। यहाँ वे यमुना के किनारे लाला रूपचंद के पुत्र गुल्लामल अग्रवाल के बाग में उतरे। यदाकदा स्वयं जाकर या पत्र लिख कर वे अपनी शंकाओं का समाधान स्वामी विरजानन्द से कर लेते थे। उसी समय कैलास पर्वत नामक एक संन्यासी भी उसी बाग में आकर ठहरे। एक दिन उक्त स्वामीजी गीता के एक श्लोक का अर्थ श्रोताओं को सुना रहे थे किन्तु सुनने वालों को उससे संतोष नहीं हो रहा था। किसी ने स्वामी दयानन्द से इसका अर्थ करने के लिये कहा, जिस पर उन्होंने उसका अर्थ ऐसी उत्तम रीति से बताया, जिससे सबको सन्तोष हो गया। स्वामी कैलास पर्वत ने भी स्वामीजी की प्रशंसा की और कहा कि यदि लोगों को कुछ पढ़ना है तो वे इन्हीं से पढ़ें। तब से अनेक व्यक्ति स्वामीजी से पढ़ने के लिये आने लगे। जब गीता की कथा समाप्त हो गई तो श्रोताओं की इच्छा के अनुसार स्वामीजी ने 'पञ्चदशी' की कथा आरम्भ की। यह नवीन वेदान्त की प्रसिद्ध पुस्तक है। इसमें एक जगह लिखा था कि ईश्वर भी माया के वश होकर भ्रम में पड़ जाता है। स्वामीजी ने यह देख कर पुस्तक का पाठ बंद कर दिया और कहा कि यह अनार्ष रचना है और मेरे गुरु की आज्ञा है कि ऋषिप्रणीत ग्रन्थ ही पाठ के लिये उपयुक्त हैं।

आगरा में रहते हुए उन्होंने संध्या विधि की एक पुस्तक लिखी जिसे लाला रूपलाल ने 30 हजार की संख्या में छपवाया और मुफ्त में बँटवाया। स्वामीजी का यह आगरा निवास लगभग दो वर्ष का रहा। यहाँ से वे धौलपुर (सं० 1921) आये और वहाँ से चार विद्यार्थियों के साथ ग्वालियर आ गए। 1865 ई० के आरम्भ में ग्वालियर के महाराजा ने श्रीमद्भागवत का साप्ताहिक पाठ आयोजित किया था। स्वामीजी के आने का समाचार सुन कर महाराजा ने किसी को भेज कर उनसे भागवत-श्रवण का माहात्म्य पूछा। स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि इससे क्लेश के सिवाय और क्या मिलेगा। उत्तर सुन कर महाराजा ने इतना ही कहा कि आप समर्थ हैं, इसलिये कुछ भी कह सकते हैं, किन्तु अब तो भागवत पारायण की तैयारियाँ पूरी हो गई हैं, इसलिये इसे रोकना सम्भव नहीं। स्वामीजी ने कहा—भागवत पाठ की अपेक्षा तो गायत्री का पुरश्चरण करायें। महाराजा ने इसे टाल दिया और भागवत पारायण का निश्चय पक्का कर

लिया। स्वामीजी ने अब भागवत का खण्डन आरम्भ किया। अनेक लोग उनका यह उपदेश भी सुनने आते थे। जिस रात्रि को भागवत पाठ की समाप्ति हुई और सारे नगर में उत्साह का वातावरण बना किन्तु दुर्योगवश उसी रात महारानी का पाँच मास का गर्भ गिर गया। उधर इसी मास में नगर में विशूचिका फैल गई, जिससे अनेक लोगों की मृत्यु हो गई।

स्वामीजी ग्वालियर से चल कर करौली आए और वहाँ से जयपुर पहुँचे। यहाँ एक बाग में डेरा किया। तीन-चार शास्त्रार्थ किए जिनसे इनकी विद्वत्ता का परिचय स्थानीय विद्वानों को मिला। अचरौल के ठाकुर रणजीतसिंह ने स्वामीजी को अपने यहाँ आमंत्रित किया और उनसे उपदेश सुना। ठाकुर का मन मूर्तिपूजा से विरत हो गया। अब वे उनसे मनुस्मृति तथा उपनिषदों का श्रवण करने लगे। स्वामीजी की इस कथा में अनेक लोग आते और उनकी प्रवचन शैली से प्रभावित होते। ठाकुर रणजीतसिंह के कामदार मुन्शी हीरालाल ने इस उपदेश से प्रभावित होकर मदिरापान त्याग दिया।

जयपुर से चल कर 1932 वि० (कार्तिक) में स्वामी अजमेर के निकट पुष्कर आए[1] और ब्रह्मा के मंदिर में ठहरे। यहाँ भी उन्होंने मूर्तिपूजा का प्रबल खण्डन किया, किन्तु शास्त्रार्थ के लिये कोई ब्राह्मण पण्डित सामने नहीं आया। उन्होंने पं० वैकुण्ठ शास्त्री से सम्पर्क किया और उनसे शास्त्रार्थ करने के लिये कहा। उसने स्वामीजी के स्थान पर जाकर शास्त्रार्थ करना स्वीकार नहीं किया तो महाराज स्वयं ही शास्त्रीजी के स्थान पर चले गए। शास्त्रार्थ सुनने के लिये लगभग 400 ब्राह्मण एकत्रित हो गए। विचार का विषय था भागवत। शास्त्रीजी ने भागवत के समर्थन में कुछ कहा तो स्वामीजी ने प्रबल युक्तियों से उनके कथन का खण्डन किया। इस पर वैकुण्ठ शास्त्री शास्त्रार्थ के मूल विषय से हट कर व्याकरण विषय पर आ गए। स्वामीजी तो व्याकरण के अद्वितीय विद्वान् थे। अन्ततः प्रतिवादी को पराजित होना पड़ा। अब शास्त्रीजी उन्हें अपने गुरु के पास ले गए। उसने भी स्वामीजी के पक्ष को ही सत्य कहा। इस पर वैकुण्ठ शास्त्री ने भी स्वामीजी के कथन की सत्यता मानी किन्तु इतना अवश्य कहा कि इनके मत का प्रचार तब होगा जब कोई राजा इनका शिष्यत्व स्वीकार करेगा।

पुष्कर से स्वामीजी अजमेर आये। यहाँ उन्होंने शैव मत का खण्डन आरम्भ किया। जब पण्डितों ने उनके सामने आने में अपने को असमर्थ पाया तो अपनी झेंप मिटाने के लिये निम्न दो प्रश्न संस्कृत में लिखकर उनके पास भेजे—

(1) संन्यासी को किसी स्थान पर दो दिन से अधिक नहीं ठहरना चाहिए।
(2) बग्घी पर संन्यासी को नहीं बैठना चाहिए। आप ऐसा क्यों करते हैं ?

स्वामीजी ने दोनों प्रश्नों का उत्तर तो भेजा ही साथ ही पण्डितों के पत्र में आई त्रुटियाँ भी

---

1. स्वामीजी के देहान्त के पीछे इस पुस्तक का कर्त्ता (लाजपतराय), पं० गुरुदत्त, लाला हंसराज, लाला ज्वालासहाय तथा अन्य कई महाशयों के साथ सैर करने को पुष्कर गया था ! उस समय पता चला कि यहाँ के पण्डितों ने स्वामीजी को दुर्वचन कहे थे। —ग्रन्थकार

लिख भेजीं । अजमेर में पादरी ग्रे, राबिन्सन तथा शलवर्टन से तीन दिन तक स्वामीजी ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा वेद पर चर्चा करते रहे, किन्तु उनके युक्तिपूर्ण कथन का खण्डन पादरी लोग नहीं कर सके । एक दिन स्वामीजी स्वयं पादरी राबिन्सन से भेंट करने गए तो पादरी ने उसने ब्रह्मा के स्वपुत्रीगमन विषयक पौराणिक संदर्भ के बारे में पूछा । स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि इस नाम का कोई अन्य व्यक्ति रहा होगा । ब्रह्मा तो महर्षि थे । पादरी साहब स्वामीजी की विद्या को स्वीकार करते थे । उन्होंने निम्न प्रशंसापत्र लिख कर स्वामीजी को अर्पित किया—"ये प्रसिद्ध महानुभाव वेदों के बड़े विद्वान् हैं । हमने अपने सारे जीवन में ऐसा विद्वान् पण्डित नहीं देखा । ऐसे मनुष्य संसार में दुर्लभ हैं । जो भी इनसे मिलेगा उसे निश्चित लाभ होगा । जो इनसे भेंट करे, वह आदरपूर्वक मिले ।"

अजमेर में स्वामीजी डिप्टी कमिश्नर डेविडसन से भी मिले । उनसे कहा कि मतमतान्तरों के लोग ब्रिटिश प्रजा को लूट कर खा रहे हैं । राजा तो प्रजा का पिता होता है, आपको इसका प्रबंध करना चाहिए । अधिकारी अंग्रेज ने उत्तर दिया, यह धर्म का मामला है अतः हम या हमारी सरकार इसमें दखल नहीं देते । यहीं पर आपकी गवर्नर-जनरल के एजेंट से भी मुलाकात हुई । बातचीत में स्वामीजी ने उनसे गोरक्षा की उपयोगिता तथा आवश्यकता की चर्चा की । उक्त महाशय ने व्यक्तिशः स्वामीजी के कथन से सहमति प्रकट की परन्तु यह भी कहा कि गोवध को रुकवाना मेरे अधिकार में नहीं है । यह कह कर एक पत्र लिख कर दिया कि इसे पढ़ कर प्रत्येक अंग्रेज अधिकारी आपकी बात सहानुभूतिपूर्वक सुनेगा । स्वामीजी स्त्रियों को अपने समीप नहीं आने देते थे । जब अजमेर में अनेक महिलाएँ उपदेश श्रवणार्थ आईं तो आपने कहा कि वे तो नारियों को प्रत्यक्ष उपदेश नहीं करेंगे । अच्छा हो, वे अपने पतियों को उनके निकट भेज दें । वे उन्हें अवश्य उपदेश देंगे जिसका लाभ उन्हें भी मिल जाएगा ।

जयपुर के महाराजा रामसिंह ने स्वामीजी को बुलाया और कहा कि वहाँ आकर वे वैष्णवाचार्य रंगाचार्य से शास्त्रार्थ करें । स्वामीजी जयपुर तो आये किन्तु महाराजा ने उनसे भेंट नहीं की । वे यह जानकर रुष्ट हो गए कि स्वामी दयानन्द शैवमत तथा मूर्तिपूजा दोनों का ही खण्डन करते हैं । यों उन्होंने स्वामीजी को भेंट के लिये राजप्रासाद में आमंत्रित भी किया किन्तु राजपण्डितों के बहकावे में आकर मंत्रणाकक्ष में नहीं आए । उधर पण्डितों ने स्वामीजी को कहला दिया कि महाराजा बाहर गए हैं । स्वामीजी को वास्तविकता का पता चल गया और वे अपने डेरे पर यह कह कर चले गए कि हमें महाराजा से क्या लेना-देना है ।

नवम्बर '66 में आगरे में एक शाही दरबार होने वाला था । देश के समस्त राजा यहाँ आए हुए थे । स्वामीजी ने उपदेश के लिये इस अवसर को उपयुक्त समझा और आगरा गए । यहाँ आकर भागवत खण्डन में उन्होंने एक लघु ट्रैक्ट संस्कृत में लिखा और इसकी कई हजार प्रतियाँ छपवाकर मुफ्त बाँटीं । पर्याप्त संख्या में इसकी प्रतियाँ हरिद्वार में वितरित करने के लिये अपने पास रख लीं । इन दिनों उनके पास अध्ययन के लिये पाँच विद्यार्थी रहते थे ।

आगरा से गुरु विरजानन्द से मिलने के लिये मथुरा आए। भेंट के समय दो स्वर्ण मुद्राएँ और मलमल का थान दण्डीजी को अर्पित किया। भागवत पर लिखी पुस्तक सुनाई और हरिद्वार के मेले में प्रचारार्थ जाने की आज्ञा माँगी। स्वामी विरजानन्द प्रसन्न हुए और आशीर्वाद दिया। दण्डीजी से स्वामीजी की यह अन्तिम भेंट थी।

हरिद्वार की यात्रा

हरिद्वार में प्रति 12 वर्षों के पश्चात् कुम्भ का मेला होता है जिसमें भारत के लाखों हिन्दू गंगा-स्नान तथा धर्मलाभ के लिये एकत्र होते हैं । 1924 वि० के वैशाख मास का यह कुम्भ था । स्वामीजी मेले से एक मास पहले 12 मार्च 1867 को हरिद्वार पहुँच गए । वे ऋषिकेश के मार्ग में सप्त सरोवर के पास एक बाड़ा बाँध कर ठहरे । यहाँ साधुओं के लिये सात-आठ छप्पर डलवाए गए और डेरे के प्रवेश-द्वार पर एक पताका गाड़ दी गई । इस पर 'पाखण्ड-खण्डनी' अंकित था ।

कुम्भ के अवसर पर हजारों साधु-सन्त तथा अनेक सम्प्रदायों के आचार्य, मठाधीश तथा महन्त आए थे । काशी के गौड़ीय मठ के स्वामी विशुद्धानन्द भी आए थे, जिनकी हिन्दुओं में बड़ी प्रतिष्ठा थी । स्वामी विशुद्धानन्द ने पुरुष सूक्त के मंत्र 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' का अर्थ करते हुए कहा कि ब्राह्मण परमात्मा के मुख से उत्पन्न हुआ है । स्वामीजी ने जब यह सुना तो इस अर्थ का खण्डन किया और जो वास्तविक अर्थ बताया उससे श्रोता प्रसन्न हुए । उन्होंने कहा कि ब्राह्मण मुख से पैदा नहीं हुआ, अपितु वह समाज में मुख के तुल्य महत्त्व रखता है । पौराणिकों के गढ़ तुल्य हरिद्वार के इस धर्म मेले में स्वामीजी निर्भय होकर मतमतान्तरों का खण्डन करते और उपनिषदों के प्रमाण देकर एकेश्वर उपासना का प्रचार करते थे । यह उनके जैसे निर्भीक संन्यासी के लिये ही सम्भव था कि विरोधियों में अकेले ही खड़े होकर मूर्तिपूजा, अवतार, तीर्थ आदि मिथ्या विश्वासों का तीव्र खण्डन करते । सभी वर्गों के लोग उनका उपदेश सुनने के लिये आते । महर्षि दयानन्द के इस पाखण्ड खण्डन की प्रशंसा में आर्यसमाज के प्रथम कवि अमीचंद ने लिखा—

उपज्यो दण्डी छिपे पाखण्डी, डरे घमण्डी धूर्त अन्यायी ।
विद्या पाकर निकला दिवाकर, तिमिर हटाकर ज्योति दिखाई ।
आये हैं स्वामी दयानन्द नामी, गर्ज सभा में सिंह की न्याई ।
सत का मण्डन, दम्भ का खण्डन कर, पाँव तलक की धूल उड़ाई ।
डरे हैं प्रमादी अनीश्वरवादी, पौराणिक दिन राम दुहाई ।
बड़े-बड़े नास्तिक होकर आस्तिक, हाथ जोड़ आए शरणाई ।
वेदों के बल से युक्ति प्रबल से, कलियुग की काया पलटाई ।
योगीश्वर महर्षि आत्मदर्शन जिनके हिस्से में आई ॥

इसी अवसर पर स्वामी महानन्द सरस्वती उनसे मिले और शंका-समाधान के पश्चात् उनके अनुयायी बन गए। लाखों आर्यों ने स्वामीजी के उपेदश सुने, बहुतों ने उनको अपशब्द भी कहे। जो गृहस्थ उनके दर्शनार्थ जाते वे कुछ न कुछ फल, मिठाई आदि भेंट रूप में ले जाते, जिसे सायंकाल स्वामीजी उपस्थित लोगों तथा दीनजनों में बाँट देते। कुम्भ में पौराणिक मत के यथार्थ किन्तु भ्रष्ट रूप को देखकर स्वामीजी के हृदय में नैराश्य का भाव आ गया। वे सोचने लगे कि क्या इस साम्प्रदायिक विभ्राट् का वे खण्डन करने में समर्थ हैं! भीतर से आवाज आई, अभी और तप करना चाहिए। तपस्या करो, जो कुछ विद्या पढ़ी है उस पर विचार करो और उसके पश्चात् कर्त्तव्य का निर्धारण करो। इस अन्तरंग वाणी को सुन कर स्वामीजी ने एक बार 'सर्वं वै पूर्णं स्वाहा' कहा और उपदेश के पश्चात् अपनी वाणी को विराम दिया। जो कुछ धन, वस्त्र, बिस्तर आदि थे, उन्हें लोगों में बाँट दिया। महाभाष्य की एक प्रति, 25 रुपये तथा कपड़े का एक थान गुरुजी के पास भेज दिया। स्वयं मात्र एक कौपीन पहन, शरीर पर रजकण धारण कर, अवधूतावस्था में गंगा के किनारे-किनारे चल पड़े। दिनभर गंगा की रेती पर एकान्त में विचरते, जो कुछ खाने को मिलता, उसे खा लेते। एक दिन काफी समय पश्चात् एक किसान ने तीन बैंगन दिये तो उन्हें ही खाकर क्षुधा शान्त की। अब वे गंगा के किनारे आगे बढ़ गये।

गंगा-तट पर उपदेश

वैशाख सं० 1924 वि० से कार्तिक सं० 1926 वि० तक

स्वामी दयानन्द अढ़ाई वर्षों तक गंगा के किनारे-किनारे भ्रमण कर उपदेश देते रहे । उनकी प्रतिज्ञा थी कि केवल संस्कृत ही बोलेंगे, शीत, ऊष्ण आदि की चिन्ता किए बिना मात्र एक कौपीन धारण करेंगे तथा भोजन के लिये किसी से याचना नहीं करेंगे । इस गांगेय तटवर्ती प्रदेश में उन्होंने लोगों को संध्योपासना तथा गायत्री का उपदेश दिया । कभी-कभी वे मनुस्मृति तथा उपनिषदों की कथा भी किया करते । इस समय वे सर्वतंत्र स्वतंत्र थे । यथेच्छ किसी स्थान पर ठहर जाते और बिना सूचना दिए अगले स्थान के लिये चल पड़ते । लोगों को अग्निहोत्र करने की प्रेरणा देते और द्विजों को यज्ञोपवीत धारण कराते । सैकड़ों मनुष्यों ने उनसे गायत्री व संध्या सीखी । इसी भ्रमण क्रम में वे कानपुर गए और वहाँ से अनेक स्थानों पर विचरण करते हुए कर्णवास आए । इस अवधि में वे रामघाट, सोरों, पटवाली, कम्पिल, अनूपशहर, बैलोन, छलेसर, कासगंज, ककोड़ा, शहबाजपुर, कादरगंज, कायमगंज, नरौली, फर्रूखाबाद, कन्नौज, मदारपुर आदि स्थानों पर गए ।

इन दिनों वे आठ गप्पों का खण्डन करते थे और आठ सत्यों का मण्डन करते थे । जिन दुराचारों का खण्डन करते उन्हें वे गप्प कहते । कर्णवास में एक बड़ा यज्ञ उनके निर्देशन में हुआ । यहाँ चालीस ब्राह्मणों को गायत्री जप के लिये बुलाया गया । तत्पश्चात् स्वामीजी की कुटिया के समीप हवन कुण्ड का निर्माण हुआ और अनूपशहर के कर्मकाण्डी ब्राह्मणों ने ब्रह्मा, होता, ऋत्विक् आदि के रूप में यज्ञ कराया । इस अवसर पर अनेक ठाकुरों तथा ब्राह्मणों का यज्ञोपवीत कराया गया तथा यज्ञ समाप्त होने पर यज्ञशेष वितरित हुआ । दूसरा यज्ञ फर्रूखाबाद में चैत्र सं० 1926 (मार्च 1869) में हुआ जिसमें लाला जगन्नाथ प्रसाद रईस का यज्ञोपवीत कराया गया । इस यज्ञ में प्रायश्चित्त कर्म के लिये 11 पण्डित नियत किए गए जो प्रातःकाल से पहले ही एक हजार गायत्री जप करते, फिर यजमान से एक हजार गायत्री का जप करवाते । तदनन्तर हवन होता । इस प्रकार प्रायश्चित्त कर्म सम्पन्न होने पर यज्ञोपवीत दिए गए । संस्कार से पूर्व उन्हें उपवास कराया गया था ।

अढ़ाई वर्षों की इस अवधि में अनेक छोटे-बड़े शास्त्रार्थ भी होते रहे । स्वामीजी जहाँ भी जाते मूर्तिपूजा आदि पौराणिक कृत्यों का निर्भयतापूर्वक खण्डन करते । ब्राह्मणों का क्रुद्ध होना तो

स्वाभाविक ही था, किन्तु उनके समक्ष आने का साहस किसी में नहीं था । वे लोग अन्य स्थानों से अपने से अधिक विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिये बुलाते और स्वामीजी से भिड़ने के लिये प्रेरित करते । अनेक स्थानों पर ईसाई तथा मुसलमानों से भी शास्त्रार्थ होते । इन शास्त्रार्थों में पाँच विशेष प्रसिद्ध हैं, इनका विवरण यहाँ दिया जा रहा है—

(1) यह शास्त्रार्थ पं० हीरावल्लभ से कर्णवास में हुआ । पण्डितजी अपने साथ शालिग्राम, बालमुकुन्द आदि की मूर्तियाँ साथ लाए और प्रतिज्ञा करते हुए कहा कि स्वामीजी के हाथ से इनकी पूजा कराएँगे । निरन्तर छः दिन तक शास्त्रार्थ चलता रहा । अन्त में पं० हीरावल्लभ ने विनम्रतापूर्वक अपनी पराजय स्वीकार कर ली और स्वयं मूर्तियों को गंगा में प्रवाहित कर दिया । इस शास्त्रार्थ की बहुत धूम रही । लोगों की श्रद्धा मूर्तिपूजा के प्रति समाप्त हो गई और उन्होंने भी अपनी मूर्तियों को गंगा में विसर्जित कर दिया । कई मंदिर खाली हो गए । पुजारियों को जीविका के लाले पड़ने लगे । ये लोग स्वामीजी के खून के प्यासे होकर उनके इर्दगिर्द बदले की तलाश में घूमने लगे । गंगा किनारे की बस्तियों में कोलाहल मच गया । ठाकुर मुकुन्दसिंह रईस छलेसर ने अपने राज्य के मंदिरों से प्रतिमाओं को विदा कर दिया ।

(2) दूसरा शास्त्रार्थ सं० 1925 में सोरों (जिला एटा) में पं० अंगदराम शास्त्री से हुआ । ये पण्डित अंगदराम बड़े विद्वान् वैयाकरण तथा पण्डितों के शिरोमणि माने जाते थे । लोगों को इनकी युक्ति तथा शास्त्र बल पर भरोसा था । मूर्तिपूजा के समर्थक ही उन्हें अपना पक्ष-पोषक बनाकर शास्त्रार्थ के लिये लाए । थोड़ी देर के बाद पण्डितजी हार गये और साहसपूर्वक अपनी मूर्तियों को गंगा में बहा दिया । अब ब्राह्मणों को यह निश्चय हो गया कि यजमान हमारे हाथ से निकल जाएँगे और हजारों वर्षों से प्रचलित प्रतिमा-पूजन की प्रथा समाप्त हो जाएगी ।

(3) यह शास्त्रार्थ मई 1868 में फर्रूखाबाद में हुआ । प्रतिपक्ष में पं० गोपाल शास्त्री थे जो मूर्तिपूजा को शास्त्र-सम्मत ठहराने के लिये प्रतिबद्ध थे । कुछ समय तक तो वे वाद-विवाद करते रहे परन्तु अन्ततः उन्हें मौन हो जाना पड़ा । जब पराजय के कारण लज्जा लगी तो काशी गए और मूर्तिपूजा के समर्थन में वहाँ के पण्डितों से एक व्यवस्थापत्र लिखवा लाए । इस व्यवस्था के बल पर फिर उछलने लगे और नृसिंह चतुर्दशी सं० 1926 करे गंगा किनारे स्वामीजी के डेरे के निकट टोका घाट पर एक बाँस में कपड़ा टाँग कर धर्म-ध्वजा फहराई और लोगों को इकट्ठा कर लिया । स्वामीजी को संदेसा भेजा कि आयें और शास्त्रार्थ करें । स्वामीजी ने उत्तर में कहलवाया कि जिसे पुल्लिंग, स्त्रीलिंग का ज्ञान नहीं, उससे क्या शास्त्रार्थ करना । इस पर एक आदमी काशी की व्यवस्था लेकर उनके पास आया । इसे पढ़कर स्वामीजी हँसे और कहने लगे कि क्या यही काशी का पाण्डित्य है ।

अब पं० श्रीगोपाल ने अद्भुत आडम्बर रचा । एक ओर बाँस गाड़ कर उसने लोगों से कहा कि उस पर जल चढ़ाओ । यह सुनते ही लोग बाँस पर जल चढ़ाने लगे । किसी ने इस मूर्खतापूर्ण कृत्य का विरोध नहीं किया । स्वामीजी विश्रान्त घाट पर खड़े-खड़े इस दृश्य को देख रहे थे । वे हिन्दुओं के इस कृत्य पर हँस रहे थे । लोगों ने श्रीगोपाल से कहा कि वे घाट पर

चलें और स्वामीजी से शास्त्रार्थ करें। परन्तु वह इसके लिये राजी नहीं हुआ। उसने कहा कि यदि मैं उनके स्थान पर जाऊँगा तो पराजित हो जाऊँगा। यदि स्वामीजी मेरे पास आयेंगे तो हारेंगे। अन्ततः कोई शास्त्रार्थ नहीं हुआ। स्वामीजी ने काशी से लाई गई व्यवस्था के एक-एक वाक्य का खण्डन कर उसकी निस्सारता प्रकट की।

(4) चतुर्थ शास्त्रार्थ फर्रूखाबाद में पं० हलधर ओझा, मैथिल कानपुर निवासी से हुआ। जब यहाँ के लोगों को यह तसल्ली हो गई कि पं० श्रीगोपाल स्वामीजी के समक्ष शास्त्रार्थ करने में अक्षम हैं तो उन्होंने कानपुर से ओझाजी को बुलाया। जब ये फर्रूखाबाद आ गए तो पौराणिक समुदाय ने कहा कि यदि कोई शर्त बाँधे तो पं० हलधर को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिये तैयार करें। इस पर सेठ जगन्नाथप्रसाद ने 2500 रुपये अपनी ओर से भेजे और विरुद्ध पक्ष वालों को कहा कि वे भी इतनी ही राशि इसमें मिला कर शास्त्रार्थ करवायें। यदि स्वामीजी हारते हैं तो यह धन पं० ओझा को दिया जाए और यदि स्वामीजी जीतते हैं तो यह धन हम ले लेंगे। इस पर पौराणिक मत वाले तैयार नहीं हुए। इतना ही कहलाया कि हम पण्डितजी को लेकर स्वामीजी के द्वारे पर ही आते हैं। अन्ततः ज्येष्ठ शुक्ला 10 शनिवार सं० 1926 को रात के आठ बजे पण्डितजी अपने अनुयायियों, सेठ-साहूकारों तथा पण्डितों के साथ स्वामीजी के निवास पर आए। पहले मूर्तिपूजा पर बातचीत होने लगी। किन्तु तत्काल ही चर्चा मद्यपान की ओर झुक गई क्योंकि ओझाजी तांत्रिक थे और मांस, मदिरा के प्रेमी थे। पण्डितजी ने मदिरापान को शास्त्रोक्त बताया और कहा कि सौत्रामणि याग में मदिरापान होता था। स्वामीजी ने उत्तर में सुरा का शराब से भिन्न अर्थ किया और मदिरापान का खण्डन किया।

अब हलधर ने स्वामीजी से संन्यास का लक्षण पूछा। स्वामीजी ने इसका शास्त्रोक्त उत्तर दिया और उलट कर पं० ओझा से 'ब्राह्मण' के लक्षण पूछे। उत्तर देते हुए पं० हलधर अशुद्ध संस्कृत बोलने लगा जिस पर स्वामीजी ने उसे टोका और कहा कि यदि संस्कृत नहीं बोल सकते तो भाषा (हिन्दी) में बोलो और प्रकरण से भी मत हटो। हलधर ने स्वामीजी के कहे वाक्य को पकड़कर उन्हीं से प्रकरण शब्द की सिद्धि पूछी। स्वामीजी ने व्याकरण के अनुसार इसका उत्तर दिया तो हलधर ने पूछा कि धातु समर्थ होती है या असमर्थ। स्वामीजी ने सूत्र[1] को उद्धृत करते हुए असमर्थ बताया। हलधर ने फिर मूल से हट कर पूछा, समर्थ किसे कहते हैं और असमर्थ किसको ? स्वामीजी ने कहा, असमर्थ वह जो किसी की अपेक्षा रखता है और इसमें महाभाष्य का प्रमाण दिया। हलधर ने बिना विचारे ही कह दिया कि यह वाक्य महाभाष्य में नहीं है, यह आपका स्वयंकल्पित है। इस पर स्वामीजी ने महाभाष्य की पुस्तक में यह वाक्य दिखला दिया तो पण्डितजी उबल पड़े और कहने लगे कि महाभाष्यकार पण्डित था तो मैं भी पण्डित हूँ। मुझमें और उसमें क्या भेद है ? यद्यपि पं० हलधर का यह कथन बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं था तथापि स्वामीजी ने उसकी व्याकरण विषयक योग्यता की पोल खोलने के लिये उससे पूछा, कल्म संज्ञा किसकी

1. समर्थः पद विधिः अष्टाध्यायी 2/1/1

है ? हलधर इसका जब कोई उत्तर नहीं दे सका तो स्वामीजी ने सूत्र का प्रमाण देकर बताया कि कर्म की कल्म संज्ञा है।

इस प्रकार यह शास्त्रार्थ जब व्याकरण की ओर मुड़ गया तो यह निश्चित हुआ कि 'समर्थः पद विधिः' यह सूत्र यदि सब जगह लगे तो हलधर को पराजित माना जाए और यदि यह सूत्र एकदेशी हो तो स्वामीजी की हार मानी जाए। इस बात के निश्चित हो जाने पर लोग अपने-अपने घरों की ओर लौट गए। रास्ते में उन्होंने लाला जगन्नाथप्रसाद से कहा कि आज के इस शास्त्रार्थ में स्वामीजी व्यर्थ का हठ कर रहे हैं। यह सूत्र सर्वव्यापक नहीं है। लालाजी स्वामीजी के वैदुष्य से पूर्ण परिचित नहीं थे अतः वे सवेरे उठ कर स्वामीजी के पास गए और उन्हें शास्त्रार्थ न करने के लिये कहा। उन्हें भय था कि स्वामीजी के पराजित होने से उनकी अप्रतिष्ठा होगी। स्वामीजी को उन पर क्रोध आ गया और उन्होंने लालाजी को शपथ दिला दी कि वे शास्त्रार्थ के लिये हलधर को अवश्य तैयार रखें। दूसरे दिन सायंकाल आठ बजे सब लोग एकत्र हुए और शास्त्रार्थ होने लगा। स्वामीजी ने महाभाष्य खोल कर सिद्ध कर दिया कि उक्त सूत्र सर्वव्यापक है। यह प्रमाण सामने आते ही हलधर के मानो प्राण निकल गए और उपस्थित लोगों ने स्वामीजी का जयजयकार किया। हलधर निराश होकर लौट गए।

(5) यह शास्त्रार्थ उक्त पं० हलधर से कानपुर में हुआ। तारीख थी 11 जुलाई 1872, शनिवार। कानपुर में स्वामीजी ने एक विज्ञापन संस्कृत में छपवाया जिसका अभिप्राय इस प्रकार है—

कल्याण हो। (1) ऋग्, (2) यजु, (3) साम और (4) अथर्व। इन चारों वेदों में क्रमशः ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान का विषय है। संध्योपासना से अश्वमेध पर्यन्त कर्मकाण्ड समझना चाहिए। यम से समाधि पर्यन्त उपासना काण्ड है। नैष्कर्म्य से लेकर ब्रह्मसाक्षात्कार तक ज्ञानकाण्ड का क्षेत्र है। आयुर्वेद पंचम वेद है जिसमें चिकित्सा-शास्त्र है। उसके दो ग्रन्थ चरक और सुश्रुत प्रामाणिक हैं। छठा धनुर्वेद है, जिसमें शस्त्र-विद्या है। सप्तम गंधर्ववेद राग विद्या का है। आठवाँ अर्थवेद है जो शिल्प विद्या, कलाकौशल और वास्तु विद्या से सम्बन्ध रखता है। ये चारों वेदों के उपवेद हैं। नवाँ शिक्षा-शास्त्र, जिसमें वर्णोच्चारण सिखाया जाता है। दसवाँ कल्प—इसमें वेद मंत्रों के आधार पर कर्मानुष्ठान की विधि है। 11वाँ व्याकरण जो शब्दार्थ सम्बन्ध का निश्चय कराता है। इसमें मान्य दो ग्रन्थ अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य हैं। 12वाँ निरुक्त जिसमें वैदिक शब्दों की निरुक्तियाँ दी हैं। 13वाँ छन्द—इसमें गायत्री आदि छंदों का विवेचन है। 14वाँ ज्योतिष—इसमें भूत, भविष्य तथा वर्तमान का ज्ञान समाहित है। उपर्युक्त छः वेदांग हैं। यही 14 विद्याएँ (चार वेद, चार उपवेद तथा छः वेदांग) हैं। पन्द्रहवाँ शास्त्र उपनिषद् है जिसके अन्तर्गत ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, श्वेताश्वतर तथा कैवल्य—ये 12 उपनिषदों की गणना होती है। 16वाँ शास्त्र शारीरिक (वेदान्त) सूत्र है जिसमें उपनिषदों का विवेचन है। 17वें कात्यायनादि श्रौत तथा गृह्य सूत्र जिनमें जन्म से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त संस्कारों की व्याख्या है। 18वाँ योग दर्शन और

उसका व्यास भाष्य, जिसमें उपासना का वर्णन है । 19वाँ वाद (न्याय) इसमें वेदानुकूल युक्ति करने की विधि सिखाई जाती है । 20वाँ मनुस्मृति—इसमें वर्णाश्रम व्यवस्था तथा वर्णसंकर के धर्म बताए गए हैं । 21वाँ महाभारत—इसमें अच्छे और बुरे लोगों के लक्षण महाभारत कथा के व्याज से वर्णित हैं ।

इन 21 शास्त्रों को सत्य जानो, परन्तु इनमें भी यदि कोई बात वेद, व्याकरण तथा शिष्टाचार के विपरीत हो तो वह असत्य है । इन 21 शास्त्रों से भिन्न जो अन्य ग्रन्थ हैं उन्हें गप्पाष्टक जानना चाहिए । मिथ्या कथन को गप्प कहते हैं और इनमें आठ गप्पों को गिन कर गप्पाष्टक का क्रम बनाया गया है । जिनमें आठ सत्यों की गणना है वे सत्याष्टक हैं । अब आठ गप्पों को निम्न प्रकार जानना चाहिए—

1. मनुष्य कृत ब्रह्मवैवर्त आदि जो पौराणिक ग्रन्थ हैं, यह पहली गप्प है ।
2. पाषाण पूजन देव भावना से, यह द्वितीय गप्प है ।
3. शैव, शाक्त, गाणपत्य, वैष्णव आदि सम्प्रदाय तृतीय गप्प है ।
4. तन्त्र ग्रन्थों से प्रतिपादित वाम मार्ग चतुर्थ गप्प है ।
5. विजयादि मादक द्रव्य सेवन, पंचम गप्प है ।
6. पर स्त्री गमन, षष्ठ गप्प ।
7. चोरी करना, यह सप्तम गप्प है ।
8. छल, अभिमान, मिथ्या भाषण अष्टम गप्प है । इन आठों गप्पों को छोड़ देना चाहिए ।

अब आठ सत्यों का वर्णन किया जाता है ।

1. ईश्वर और ऋषिप्रणीत ऋग्वेदादि 21 शास्त्र पहला सत्य है ।
2. ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरु-सेवा और निज धर्मानुसार गुरु-सेवा दूसरा सत्य है ।
3. वेदोक्त वर्णाश्रमानुकूल निजधर्म, सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्र का अनुष्ठान तीसरा सत्य है ।
4. शास्त्राज्ञानुसार अपनी स्त्री से सम्बन्ध करना और पाँच महायज्ञविधि का अनुष्ठान, ऋतु काल में निज स्त्री सम्भोग और श्रुतिस्मृति की आज्ञानुसार आचार-व्यवहार रखना चतुर्थ सत्य है ।
5. तपश्चरण, यमादि से लेकर समाधि तक उपासना और सत्संगपूर्वक वानप्रस्थाश्रम को ग्रहण करना पाँचवाँ सत्य है ।
6. विचार, विवेक, वैराग्य, पराविद्या का अभ्यास और संन्यास तप करके सब कर्मों के फलों की इच्छा न करना छठा सत्य है ।
7. ज्ञान और विज्ञान से समस्त अनर्थ से उत्पन्न होने वाले मृत्यु, जन्म, हर्ष, शोक, काम, क्रोध, लोभ, मोह, संग और द्वेष के त्यागने का अनुष्ठान सातवाँ सत्य है ।
8. अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, सत, रज, तम आदि क्लेशों से निवृत्त हो, पंच महाभूतों से परे जाकर मोक्ष रूप आनन्द को प्राप्त होना आठवाँ सत्य है ।

ये आठों सत्य ग्रहण करने चाहिए । दयानन्द सरस्वती ने यह विज्ञापन लिखा है, यह भी सब सज्जनों को जानना चाहिए । (शोला-ए-तूर प्रेस में छपा)

यह शास्त्रार्थ भैरों घाट के नीचे 20-25 हजार मनुष्यों की उपस्थिति में हुआ । शहर के समस्त प्रतिष्ठित धनी, अधिकारी और वकील आदि आए हुए थे । कानपुर के सहायक जिलाधीश डब्लू० थेरा साहब भी आए थे । उन्हें ही मध्यस्थ बनाया गया था । एक ओर अकेले स्वामीजी, तो दूसरी ओर लक्ष्मण शास्त्री (बिठूर निवासी) तथा हलधर ओझा थे । दोनों पक्षों के बीच निम्न वार्तालाप हुआ । ओझाजी ने सर्वप्रथम कहा कि आपने जो विज्ञापन दिया है उसमें व्याकरण की भूलें हैं ।

स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि यह प्रश्न पाठशाला के विद्यार्थियों के लिये है । आज उस विषय पर चर्चा करो जिसके लिये ये हजारों लोग एकत्र हुए हैं । व्याकरण के विषय में यदि पूछना है तो कल मेरे पास आना, मैं समझा दूँगा ।

इस पर ओझा ने कहा कि क्या आप महाभारत को मानते हैं । उत्तर में स्वामीजी ने महाभारत को प्रमाण माना । ओझा ने महाभारत का एक श्लोक पढ़ा, जिसका आशय था कि भील के एक बालक एकलव्य ने द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर, उसे सामने रखकर धनुर्विद्या सीखी । इस पर स्वामीजी ने कहा कि मैं तो यह कहता हूँ कि वेदों में कहीं मूर्तिपूजा की आज्ञा हो तो बतलायें । भील के पुत्र ने कुछ किया तो ऐसा कार्य तो अज्ञानी मनुष्य आज भी करते हैं । वह कोई ऋषि-मुनि नहीं था और न किसी ने उसे ऐसा करने का उपदेश दिया । यदि यह कहो कि ऐसा करने से उसे धनुर्विद्या आ गई, तो उसका कारण द्रोणाचार्य की मूर्ति नहीं थी, किन्तु यह उसके अभ्यास का फल था । अंग्रेज सैनिक चाँदमारी करके निशाना लगाना सीखते हैं, वे कोई मूर्ति नहीं बनाते । इस पर ओझा चुप रहे । पुनः बोले कि यदि वेदों में प्रतिमा-पूजन की आज्ञा नहीं है तो निषेध भी कहाँ है ? स्वामीजी ने कहा कि यदि कोई पुरुष अपने सेवक को आज्ञा देता है कि तू पश्चिम की ओर जा तो अन्य दिशाओं की ओर जाने का स्वतः ही निषेध हो जाता है । अब उससे यह कहना व्यर्थ है कि उत्तर, दक्षिण और पूर्व की ओर मत जाना, अतः जो उचित था उसका प्रतिपादन वेद ने किया, शेष का निषेध ही है ।

इसके अनन्तर सहायक जिलाधीश ने स्वामीजी से पूछा कि आप किसको मानते हैं ? स्वामीजी ने उत्तर दिया—ईश्वर को । यह सुन कर उक्त साहब अपनी छड़ी और टोपी उठा कर चल दिए और कहा कि ठीक है, सलाम । इससे मूर्तिपूजकों ने समझा कि हमारी जीत हो गई और 'गंगा माई की जय' का नारा लगाते हुए कोलाहल मचाने लगे । पं० हलधर को जुलूस के रूप में गाड़ी पर बिठा कर ले गए तथा अखबार शोला-ए-तूर में भी छपवा दिया कि स्वामीजी पण्डितों से हार गए और मूर्तिपूजन को शास्त्र-विरुद्ध सिद्ध नहीं कर सके । चाहे पौराणिक लोग इस मिथ्या विजय से प्रसन्न हो रहे थे किन्तु सत्य यह था कि लोगों के दिल स्वामीजी के उपदेशों से मूर्तिपूजा से दूर हट चुके थे और अनेक लोग अपनी मूर्तियों को गंगा में बहाने लगे । मूर्तियों को गंगा में प्रवाहित करने का वेग इतना तीव्र हो गया कि ओझा हलधर ने यह विज्ञापन

प्रकाशित कराया–

विज्ञापन (उर्दू अक्षरों में)

जो दयानन्द सरस्वती के मतानुसार बहुत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपना कुल धर्म छोड़कर देव मूर्तियें गंगा में बहा देते हैं, यह बात अनुचित है, इसलिये यह विज्ञापन दिया जाता है कि जो लोग उनके मत को स्वीकार करें, उनको चाहिए कि वे कृपापूर्वक उन मूर्तियों को महाराज गुरुप्रसाद शुक्ल, या महाराज प्रयागनारायण तिवारी जी के मन्दिर में मूर्तियें पहुँचा दिया करें, यदि उनको पहुँचाने का अवकाश न मिले, तो हमें सूचित कर दें, हम आप उठा लिया करेंगे। और उनके बहाने में जो पाप है वह संस्कृत में लिखा है।

विज्ञापक–ओझा हलधर

स्वामीजी के उपदेशों से हिन्दुओं की मूर्तियाँ गंगा में प्रवाहित होने की पुष्टि 'शोला-ए-तूर' कानपुर के 2 अगस्त 1869 के सम्पादकीय से भी होती है। यह पत्र लिखता है–"संन्यासीजी की संगति में कई हिन्दू मूर्तियों को नदियों में पधराने लगे। ओझाजी ने विज्ञापन दिया है कि ऐसा करना वेद-शास्त्रों में महापाप बताया गया है। जो व्यक्ति नदी में मूर्ति बहाने की इच्छा करे वह उन्हें हमारे पास भेज दे, नदी में बहा कर पाप न कमाए।"

ओझाजी ने अपनी विजय का समाचार झूठ-मूठ ही पत्रों में छपवा दिया था। यह बात स्वामीजी के समर्थकों को बुरी लगी तो उन्होंने मि० थैरा, सहायक जिलाधीश से निम्न पत्र लिखवाकर प्रकाशित करा दिया जिससे वास्तविकता का ज्ञान लोगों को हो सके। यह अंग्रेजी पत्र इस प्रकार था–

Gentlemen–At the time in question, I decided in favour of Swami Dayanand Saraswati Faquir and I believe his arguements are in accordance with the Vedas. I think he won the day. If you wish, I will give you my reasons for my decision in a few days.

Yours obediently
Caunpur
(Sd) W. Thaira

अनुवाद–शास्त्रार्थ के समय मैंने फैसला दिया था कि स्वामी दयानन्द का पक्ष वेदानुकूल है और मैं जानता हूँ कि वे ही विजयी रहे। यदि आप चाहें तो अपने निर्णय की पुष्टि में मैं युक्तियाँ कुछ दिन बाद दे सकूँगा।

ह० डब्लू० थैरा

यह स्मरण रहे कि ये साहब संस्कृत जानते थे और संस्कृत के अद्वितीय विद्वान् समझे जाते थे। इस शास्त्रार्थ का परिणाम यह हुआ कि गंगा के किनारे स्वामीजी की विद्वत्ता की धूम मच गई। अब कोई ऐसा प्रसिद्ध पण्डित भी नहीं था जो स्वामीजी से शास्त्रार्थ करता। जब युक्ति और शास्त्र बल काम में नहीं आते तो धूर्त लोग उनके प्राणों के ग्राहक बन जाते। वे इसी ताक में रहते कि स्वामीजी के प्राण ले लिये जाएँ। इन अढ़ाई वर्षों में पाँच-छः बार उन्हें मारने की चेष्टाएँ हुईं जो सभी निष्फल रहीं।

(1) प्रथम बार कर्णवास ग्राम में रंगाचार्य के शिष्य राव कर्णसिंह (बरौली निवासी) रईस

गंगास्नान के लिये आए तो स्वामीजी के दर्शनार्थ पधारे। उस समय उनके ललाट पर वैष्णव (चक्रांकित मत) का तिलक लगा हुआ था। स्वामीजी ने जब इस पर शंका की तो राव साहब को बड़ा क्रोध आया और वे गाली देने लगे। उनके एक हाथ में तलवार थी और वे क्रोध में भरे थे। स्वामीजी ने उनसे कहा कि शास्त्रार्थ करना हो तो अपने गुरु रंगाचार्य को बुला लाओ और शस्त्रार्थ करना है तो जयपुर, जोधपुर के राजाओं से लड़ो। यह भी जनश्रुति है कि स्वामीजी ने कहा था कि प्रथम तो क्षत्रिय शस्त्र निकाले नहीं और यदि निकाले तो अपना काम पूरा करे, यदि ऐसा न करे तो उसे क्षत्रिय नहीं मानना चाहिए। अन्त में उपस्थित लोगों ने राव साहब को वहाँ से चलता किया और यह विवाद समाप्त हुआ।

इन दिनों शीतकाल था। स्वामीजी एक कौपीन ही पहने रहते थे। वहाँ के ठाकुर रात को जाकर उन्हें कम्बल ओढ़ा आते। इस कार्य के लिये उन्होंने एक आदमी को भी नियत कर दिया था। कुछ दिन बाद कर्णसिंह ने तीन आदमियों को तलवार देकर आधी रात को स्वामीजी का सिर काट लेने के लिये भेजा। वे लोग दो बार गए किन्तु उन्हें आगे बढ़ने का साहस नहीं हुआ। तीसरी बार जब वे कुटिया के समीप गए तो स्वामीजी की आवाज सुनकर उनकी हिम्मत जाती रही। जब स्वामीजी के भक्तों को यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने पुलिस में सूचना करने का विचार किया। उधर राजघाट पर ठहरे कुछ पंजाबी सिपाहियों को यह समाचार मिला तो वे शस्त्र लेकर वहाँ आ गए। स्वामीजी ने बात को आगे बढ़ने नहीं दिया। जब लोगों ने उनसे कहा कि आप इस कुटिया को छोड़कर अन्यत्र चले जाएँ तो स्वामीजी ने कहा कि परमात्मा ही उनका रक्षक है और मुझ में भी इतना बल है कि यदि कोई मुझ पर आक्रमण करे तो मैं उसका प्रतिकार कर सकता हूँ।

(2) दूसरा वृत्तान्त अनूपशहर का है। यहाँ एक ब्राह्मण पान में विष रख कर उनके पास आया और पान खाने का आग्रह करने लगा। स्वामीजी को संदेह हो गया तो वह ब्राह्मण भागने लगा। वहाँ के तहसीलदार सैयद मोहम्मद ने, जो स्वामीजी के समीप अकसर आते थे, इस ब्राह्मण को पकड़कर हवालात में डाल दिया। स्वामीजी को जब यह खबर मिली तो उन्होंने तहसीलदार से यही कहा कि मैं लोगों को कैद कराने नहीं, कैद से छुड़ाने आया हूँ। यदि दुष्ट आदमी अपनी दुष्टता नहीं छोड़े तो सज्जन अपनी सज्जनता क्यों छोड़े ? उन्होंने उस अपराधी को कारामुक्त करवा दिया।

(3) तीसरी घटना कानपुर के समीप की है। यहाँ बदमाशों ने स्वामीजी को गंगा में डुबोने का विचार किया, किन्तु उन्हें पहचानने में असमर्थ होने के कारण विरजानन्द नामक एक दूसरे साधु को गंगा में फेंक दिया जो बड़ी कठिनाई से बाहर निकल सका।

(4) चौथी घटना सोरों की है। यहाँ भी एक साधु को दयानन्द समझ कर चारपाई समेत गंगा में फेंक दिया। जब वह चिल्लाया तो अपनी भूल जान कर उसे बचाया गया।

(5) पाँचवीं घटना फर्रूखाबाद की है। यहाँ भी उन्हें मारने की चेष्टा हुई किन्तु उसमें सफलता नहीं मिली। यहाँ स्वामीजी से लाला जगन्नाथप्रसाद ने निवेदन किया कि वे गंगा के तट

को छोड़कर किसी अन्य सुरक्षित स्थान पर चले जाएँ । परन्तु स्वामीजी ने कहा कि यहाँ तो आप मेरी रक्षा कर लेंगे, अन्यत्र कौन करेगा ? वह सर्वव्यापक परमात्मा ही मेरा रक्षक है, मुझे किसी का भय नहीं है । मैं अकेला ही गंगा-तट पर घूमता हूँ । ऐसे हमले तो अनेक बार हो चुके हैं ।

इसी अवधि में स्वामीजी ने फर्रूखाबाद में एंक संस्कृत पाठशाला स्थापित की । बात यह हुई कि यहाँ के लाला मुन्नीलाल एक शिवालय बनवा रहे थे । स्वामीजी के उपदेश से उन्होंने मंदिर में मूर्ति के स्थान पर वेदों के ग्रन्थ स्थापित किए और वहीं पर पाठशाला आरम्भ की । सात वर्षों तक यह पाठशाला चली और यहाँ से कई छात्र विद्या पढ़ कर निकले । स्वामीजी के शिष्य पं० भीमसेन, पं० ज्वालादत्त तथा पं० देवदत्त यहीं के छात्र थे । विद्यार्थियों के भोजन का व्यय पहले तो बाबू दुर्गाप्रसाद देते थे और पण्डित का वेतन लाला मुन्नीलाल देते रहे । बाद में लाला जगन्नाथप्रसाद और सेठ निर्भयराम सारा खर्च उठाते रहे । परन्तु जब स्वामीजी ने देखा कि महा-भाष्यादि आर्ष ग्रन्थ पढ़ कर भी ब्राह्मणों के पुत्र पोप लीला नहीं छोड़ते तो उन्हें इस पाठशाला से विरक्ति हो गई और उन्होंने इसे बंद कर दिया । पाठशाला में जो धन था उसे वेदभाष्य के प्रकाशन में व्यय करने लगे ।

काशी में पहला शास्त्रार्थ

16 नवम्बर 1868

गुरु की आज्ञा पाकर स्वामी दयानन्द ने पुष्कर, हरिद्वार आदि अनेक स्थानों में अपनी विद्या का प्रकाश फैलाया तथा अविद्या के अन्धकार को दूर किया । पश्चात् गंगा के तट पर भ्रमण करते हुए उन्होंने अपनी विद्या की धाक मचाई और अनेक शास्त्रार्थ किए । फर्रुखाबाद में उनसे पराजित पं० श्रीगोपाल काशी गए और मूर्तिपूजा के समर्थन में एक व्यवस्था लेकर आए तो स्वामीजी उसे देख कर हँसे और मन में कहा कि काशी के जिन विद्वानों ने यह व्यवस्था दी है उन्हें जीतना कौन सा कठिन कार्य है । उनकी यह भी इच्छा थी कि इन छोटे-छोटे स्थानों के पण्डितों पर विजय प्राप्त करने से भारत से मूर्तिपूजा का समाप्त होना कठिन है । यदि काशी में विजय मिले तो वह दिग्विजय कहला सकती है । इसी विचार को लेकर वे एक दिन काशी आ गए ।

स्वामीजी काशी पहुँच गए तो मानो वहाँ भूकम्प ही आ गया । काशी में यह पहला ही अवसर था कि किसी हिन्दू सन्तान ने मूर्तिपूजा खण्डन करने का साहस किया । स्वामीजी का काशी आगमन 22 अक्टूबर 1869 को हुआ था । वे दुर्गाकुण्ड के निकट आनन्द बाग में ठहरे । जो लोग दुर्गा मंदिर में दर्शनार्थ आते, वे स्वामीजी के मूर्तिपूजा-खण्डन का उपदेश अवश्य सुनते । हर समय विद्यार्थियों और पण्डितों की भीड़ लगी रहती । काशी के विद्वान् मानो स्वामीजी की परीक्षा ले रहे थे । एक दिन स्वामीजी ने एक प्रश्न लिख कर काशी के प्रमुख विद्वान् पं० राजाराम के पास भेजा । प्रश्न को पढ़ कर पं० राजाराम ने कहा कि एक छुरी हम दोनों के बीच में रख दी जानी चाहिए । यदि हम इस प्रश्न का ठीक उत्तर दे देंगे तो इसी छुरी से हम स्वामीजी की नाक काट लेंगे । जब स्वामीजी को यह उत्तर मिला तो उन्होंने कहा कि एक क्यों दो छुरियाँ रखो । शास्त्रार्थ नहीं तो शस्त्रार्थ ही सही । जब पण्डितजी को स्वामीजी के इस कथन का ज्ञान हुआ तो बोले, अब चिन्ता किस बात की है । जब काशी में आ ही गए हैं तो सब विदित हो जाएगा । स्वामीजी को उत्तर तो दे दिया किन्तु मन में यह चिन्ता थी कि यह बला कहाँ से आ गई । अपने एक छात्र को स्वामीजी की योग्यता का पता लगाने के लिये भेजा । विद्यार्थी ने लौट कर कहा कि स्वामी दयानन्द पण्डित तो उच्च कोटि के हैं, किन्तु नास्तिक हैं ।

अन्ततः स्वामीजी के आने का समाचार काशी नरेश को भी मिला । उन्होंने नगर के

विद्वानों को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिये कहा । इन पण्डितों ने सोचा कि शास्त्रार्थ में उतरने से पहले स्वामीजी से यह पूछ लिया जाए कि वे किन ग्रन्थों को प्रामाणिक मानते हैं और अन्यों को प्रामाणिक न मानने में उनकी क्या युक्ति है ? प्रामाणिक ग्रन्थों के भी कई अंशों को वे नहीं मानते, इसलिये यह भी पूछा जाना चाहिए कि वे किन अंशों को प्रामाणिक मानते हैं । इन प्रश्नों के उत्तर लेने के लिये चार पण्डितों को भेजा गया । ये थे–(1) पं० शालिग्राम शास्त्री, (2) ढुंढिराज शास्त्री, (3) दामोदर शास्त्री भारद्वाज, (4) पं० रामकृष्ण शास्त्री । बहुत देर तक वार्तालाप करने के पश्चात् स्वामीजी ने चार वेद, चार उपवेद, छह वेदांग, छह उपांग और एक मनुस्मृति–इन 21 ग्रन्थों को प्रामाणिक स्वीकार किया । तत्पश्चात् 16 नवम्बर 1868 दिन शास्त्रार्थ के लिये निश्चित हुआ । यह मंगलवार का दिन था । कहा जाता है कि सरकारी अधिकारियों ने शास्त्रार्थ में आने की इच्छा प्रकट की थी परन्तु उन्हें इससे वंचित रखने के लिये ही मंगलवार का दिन नियत किया गया । महाराजा तथा उनके पण्डितों को भय था कि उच्च अधिकारियों की उपस्थिति में वे धाँधली नहीं कर सकेंगे ।

निश्चित दिन नगर कोतवाल पुलिस के सिपाहियों को लेकर व्यवस्था के लिये आ गए । लोगों की उपस्थिति पर्याप्त थी । किसी ने दस हजार तो किसी ने पचास हजार लोगों के होने की बात कही । यह निश्चित है कि इतने लोग इससे पूर्व कभी किसी धार्मिक चर्चा में उपस्थित नहीं हुए थे । कोतवाल पं० रघुनाथप्रसाद ने खिड़की के भीतर एक आसन स्वामीजी के लिये लगवाया और दूसरा आसन प्रतिवादी पण्डित के लिये । साथ ही काशी नरेश के लिये भी आसन लगा दिया गया । शेष पण्डितों के लिये भी बैठने की व्यवस्था कर दी गई । पं० राजाराम को छोड़कर काशी के लगभग सभी प्रमुख पण्डित वहाँ उपस्थित थे । इनकी संख्या 35 बताई गई है । कुछ के नाम इस प्रकार हैं–स्वामी विशुद्धानन्द, पं० बालशास्त्री, पं० शिवसहाय, पं० माधवाचार्य, पं० वामनाचार्य, पं० देवदत्त शर्मा, पं० जयनारायण तर्क वाचस्पति, पं० ताराचरण तर्करत्न, पं० नवीननारायण तर्कालंकार, पं० कैलाशचन्द्र शिरोमणि, पं० विभुकृष्ण वेदान्ती, पं० गणेश श्रोत्रिय, पं० नारायण शास्त्री आदि । जब महाराजा आए तो पण्डितों ने खड़े होकर मंगल वाचन किया । उन्होंने स्वामीजी के दो सहायकों (पं० जवाहरदास तथा पं० ज्योतिस्वरूप) को स्वामीजी के निकट से हटा कर दूर बिठा दिया और काशी के पण्डितों को उनसे आगे कर दिया । अब एक ओर स्वामीजी थे और उनके समक्ष काशी का समस्त पण्डित समुदाय ।

शास्त्रार्थ का विषय था–क्या मूर्तिपूजा वेद-सम्मत है ? जब पण्डित लोग वेदों में देवताओं के आवाहन तथा मूर्तिपूजा का कोई प्रमाण नहीं दे सके तो कुछ प्रश्नोत्तर के पश्चात् स्वामी विशुद्धानन्द ने कहा कि जब उपनिषदों में 'मनोब्रह्मेत्युपासीत्' जैसे वाक्यों के द्वारा मन और सूर्य आदि की उपासना का विधान है तो शालिग्राम पूजा को भी स्वीकार करना चाहिए । स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मन और आदित्य से उपासना की बात ब्राह्मण-ग्रन्थों में है, जिन्हें आप लोग वेद कहते हैं । किन्तु यह कहीं नहीं कहा गया कि 'पाषाणब्रह्मेत्युपासीत्' । अतः उपर्युक्त वचनों से पाषाण पूजा का ग्रहण नहीं हो सकता । अब माधवाचार्य सामने आए और उन्होंने एक

वाक्य बोल कर पूछा कि यहाँ 'पूर्ति' का क्या अर्थ है ? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि कूप-तड़ागादि लोकहित के लिये खुदाए जलाशयों के लिये यह शब्द प्रयुक्त होता है । उक्त पण्डित अब 'पुराण' शब्द की ओर आए और पूछा कि यह शब्द वेद में है या नहीं । स्वामीजी ने कहा कि पुराण शब्द तो वेदों में आया है किन्तु वह भागवत या ब्रह्मवैवर्त पुराण के अर्थ में नहीं ।

इस प्रकार पर्याप्त प्रश्नोत्तर होते रहे । एक प्रसंग ऐसा आया जब स्वामीजी द्वारा प्रस्तुत किए गए उपनिषद-प्रमाण के बारे में विरोधी पण्डित ने कहा कि यह वचन उपनिषद् का नहीं है । इस पर स्वामीजी ने गरज कर कहा कि यदि यह वचन उपनिषद् का न हो तो मेरी पराजय मान ली जाए । जब वह वाक्य वास्तव में उपनिषद् का ही निकला तो पण्डित लज्जित हो गए । अन्त में जब काशी के पण्डितों से कोई उत्तर नहीं बन पड़ा तो स्वामीजी ने उनसे व्याकरण का एक प्रश्न पूछ लिया । उनका प्रश्न था—व्याकरण में 'कल्म' किसकी संज्ञा है । कोई भी पण्डित इसका समाधान नहीं कर सका ।

अन्त में जब रात होने लगी और अँधेरा छाने लगा तो पण्डितों को एक चाल सूझी । माधवाचार्य ने दो पन्ने निकाल कर पेश किए और कहा कि ये वेद हैं तथा इनमें लिखा है कि यज्ञ के समाप्त होने पर दसवें दिन पुराण सुनना चाहिए । पुनः पूछा कि यहाँ पुराण किसका विशेषण है ? स्वामीजी ने वे पन्ने हाथ में लिये । उस समय अँधेरा हो चला था, अतः पढ़ने के लिये दीपक लाया गया, किन्तु इसी बीच पण्डितों ने कोलाहल मचा दिया । काशी नरेश भी सभ्यता को भूल कर तालियाँ बजाने लगे । इस प्रकार अपनी विजय का घोष करते हुए पण्डित लोग वहाँ से चले गए, किन्तु वहाँ एकत्रित बदमाशों ने स्वामीजी पर ईंट और पत्थर बरसाना आरम्भ किया । काशी यदि अपने पाण्डित्य के लिये प्रसिद्ध है तो वह गुण्डों और बदमाशों के लिये भी कुख्यात है । वस्तुतः उस समय स्वामीजी के लिये प्राणों का भय उत्पन्न हो गया । किन्तु कोतवाल पं० रघुनाथप्रसाद ने अपनी कर्त्तव्य तत्परता दिखाई और स्वामीजी को एक कोठरी में ले जाकर दरवाजा बंद कर दिया ।

इस प्रकार काशी का यह प्रथम शास्त्रार्थ समाप्त हुआ । शास्त्रार्थ के पीछे स्वामीजी कार्तिक, मार्गशीर्ष और आधे पौष तक काशी में रहे और तारस्वर में मूर्तिपूजा का खण्डन करते रहे, किन्तु किसी पण्डित का साहस उनके सामने आने का नहीं हुआ । ब्राह्मण पण्डितों से जब कुछ नहीं बन पड़ा तो एक व्यवस्था प्रचारित कर दी कि जो स्वामीजी के दर्शन करेगा, वह पतित समझा जाएगा । इसके उपरान्त लोग बड़े समूहों में स्वामीजी का उपदेश सुनने आते । काशी शास्त्रार्थ के इस वृत्तान्त को अनेक समाचारपत्रों ने प्रकाशित किया । शास्त्रार्थ के समय उपस्थित पं० सत्यव्रत सामश्रमी को उभय पक्ष ने लेखक नियुक्त किया था । उन्होंने अपने पत्र 'प्रत्न कम्र नन्दिनी' (28 दिसम्बर 1869) में शास्त्रार्थ का विवरण संस्कृत में प्रकाशित किया । इसका संक्षिप्त अनुवाद इस प्रकार है—

"स्वामी दयानन्द एक साधु हैं, जिन्होंने संसार में सत्य-धर्म प्रचार का व्रत लिया है ।" आगे शास्त्रार्थ संवाद दिया है—

स्वामी दयानन्द—स्वर्ग में इन्द्रादि देव हैं या नहीं ?

स्वामी विशुद्धानन्द—वेदोक्त मंत्र ही देवता हैं ।

स्वामी दयानन्द—फिर उपासना किस प्रकार होगी ?

स्वामी विशुद्धानन्द—शालिग्राम आदि मूर्तियों में ।

स्वामी दयानन्द—ऐसा वेद में कहाँ है ?

स्वामी विशुद्धानन्द—अकेले सामवेद की हजार शाखाएँ हैं । क्या आपने सब देखी हैं ?

स्वामी दयानन्द—सुनो, सहस्र शाखाओं का आशय सहस्र प्रकार के व्याख्यान से है । सामवेद संहिता तो एक ही है ।

स्वामी विशुद्धानन्द—वही, अर्थात् आकाश ही ईश्वर है ।

स्वामी दयानन्द—हाँ, वही ईश्वर है, जिस बात का सम्बन्ध नहीं, उसका वर्णन व्यर्थ है । यहाँ पर प्रतिमा पर विचार होना चाहिए । इसका प्रमाण दो ।

स्वामी विशुद्धानन्द—(स्वामीजी की पीठ पर हाथ रख कर) अरे बाबा, अभी तू कुछ पढ़ा नहीं है । कुछ दिन पढ़ ।

स्वामी दयानन्द—(उनके हाथ को जल्दी से हटा कर) क्या आपने सब कुछ पढ़ लिया है ?

स्वामी विशुद्धानन्द—हाँ, सब पढ़ लिया है ।

स्वामी दयानन्द—क्या व्याकरण भी ?

स्वामी विशुद्धानन्द—हाँ, वह भी ।

स्वामी दयानन्द—(आँखें लाल करके) 'कल्म' संज्ञा किसकी है, कहो ।

जब स्वामी विशुद्धानन्द से कोई उत्तर नहीं बन पड़ा तो बालशास्त्री ने देखा कि अब काशी की प्रतिष्ठा नष्ट हो जाएगी । वह अपने से वरिष्ठ स्वामी विशुद्धानन्द की प्रतिष्ठा बचाने के लिये आगे आए और कहा कि इसका उत्तर मैं दूँगा । स्वामीजी ने कहा, अच्छा आप ही बताइए कि 'कल्म' किसकी संज्ञा है ? तब बालशास्त्री ने कहा कि संज्ञा तो किसी की नहीं है, किन्तु किसी सूत्र के भाष्य में उपहास किया है । स्वामीजी ने इस पर कहा कि उदाहरणपूर्वक समाधान कीजिए । इस पर बालशास्त्री भी चुप हो गए ।

काशी नरेश को सारे शास्त्रार्थ को सुन कर संतोष नहीं हुआ । उन्होंने कहा कि यद्यपि दयानन्द धृष्ट और मूर्ख है किन्तु उसे कोई पण्डित हरा नहीं सका । यह कर्ण के समान है जिसे छह मल्लों ने मिलकर हराया था । उन्होंने पण्डितों से यह भी कहा कि दयानन्द की इस बार की पराजय से विचार समाप्त नहीं हुआ है । अब सब पण्डित मिल कर विचार करो और खण्डन-मण्डन की पुस्तक बना कर प्रकाशित करो ।

श्री हरिकृष्ण व्यास, श्री जयनारायण तर्करत्न, श्री कृष्ण वेदान्त सरस्वती आदि काशी के गण्यमान्य विद्वानों ने कहा कि शास्त्रार्थ में जो कुछ हुआ वह तो ठीक नहीं था, किन्तु इतना निश्चित है कि दयानन्द हार गया ।

किन्तु अन्य समाचारपत्रों ने अपनी निष्पक्ष सम्मतियाँ प्रकाशित कीं। इनकी सूची इस प्रकार है—तत्त्व बोधिनी पत्रिका (ज्येष्ठ बंगाब्द 1794) रूहेलखण्ड समाचार (नवम्बर 1869) ज्ञान-प्रदायिनी पत्रिका (अप्रैल 1870), हिन्दू पैट्रियट (17 जनवरी 1870), क्रिश्चियन इन्टैलिजेन्सर (मार्च 1870)। इस प्रकार समाचारपत्रों ने यह स्पष्ट कर दिया कि काशी शास्त्रार्थ में स्वामी दयानन्द का पक्ष प्रबल रहा।

प्रयाग का कुम्भ मेला : स्वामीजी का धर्मप्रचार

जनवरी 1870 से दिसम्बर 1872 तक

इस माघ मास में स्वामीजी कुम्भ के अवसर पर प्रयाग आए और लाखों लोगों के समक्ष मूर्तिपूजा का खण्डन करते रहे। प्रयाग से मिर्जापुर आए और वहाँ दो-अढ़ाई मास तक उपदेश दिया। लघु कौमुदी का खण्डन किया और अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य पढ़ने के लिये कहा। यहाँ उन्होंने एक पण्डित को उपनिषदों का अध्ययन कराया। एक साधु को शास्त्रार्थ करने के लिये कहा, किन्तु वह सामने नहीं आया। नगर के कुछ पण्डित अवश्य आए, किन्तु भेंट करके चले गए। अब वे मिर्जापुर से काशी आए और कुछ दिन वहाँ रह कर नवीन वेदान्त का खण्डन किया। अनेक बार विज्ञापन देकर पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिये आहूत किया किन्तु कोई सामने नहीं आया।

स्वामीजी पुनः गंगा-तट पर आए और फर्रूखाबाद होते हुए जून 1870 में कासगंज पहुँचे। यहाँ भी एक संस्कृत पाठशाला स्थापित की। यह विद्यालय कुछ महाजनों की सहायता से खोला गया जिन्होंने अपनी दूकान के दान के खाते में जमा 1500 रुपये पाठशाला के लिये दे दिए थे। इस पाठशाला के लिये निम्न नियम निर्धारित किए गए—

1. संध्या सीखने के अनन्तर ही विद्यार्थी को प्रवेश मिलेगा। इससे उसकी बुद्धि की परीक्षा भी हो जाएगी।

2. अष्टाध्यायी, महाभाष्य, मनुस्मृति तथा वेद पढ़ाए जाएँगे।

3. यदि कोई छात्र सूर्योदय से पूर्व संध्या नहीं करेगा तो उसे दिन का भोजन नहीं मिलेगा। उसे सायं भोजन सायंकालीन संध्या कर लेने के बाद ही मिलेगा।

4. विद्यार्थियों को नगर में जाने की आज्ञा नहीं होगी किन्तु किसी के द्वारा दिए गए भोजन के निमंत्रण पर वे शहर में जा सकेंगे।

5. भोजन उन्हीं छात्रों को मिलेगा जो पाठशाला में ही रहेंगे। नगर से आने वालों को नहीं मिलेगा।

6. परिश्रमी और बुद्धिमान् छात्रों के भोजन का विशेष प्रबंध रहेगा।

इस पाठशाला में हर पूर्णिमा को परीक्षा होती थी और उसमें जो अधिक अंक पाता उसे भोजन में सुविधाएँ प्राप्त होतीं। जो अनुत्तीर्ण हो जाता, उसे छोटे विद्यार्थियों के जूते उठाने पड़ते। यह पाठशाला प्रबंधकर्ताओं की अकुशलता तथा अध्यापकों की लापरवाही के कारण जून

1870 में बंद हो गई ।

नवम्बर 1870 में स्वामीजी ने छलेसर के जमींदार ठाकुर मुकुन्दसिंह के सुझाव पर वहाँ वैदिक पाठशाला स्थापित की । पहले हवन किया गया, पुनः ब्रह्मभोज हुआ और तत्पश्चात् पाठ-शाला का शुभारम्भ हुआ । यह पाठशाला उक्त ठाकुर साहब के व्यय से सात वर्षों तक चलती रही । किन्तु जब देखा गया कि विद्यार्थी पढ़-लिख कर भी पौराणिक पाखण्ड नहीं छोड़ते तो स्वामीजी ने पाठशाला बंद कर दी ।

इस प्रकार भ्रमण करते-करते फरवरी 1871 में स्वामीजी मिर्जापुर आए । यहाँ भी जून 1871 में पाठशाला आरम्भ की । यह तीन वर्ष तक चलती रही । तत्पश्चात् ऊपर वर्णित कारणों से यह भी बंद हो गई । इस वर्ष स्वामीजी गंगा के किनारे के प्रान्तों में घूमते रहे । लोगों को धर्मोपदेश दिया, यज्ञ कराए और संस्कृत का प्रचार करते रहे । मार्च 1872 में वे काशी आए और डेढ़ मास तक यहाँ रह कर खण्डन-मण्डन में प्रवृत्त रहे । कोई प्रतिपक्षी शास्त्रार्थ के लिये सामने नहीं आया । पुनः डुमराँव और आरा होते हुए 28 सितम्बर 1873 को पटना आए । यहाँ एक मास तक निवास किया । कई साधारण शास्त्रार्थ भी हुए । अनेक लोगों ने उनके उपदेशों से लाभ उठाया । स्वामीजी ने विज्ञापन दिया कि जो लोग मूर्तिपूजा का मण्डन करना चाहें, वे आएँ और वार्तालाप करें ।

पटना से चल कर 4 अक्टूबर 1872 को स्वामी मुँगेर पहुँचे तथा पन्द्रह दिन तक प्रचार किया । मुँगेर से चल कर 20 अक्टूबर को भागलपुर आए और पूर्ववत् उपदेश देते रहे । यहाँ पर ब्राह्मणों और ईसाइयों से उनके शास्त्रार्थ हुए । बर्दवान के महाराजा दो बार उनके उपदेश सुनने आए । उन्होंने अपने घर पर स्वामीजी को ठहरने के लिये कहा किन्तु वहाँ एकान्त न होने के कारण उन्हें स्वीकार नहीं हुआ । दो मास तक यहाँ धर्मोपदेश देते रहे और अन्त में 15 दिसम्बर 1872 को भारत की राजधानी कलकत्ता आए ।

भारत की राजधानी कलकत्ता में

दिसम्बर 1872 से अगस्त 1873 तक

ब्रिटिश भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ता में स्वामीजी का आगमन 15 दिसम्बर 1872 को हुआ। बाबू चन्द्रशेखर सेन ने स्टेशन पर उनका स्वागत किया और सौरीन्द्र मोहन ठाकुर के उद्यान में उन्हें ठहराया गया। कलकत्ता के प्रसिद्ध पत्र 'इण्डियन मिरर' ने 30 दिसम्बर 1872 के अंक में उनके बारे में लिखा—मूर्तिपूजा का प्रबल खण्डन करने वाले एक हिन्दू संन्यासी दयानन्द सरस्वती काशी के बड़े पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित कर अब कलकत्ता पधारे हैं। वे राजा सौरीन्द्र मोहन के बाग स्थित बँगले में ठहरे हैं।

अनेक ब्रह्मसमाजी उनसे मिलने को आते और निम्न विषयों पर उनसे वार्तालाप होता—

1. जातिभेद की वास्तविकता क्या है ?

स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि गुण-कर्म से जाति-भेद है, जन्म से नहीं।

2. यज्ञोपवीत पहनना चाहिए या नहीं ?

उत्तर—द्विज मात्र को पहनना चाहिए। जो मूर्ख ब्राह्मण हैं, वे यदि न पहनें तो भी कुछ हानि नहीं।

3. ईश्वर साकार है या निराकार ?

उत्तर—वह निराकार है, सच्चिदानन्दरूप है।

4. क्या सांख्य दर्शन का कर्ता नास्तिक था ? 'ईश्वरासिद्धे' सूत्र तो ईश्वर का खण्डन करता है ?

उत्तर—जो लोग दर्शनों की आर्ष टीकाएँ नहीं पढ़ते, वे ही ऐसे भ्रमों के शिकार हो जाते हैं। सांख्यकार स्पष्ट रूप से पुनर्जन्म तथा आवागमन को मानते हैं, यदि वे नास्तिक होते तो ऐसा न मानते। 'ईश्वरासिद्धे' सूत्र पूर्व पक्ष का है। इसका उत्तर अगले सूत्रों में है। सांख्यकार आवा-गमन के अतिरिक्त वेद, परलोक, योग और आत्मा को भी मानता है इसलिये उसे अनीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता। दर्शनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। सृष्टि की उत्पत्ति में छः कारण होते हैं—

(1) परमाणु—इनका ज्ञान न्याय दर्शन से होता है।
(2) मीमांसा में कर्म का विचार है।
(3) सांख्य तत्त्वों का विचार करता है।

(4) योग दर्शन—ज्ञान, विचार और बुद्धि के विकास के लिये ।

(5) वैशेषिक काल का निरूपक है ।

(6) वेदान्त—परमात्मा को सृष्टि का निमित्त कारण बताता है ।

5. क्या हवन को मूर्तिपूजा का अंग मानना चाहिए ?

उत्तर—जिस कर्म में ब्रह्म के प्रति समर्पण भाव है, वह कार्य जो जगत् के उपकार के लिये किया जाता है, उसे मूर्तिपूजा का अंग नहीं माना जा सकता ।

पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न, पं० तारानाथ तर्क वाचस्पति, राजनारायण वसु तथा टैगोर वंश के अनेक लोग स्वामीजी के दर्शन के लिये आते और वार्तालाप से लाभ उठाते । धीरे-धीरे उनके राजधानी में होने का समाचार सर्वत्र फैल गया । बाबू ज्ञानेन्द्रलाल एम०ए०बी०एल० के अनुसार, "चारों ओर से बाल, वृद्ध, नर-नारी उनके दर्शन और उपदेश सुनने के लिये आने लगे । लोग उनकी वक्तृत्व शक्ति, तर्कशक्ति तथा शास्त्रबल को देख कर चकित होते । धर्म-जिज्ञासुओं के दल के दल अपने प्रश्नों के उत्तर पाकर सन्तुष्ट हो जाते । अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ एक उत्तर भारतीय से ऐसे सार्वभौम धर्म की व्याख्या कभी नहीं सुनी थी ।"

श्री केशवचन्द्र सेन को स्वामीजी में बड़ी श्रद्धा थी । उन्होंने 9 जनवरी 1873 को अपने निवास पर उनका व्याख्यान करवाया । तत्त्वबोधिनी पत्रिका में यह समाचार प्रकाशित हुआ है कि 21 जनवरी 1873 को ब्रह्मसमाज के वार्षिकोत्सव पर दोपहर को समाज के प्रधानाचार्य देवेन्द्रनाथ ठाकुर के भवन में बहुत से शिष्यों के साथ परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी दयानन्द सरस्वती पधारे तथा सायंकाल तक धर्म-चर्चा करते रहे ।

22 फरवरी 1973 को गौरीचरण दत्त के घर ईश्वर और धर्म पर स्वामीजी का व्याख्यान हुआ । इस व्याख्यान का बंगला भाषा में अनुवाद पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न ने सुनाया । उन्होंने अनुवाद करते समय कई बातें अपनी ओर से मिला दीं जो वक्ता के कथन के प्रतिकूल थीं । जब उपस्थित लोगों ने इस पर शंका की तो अनुवादकर्ता ने कुछ गोलमाल उत्तर दिया और नाराजगी भी दिखाई । 2 मार्च 1973 को वराहनगर बोर्नियो कम्पनी के हॉल में स्वामीजी ने सरल संस्कृत में व्याख्यान दिया । 9 मार्च को वराहनगर की रात्रि-पाठशाला में व्याख्यान हुआ । इस विषय में 'इण्डियन मिरर' नामक पत्र लिखता है—"इस व्याख्यान में नगर के अनेक रईस आए हुए थे । व्याख्यान तीन घण्टे तक चला । इससे स्वामीजी की विद्वत्ता और गम्भीर चिन्तन शक्ति का पता चलता है । उनकी युक्तियाँ प्रबल तथा अशंकनीय हैं । इनके कथन की रीति निर्भीकतायुक्त तथा साहसपूर्ण हैं ।"

मार्च 1873 के अन्त तक 2-3 व्याख्यान और हुए । श्रोतागण प्रचुर संख्या में आते थे । स्वामीजी ने प्रसन्नकुमार ठाकुर की पाठशाला का निरीक्षण किया और वहाँ वेद पढ़ाने की प्रेरणा दी । डॉ० महेन्द्रकुमार सरकार से उन्होंने आयुर्वेद की उन्नति पर चर्चा की । केशवचन्द्र सेन से आवागमन पर शास्त्रार्थ भी हुआ जिसका विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं है । राजनारायण वसु की पुस्तक 'हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता' को उन्होंने आद्योपान्त देखा और कहा, "हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता का

प्रतिपादन करने के लिये पुराण और तंत्रों के प्रमाण देना उचित नहीं है । शास्त्रों के प्रमाण महाभारत तक के ही देना उचित है ।"

कलकत्ते की यात्रा के साथ स्वामीजी के जीवन का वह भाग समाप्त होता है जब वे केवल संस्कृत ही बोलते थे । यहाँ पर ही केशवसेन ने उन्हें अपने व्याख्यान हिन्दी में देने का परामर्श दिया ताकि लोगों को उनके विचार जानने में कठिनाई न हो । इस सुझाव को मान कर स्वामीजी ने आगे हिन्दी में ही बोलने का निश्चय किया । इस प्रकार हरिद्वार के कुम्भ (वैशाख 1924) में जो उन्होंने संस्कृत में ही बोलने की प्रतिज्ञा की थी वह कलकत्ते की यात्रा (फाल्गुन 1929) पर आकर समाप्त हुई । केशव के एक अन्य परामर्श के अनुसार उन्होंने शरीर पर पूरे वस्त्र पहनना भी स्वीकार किया । अब तक उनकी पोशाक एक कौपीन ही हुआ करती थी ।

बंगाल और बिहार के अन्य नगरों की यात्रा

स्वामीजी 1 अप्रैल 1873 को हुगली पहुँचे और एक जमींदार के बाग में उतरे । यहाँ पर कई व्याख्यान हुए । सर्वसाधारण से वार्तालाप भी होता रहा । काशी के राजपण्डित ताराचरण तर्करत्न, जो यहीं के निवासी थे, से शास्त्रार्थ भी हुआ । पं० ताराचरण ने योग दर्शन के सूत्र[1] को उद्धृत करते हुए कहा कि स्थूल पदार्थ की सहायता के बिना चित्त स्थिर नहीं होता, इसलिये जड़ मूर्ति का सहारा लेना आवश्यक है । उन्होंने अपने द्वारा प्रस्तुत सूत्र को व्यास का कथन बताया । स्वामीजी ने आक्षेप किया कि यदि यह सूत्र पतञ्जलि का है, तो इसे व्यास का बताना अनुचित है । फिर यह भी कहा कि आपने सूत्र को अशुद्ध रीति से पढ़ा है । पुनः उसे सही रूप में प्रस्तुत कर स्वामीजी ने बताया कि इसके व्यास भाष्य में तो यही लिखा है कि नासिका के अग्र भाग में चित्त को स्थिर करना चाहिए । यहाँ मूर्ति की चर्चा ही नहीं है । थोड़ी देर तक अन्य वार्तालाप हुआ और अन्त में तर्करत्नजी ने कह दिया कि उपासना मात्र ही भ्रममूलक है । यह सुनते ही शास्त्रार्थ के श्रोताओं में हलचल मच गई क्योंकि कहाँ तो पण्डितजी मूर्ति से उपासना का मण्डन करने आए थे और स्वयं उपासना मात्र का ही खण्डन कर बैठे ।

स्वामीजी 15 अप्रैल को हुगली से चले और पटना तथा भागलपुर होते हुए छपरा आए । यहाँ वे राय शिवगुलाम शाह के अतिथि बने । पण्डितों से शास्त्रार्थ किया, व्याख्यान दिए, पाठशाला देखी और 8 जून तक रह कर आरा चले आए । इस नगर में एक मास से अधिक समय तक रहे । उपदेशों का क्रम चलता रहा । 26 जुलाई को डुमराँव आए और महाराजा के पास ठहरे । राजा साहब ने दीवान सहित उपस्थित होकर महाराज की अगवानी की । यहाँ पं० दुर्गादत्त से उनका प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ । इस प्रकार बिहार-बंगाल की यह यात्रा समाप्त हुई ।

1. चित्तस्य आलम्बने स्थूल आभोगोवितर्कः इति व्यास वचनम् । वस्तुतः यह योगदर्शन का सूत्र नहीं है, अपितु व्यास भाष्य का वचन है ।

पुनः पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में

20 अक्टूबर 1873 से सितम्बर 1874 तक

स्वामी दयानन्द 8 अक्टूबर 1873 को डुमराँव से चल कर मिर्जापुर होते हुए 20 अक्टूबर 1873 को कानपुर आए और लगभग एक मास ठहर कर उपदेश देते रहे। यहाँ उनके भाषण हिन्दी में ही होते थे। 20 नवम्बर 1873 को कानपुर से चल कर फर्रूखाबाद आए। यहाँ उनकी शिक्षा विभाग के निदेशक तथा प्रान्त के लैफ्टिनेंट गवर्नर मि० म्योर से भेंट हुई। इनसे गौरक्षा पर वार्तालाप हुआ। फर्रूखाबाद से कासगंज और छलेसर होते हुए वे 26 दिसम्बर 1873 को अलीगढ़ आए और राजा जयकृष्णदास सी०एस०आई० के यहाँ उतरे। कई दिनों तक नगर में उपदेश देते रहे। पुनः हाथरस होकर फरवरी 1874 में मथुरा आ गए।

मथुरा उनके गुरु का नगर था। वे उस समय यहाँ आए जब निकटवर्ती वृन्दावन में मेले की धूम थी। अतः मथुरा से वृन्दावन आ गए और बस्ती के बाहर राजा के बाग में उतरे। रथोत्सव जिसे ब्रह्मोत्सव भी कहते हैं, वैष्णवों का महान् पर्व है जो यहाँ मेले के रूप में मनाया जाता है। रंगाचार्य नामक वैष्णव आचार्य की यहाँ बड़ी ख्याति थी। स्वामीजी चाहते थे कि रंगाचार्य से शास्त्रार्थ हो। इसलिये उन्होंने उसे शास्त्रार्थ के लिये आहूत किया। पत्र में लिख कर भेजा—तुम तो कहते थे कि वेदों से मूर्तिपूजा सिद्ध करता हूँ, सो अब करके दिखलाओ। इस आशय की एक प्रति उसके निवास पर भी चिपकवा दी। रंगाचार्य का उत्तर आया कि मेले के बाद शास्त्रार्थ करूँगा। वास्तव में यह टालना ही था क्योंकि उसमें शास्त्रार्थ करने का साहस ही नहीं था। मेला समाप्त हुआ किन्तु रंगाचार्य शास्त्रार्थ के लिये नहीं आया। अन्ततः स्वामीजी मथुरा आ गए और उपदेशों में प्रवृत्त हुए।

मथुरा और वृन्दावन में भी दुष्ट प्रकृति के लोगों ने उन पर घातक आक्रमण किए किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। एक बार तो चार सौ-पाँच सौ चौबे लट्ठ लेकर गाली-वर्षा करते हुए उनके स्थान पर चढ़ आए किन्तु उपजिलाधीश ने गड़बड़ नहीं होने दी। मथुरा से इन्हें मुरसान का राजा टीकमसिंह अपने साथ ले गया और सत्कारपूर्वक उपदेश सुना। फिटन (एक विशेष प्रकार की बग्घी) में ही वह ले गया था और उसी पर चढ़ा कर स्टेशन पर छोड़ गया।

मथुरा से चल कर स्वामीजी जुलाई 1874 में इलाहाबाद आए और वहाँ अनेक व्याख्यान दिए। म्योर कालेज के विद्यार्थी भी इनके पास आते और अनेक प्रकार के प्रश्नोत्तर करते थे। स्वामीजी के प्रति विद्यार्थियों की अनन्य निष्ठा थी। स्वामीजी ने उन्हें स्वधर्म और स्वजाति का

गौरव करना सिखलाया था । वे उन्हें वैदिक धर्म की विशेषताओं की जानकारी देते ताकि आक्षेप-कर्ताओं को मुँहतोड़ उत्तर दिया जा सके । ये विद्यार्थी यूरोपीय विद्वानों के लिखे इतिहास तथा ऐसे ही प्रोफेसरों द्वारा दी गई शिक्षा के कारण स्वधर्म की उपेक्षा करने लगे थे । अब स्वामीजी के मुख से उसके महत्त्व का उन्हें ज्ञान हुआ तो वे प्रसन्नता से वे भर गए । छात्र वर्ग ने ही उनके व्याख्यानों को महत्त्व दिया और श्रद्धापूर्वक सुना । इलाहाबाद में ही स्वामीजी ने राजा जयकृष्ण दास की प्रेरणा से सत्यार्थप्रकाश नामक अपना प्रमुख सिद्धान्त ग्रन्थ लिखा और प्रकाशनार्थ राजा साहब को भेज दिया । यहाँ से उनकी बम्बई की यात्रा का आरम्भ हुआ और वे जबलपुर पहुँचे ।

बम्बई आगमन और आर्यसमाज की स्थापना

बम्बई के अनेक प्रतिष्ठित पुरुषों के आग्रह पर महाराज 26 अक्टूबर 1874 को इस महानगर में आए। एक सेठ उनके स्वागत के लिये स्टेशन पर आ गए थे। उनकी गाड़ी में सवार होकर वे बालकेश्वर पहाड़ी पर अपने निर्धारित डेरे पर पहुँच गए। यहाँ पहुँच कर उन्होंने निम्न आशय का विज्ञापन चार भाषाओं (मराठी, गुजराती, हिन्दी तथा अंग्रेजी) में छपवा कर बँटवा दिया। इसका सार यही था कि जिसे धर्म सम्बन्धी विचार की अभिलाषा हो, वह आए और विचार करे। इस विज्ञापन के बँटते ही सारे शहर में कोलाहल मच गया। लोग झुण्ड के झुण्ड बाँध कर आने लगे। बम्बई में वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्गीय वैष्णव मत का बड़ा जोर था। स्वामीजी ने इनके आचार्यों को शास्त्रार्थ के लिये बार-बार चुनौती दी परन्तु कोई भी शास्त्रार्थ का साहस नहीं कर सका। एक पण्डित ने प०ग०न० के संक्षिप्त नाम से बीस प्रश्न छाप कर बाँटे। इनका उत्तर स्वामीजी ने विज्ञापन रूप में छपवा कर प्रकाशित कर दिया।

विज्ञापन

विदित हो कि जैसा स्वामीनारायण है वैसा मैं नहीं हूँ। और जिस प्रकार जयपुर नगर के गोस्वामी ने हार मानी वैसा भी मैं नहीं हूँ। बम्बई निवासी, हरि के चरण अभिलाषी प०ग०न० नाम के गुप्त पुरुष के सं० 1931 कार्तिक शुक्ल 14 शुक्रवार को ज्ञानदीपक यंत्रालय से प्रकाशित कराए हुए 24 प्रश्नों का उत्तर दिया जाता है—

1. प्रत्यक्षादि प्रमाणों को स्वीकार करता हूँ।

2. चारों वेदों को प्रमाण मानता हूँ।

3. परिशिष्ट को छोड़ चार संहिताओं का प्रमाण मानता हूँ। ब्राह्मण आदिकों को मैं मत की रीति से नहीं मानता। उनके कर्ता जो ऋषि हैं उनकी वेद विषयक सम्मति जानने के लिये विचारा करता हूँ कि उन्होंने कैसा अर्थ किया है और उनका सिद्धान्त क्या है।

4. इसे तृतीय में समझ लेना।

5. शिक्षादि वेदांगों के कर्ता जो मुनि हैं उनकी वेद के विषय में कैसी सम्मति है, यह देखने को पढ़ता हूँ, उनको मत मान कर स्वीकार नहीं करता।

6. वेद-वेदांग सम्बन्धी भाष्य और उनके जो आर्ष व्याख्यान हैं उनको मत मान कर स्वीकार नहीं करता। किन्तु परीक्षा के लिये कि (वह ठीक रचे गए हैं या नहीं) मैं देखता हूँ। वह मेरा मत नहीं है।

7. जैमिनि कृत पूर्व मीमांसा, व्यास प्रणीत उत्तर मीमांसा उनको भी मत मानकर संग्रह नहीं करता। किन्तु उनके मत की परीक्षा के लिये ही देखता हूँ।

8. पुराण, तन्त्र ग्रन्थ इनके अवलोकन और अर्थों में श्रद्धा ही नहीं करता। इनके प्रमाणों की तो क्या कथा है।

9. सारी भारत (महाभारत) और वाल्मीकि रचित रामायण का प्रमाण नहीं। क्योंकि लोक में बहुत प्रकार के व्यवहार हैं। उनके हाल का जानना ही उनका आशय है क्योंकि वे परलोक सिधार गए हैं।

10. का उत्तर भी नवम में दिया गया।

11. का उत्तर—मनुस्मृति को मनु का मत देखने को पढ़ता हूँ न कि इष्ट समझ कर।

12. याज्ञवल्क्य और मिताक्षरा आदि का तो प्रमाण ही नहीं करता।

13. का उत्तर बारहवें से समझ लेना।

14. का उत्तर—विष्णु स्वामी आदि जो सम्प्रदाय हैं, उनका प्रमाण मैं लेशमात्र भी नहीं करता, वरन् उनका खण्डन करता हूँ, क्योंकि वे सब सम्प्रदाय वेद-विरुद्ध हैं।

15. का उत्तर 14 से समझ लेना।

16. मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ वरंच वेदानुयायी हूँ और ऐसे समझना चाहिए, कि जड़ आदि षट् पदार्थों का जैसे वेद में कथन है वैसा मानता हूँ।

17. जगदुत्पत्ति जैसे वेद में लिखी है और जिसने की है, उसको उसी प्रकार मानता हूँ।

18. जिस समय से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, उस काल तक की कोई संख्या नहीं है। यह जानना चाहिए।

19. वेदोक्त यज्ञादि कर्म यथाशक्य करने चाहिए।

20. वेदोक्त रीति माननी चाहिए, अन्य नहीं।

21. शाखाओं में प्रतिपादित कर्म वेदानुकूल हों तो प्रमाण और विरुद्ध अप्रमाण हैं।

22. ईश्वर का कदापि जन्म-मरण नहीं होता, जिसका जन्म-मरण होता है वह ईश्वर ही नहीं है, सर्वशक्तिमान् अन्तर्यामी, अनादि, परिपूर्ण और न्यायकारी होने से।

23. मैं संन्यासाश्रम में हूँ।

24. 'सद्धर्म विचार' नामक पुस्तक जिस यन्त्रालय में छपाई है, उसका मत उसमें है, मेरा उसमें आग्रह नहीं।

यदि हम आर्यावर्त्त वेदोक्त धर्म के विषय में प्रीतिपूर्वक पक्षपात को छोड़ विचार करें तो सब प्रकार कल्याण ही है। यह मेरी इच्छा है, इसके लिये सदैव नित्य सभा होनी चाहिए। जिस प्रकार बहुत धर्मों (सम्प्रदायों) का नाश हो जाए वैसा सबको करना चाहिए। परन्तु 13,14 और 15 प्रश्नों को पीसे को फिर पीसने के समान पुनरुक्ति दोष से दूषित समझकर यह मैंने जाना कि जिसको प्रश्न करने का ज्ञान नहीं, उसके समागम से उचित विचार किस प्रकार हो सकेगा। ऐसी मेरी मति है, क्योंकि जहाँ भोजन का ही सन्देह है, वहाँ धन का एकत्र होना असम्भव है,

जिसने प्रश्न किए उसने अपना नाम भी नहीं लिखा, यह भी एक दोष है । ऐसा सज्जनों को समझना चाहिए इसमें स्वामीजी की सम्मति है । इसके अनन्तर जो कोई गुप्त नाम से प्रश्न करेगा उसका उत्तर उसी से दिलाऊँगा और जिस सम्प्रदाय को जो मानता है उसको सविस्तर जब तक न कहेगा तब तक उसका भी इसी रीति से उत्तर दिलाऊँगा ।

प्रसिद्धकर्त्ता—स्वामी सम्पूर्णानन्द

कार्तिक शुक्ला 7 सोमवार (16 नवम्बर 1874)

इसके अनन्तर स्वामीजी ने एक और छोटा सा विज्ञापन प्रकाशित किया । इसमें लिखा कि जो कोई हमसे शास्त्रार्थ करना चाहे, वह अपना नाम, पता, अपना मत और सम्प्रदाय हमें बतला दे, तभी हम उसका उत्तर देंगे । छिप कर प्रश्न करना ठीक नहीं ।

इसके पश्चात् व्याख्यानों का सिलसिला आरम्भ हुआ । धोबी तालाब के समीप फ्रामजी काऊसजी हाल में ये व्याख्यान होते और हजारों की उपस्थिति होती थी । स्वामीजी के व्याख्यानों के उत्तर में पं० गट्टूलाल ने लालबाग में एक व्याख्यान मूर्तिपूजा के समर्थन में दिया । इसके अनन्तर स्वामीजी के दो शास्त्रार्थ भी हुए । प्रथम पुस्तकालय भवन में पण्डितों से हुआ और दूसरा पं० जयकृष्ण व्यास शिरोमणि से सेठ लीलाधर के बाग में हुआ । इस यात्रा में स्वामीजी ने दो पुस्तकें लिखकर प्रकाशित कीं—प्रथम 'वेद-विरुद्ध मत खण्डन' अर्थात् वल्लभाचार्य मत खण्डन । दूसरा था—'वेदान्तध्वान्त निवारण'—नवीन वेदान्त का खण्डन ।

अन्त में जब धर्मचर्चा करते-करते पर्याप्त समय व्यतीत हो गया तो कई लोगों ने उनसे निवेदन किया कि वैदिक धर्म के प्रचारार्थ किसी संगठन की स्थापना की जाए ताकि भविष्य में भी यह कार्य चलता रहे । लगभग आठ दिनों तक इस विषय पर विचार चलता रहा । लगभग 80 लोगों ने इससे सहमत होकर हस्ताक्षर भी किए परन्तु कई कारणों से कार्य आगे नहीं बढ़ा । इधर स्वामीजी पं० गोपाल राव हरि देशमुख न्यायाधीश अहमदाबाद के अनुरोध पर उनके पुत्र के साथ अहमदाबाद चले गए ।

अहमदाबाद में एक भाटिया सेठ उन्हें लेने स्टेशन पर आया । इसी सेठ ने लाखों रुपये खर्च करके एक मंदिर बनवाया था । वह स्वामीजी के समक्ष अपने मंदिर की प्रशंसा करने लगा । स्वामीजी ने इसे अनसुना कर दिया । सेठ ने यह भी कहा कि वह नगर के विद्वानों से स्वामीजी का शास्त्रार्थ कराएगा । यह हुआ भी । लगभग दो-अढ़ाई सौ पण्डित एकत्र हुए और पाँच-छह घण्टे तक शास्त्रार्थ होता रहा । जब वे मूर्तिपूजा को शास्त्रों से सिद्ध नहीं कर सके तो गोपालराव हरि देशमुख ने स्वामीजी के विजयी होने की घोषणा कर दी ।

अहमदाबाद से स्वामीजी राजकोट चले गए । दस-बारह दिनों तक उनके व्याख्यान भी हुए । उन दिनों वहाँ काठियावाड़ के राजाओं का एक सम्मेलन हो रहा था । स्वामीजी ने राजकुमार कालेज को देखा और प्रिंसिपल के अनुरोध पर राजकुमारों को संक्षिप्त उपदेश भी दिया । विदाई के समय प्रिंसिपल ने उन्हें ऋग्वेद की दो प्रतियाँ भेंट कीं ।

18 जनवरी 1875 को राजकोट से चल कर 21 जनवरी को वे पुनः अहमदाबाद आ

(24) जो मनुष्य इन नियमों के अनुकूलाचरण करने वाला धर्मात्मा सतोगुणी हो उसको उत्तम समाज में प्रवेश करना, अन्य सज्जनों को साधारण समाज में रखना और अत्यन्त प्रत्यक्ष दुष्ट को समाज से निकाल ही देना होगा, परन्तु पक्षपात से यह काम नहीं करना वरंच यह दोनों बातें श्रेष्ठ सभासदों के विचार से ही की जाएँ और किसी प्रकार से नहीं ।

(25) आर्यसमाज, आर्य विद्यालय, आर्यप्रकाश पत्र और आर्य समाजार्थ धन-कोष, इन चारों की रक्षा और उन्नति प्रधान, आदि सब सभासदों का तन मन धन से यथावत् सिद्ध करें ।

(26) जब तक नौकरी करने और कराने वाला आर्य सभासद मिले तब तक और की नौकरी न करे न करावे । यह दोनों परस्पर स्वामी सेवक भाव से यथावत् वरतें ।

(27) जब विवाह, पुत्र जन्म, महालाभ या मृत्यु तथा अन्य समय कोई दान का हो तो आर्यसमाज के लिए धन आदि दान किया करें । ऐसा धर्म कार्य और कोई नहीं है इसको जानकर यह कभी न भूलें ।

(28) इन नियमों से कोई नियम नया लिखा जावेगा या निकाला जावेगा, या न्यूनाधिक किया जावेगा, वह सब श्रेष्ठ सभासदों के विचार, सब श्रेष्ठ सभासदों को सूचित करके ही यथा-योग्य करना होगा ।

उसी दिन अधिकारी भी चुने गए और विधिपूर्वक उत्सव आरम्भ हो गए । कुछ दिन बाद स्वामीजी अहमदाबाद चले गए । उनके जाने के बाद प्रतिपक्षियों ने शास्त्रार्थ करने के लिए कहा तो आर्यसमाज के अधिकारियों ने तार देकर स्वामीजी को बुलाया और पं० कमलनयनाचार्य को वकील द्वारा शास्त्रार्थ करने का नोटिस दिया । यह शास्त्रार्थ 11 जून 1875 को होना था किन्तु पं० कमलनयन के टालमटोल करके शास्त्रार्थ-स्थल से चले जाने के कारण शास्त्रार्थ नहीं हुआ । इसके तुरन्त पश्चात् स्वामीजी ने उसी स्थान पर वेदमंत्रों के प्रमाण देकर प्रतिमा-पूजा का खण्डन किया । बम्बई में ही स्वामीजी ने पादरी विल्सन को शास्त्रार्थ के लिए बुलाया परन्तु वे नहीं आए । इस पर स्वामीजी स्वयं उनके स्थान पर गए और आदरपूर्वक बातचीत की ।

24 मार्च 1976 को एक अन्य शास्त्रार्थ पं० रामलाल शास्त्री से हुआ । पं० रामलाल नदिया (बंगाल) से आए थे । पं० बुझाऊ शास्त्री शास्त्रार्थ में मध्यस्थ बने थे । शास्त्रार्थ की समाप्ति पर शास्त्रीजी ने निर्णय दिया कि पं० रामलाल मूर्तिपूजा की वैदिकता सिद्ध नहीं कर सके । 14 अप्रैल 1876 को भाई जीवनदयाल ने एक विज्ञापन प्रकाशित किया जिसमें लिखा था कि मैं पहले मूर्तिपूजक था, किन्तु स्वामी दयानन्द की दया से अब मेरी श्रद्धा मूर्तिपूजा से हट गई है । यदि कोई पण्डित वेदों से मूर्तिपूजा सिद्ध कर देगा तो मैं उसे 125 रुपये भेंट करूँगा । उनकी इस चुनौती को किसी ने स्वीकार नहीं किया । स्वामीजी 1 मई 1876 को बम्बई से फर्रूखाबाद चले गए ।

बम्बई में वल्लभ मत वालों ने स्वामीजी पर दो बार मारक प्रहार किए । एक बार तो स्वामीजी के नौकर को ही प्रलोभन दिया कि वह स्वामीजी को विष दे दे, जिसके बदले में उसे एक हजार रुपये दिए जाएँगे । इसका लिखित आश्वासन भी उसे दे दिया गया और पाँच रुपये

पेशगी भी दिए । परन्तु नौकर का साहस नहीं हुआ और उसने सारे षड्यंत्र से स्वामीजी को अवगत करा दिया । दूसरी घटना इस प्रकार है । जब स्वामीजी एक बार भ्रमण के लिए निकले तो चार-पाँच बदमाश उनके पीछे हो लिए । परन्तु उन्हें महाराज पर हमला करने का साहस ही नहीं हुआ ।

स्वामी दयानन्द 20 जून 1875 को बम्बई से पूना आए और दो मास तक वेदोपदेश करते रहे । एक शास्त्री से विधवा विवाह पर शास्त्रार्थ भी हुआ । पूना दक्षिण की काशी मानी जाती है । मूर्तिपूजा का भी यह गढ़ है ।

यहाँ स्वामीजी के अनेक व्याख्यान हुए जिनमें से 15 व्याख्यानों के सार को मराठी भाषा में सुरक्षित कर लिया गया । अब इन्हें लाला मुन्शीराम ने उपदेश-मंजरी नाम से उर्दू में प्रकाशित किया है ।[1] इन व्याख्यानों में वैदिक धर्म के तत्त्व, भारत का पुरातन इतिहास आदि विषय विवेचित हुए थे । अन्तिम व्याख्यान में स्वामीजी ने अपना पूर्व वृत्तान्त भी सुनाया ।

1883 में एक महाराष्ट्रवासी ने स्वामीजी की पूना यात्रा का विवरण इस प्रकार लिखा था—

"1875 के जून-जुलाई मास में पूना के प्रतिष्ठित लोगों के आमंत्रण पर स्वामी दयानन्द पूना आए । उस समय यहाँ के हिन्दू क्लब में उनके 15-16 व्याख्यान हुए जिनमें श्रोताओं की बड़ी भीड़ थी । वक्ता के अपूर्व उपदेश तथा कथन के उत्तम ढंग से नगर के लोगों ने उनका खूब सम्मान किया । उनके सत्कार में एक शोभायात्रा निकाली गई और स्वामीजी को हाथी पर बिठाया गया । कुछ मूर्ख और द्वेषी लोगों को उनका यह सम्मान पसन्द नहीं आया और उन्होंने इस नगर-कीर्तन में बाधा पहुँचाई तो पुलिस को हस्तक्षेप करना पड़ा । महाराष्ट्र के तत्कालीन संस्कृत विद्वान् पं० रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर तथा विष्णु शास्त्री चिपलूणकर स्वामीजी से अनेक बातों में असहमत थे, किन्तु उनकी देशभक्ति के भी प्रशंसक थे ।"

---

1. हिन्दी में ये व्याख्यान उपदेश मंजरी या पूना-प्रवचन के नाम से उपलब्ध हैं ।

दिल्ली का शाही दरबार

1877 जनवरी

स्वामीजी बम्बई से चल कर फर्रूखाबाद आए और छह मास तक पश्चिमोत्तर प्रदेश में भ्रमण करते रहे । इस बीच वे फर्रूखाबाद, जौनपुर, अयोध्या, लखनऊ, शाहजहाँपुर, बरेली, कर्णवास, मुरादाबाद आदि स्थानों में गए । साथ ही ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका का लेखन भी चलता रहा और कुछ शास्त्रार्थ भी हुए । मुरादाबाद में आर्यसमाज की स्थापना हुई । दिसम्बर 1876 के अन्त में स्वामीजी दिल्ली पहुँचे । इस समय महारानी विक्टोरिया के भारत की सम्राज्ञी का पद ग्रहण करने के उपलक्ष्य में एक शाही दरबार का आयोजन हुआ था । अनेक राजा-महाराजा इस अवसर पर दिल्ली आए थे । यह आयोजन लार्ड लिटन (वायसराय और गवर्नर जनरल) के द्वारा कराया गया था । स्वामीजी ने दिल्ली आकर अजमेरी दरवाजे के बाहर कुतुब रोड पर अपना डेरा डाला । अपने तम्बू के द्वार पर उन्होंने एक नाम पट्ट लगवा दिया जिस पर लिखा था—'स्वामी दयानन्द सरस्वती का निवास स्थान' । यहाँ स्वामीजी से भेंट करने के लिए अनेक लोग आते थे । स्वामीजी ने विज्ञापन छपवा कर राजा-महाराजाओं के शिविरों में बँटवाया और उन्हें प्रेरित किया कि धर्माधर्म का निर्णय करने के लिए वे उनसे सम्पर्क करें । उनकी प्रेरणा से इन्दौर नरेश ने यत्न किया कि कुछ राजा लोग एकत्र होकर स्वामीजी से भेंट करें । परन्तु राजा-महाराजाओं को मेले के माहौल में कहाँ फुरसत थी कि देश, धर्म और जाति हित की चर्चा के लिए महाराज के निकट आते ।

इस अवसर पर स्वामीजी ने देश के गण्यमान्य, सार्वजनिक कार्य के लिए समर्पित लोगों की एक गोष्ठी बुलाई और उन्हें सम्मिलित रूप से देशहित के लिए कोई कार्यक्रम बनाने की प्रेरणा दी । निम्न महानुभाव इस गोष्ठी में पधारे थे—मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी, नवीनचन्द्र राय, केशवचन्द्र सेन, इन्द्रमणि मुरादाबादी, सैयद अहमद खाँ, हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, स्वयं स्वामी दयानन्द । इस धर्मसभा का पूरा विवरण नहीं मिलता, तथापि यह समझा जाता है कि स्वामीजी ने उपस्थित लोगों को अपने संकीर्ण भेदभाव भुला कर एक ही रीति से देश और समाज के सुधार की बात कही । परन्तु उपस्थित जनों के धार्मिक विश्वासों में इतना अन्तर था कि किसी आम सहमति पर पहुँचना कठिन था । कलकत्ता के इण्डियन मिरर ने इस सभा का वृत्तान्त इस प्रकार प्रकाशित किया था—"हमने सुना है कि स्वामी दयानन्द के स्थान पर दिल्ली में एक सार्वजनिक सभा इसलिए हुई थी कि भारत के आधुनिक सुधारकों के कार्य के लिए एक समान

संहिता बनाई जाए । हमारे आचार्य केशवचन्द्र सेन भी इसमें सम्मिलित हुए थे ।" नवीनचन्द्र राय ने अपनी ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका में इसके विषय में लिखा—"स्वामीजी के वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानने विषयक मूल विश्वास को लेकर हम लोगों में मतभेद था, इसलिए उनके प्रस्ताव के अनुसार एकता होना सम्भव नहीं था ।"

चाँदापुर का मेला

दिल्ली दरबार से लौट कर स्वामीजी मेरठ तथा सहारनपुर में उपदेश देते रहे । सहारनपुर में स्वामीजी जहाँ डेरा डाले हुए थे, वहाँ ब्राह्मणों ने कठिनाई पैदा की और उन्हें अन्य स्थान पर जाने के लिए मजबूर किया । यहाँ से वे चाँदापुर (जिला शाहजहाँपुर) में एक कबीरपंथी रईस के द्वारा आयोजित धर्म मेले में आए । यहाँ मौलवियों और पादरियों से उनकी विभिन्न विषयों पर लगातार तीन दिन तक चर्चा होती रही । यद्यपि स्वामीजी चाहते थे कि पूरे एक सप्ताह तक यह धर्मचर्चा चले, किन्तु प्रतिपक्षियों की असहमति के कारण यह सम्भव नहीं हुआ ।[1]

---

1. विस्तार के लिए देखें—सत्यधर्म विचार (मेला चाँदापुर)

पंजाब में धर्मोपदेश तथा आर्यसमाज संस्थापन

दिल्ली दरबार में स्वामीजी की भेंट लुधियाना के मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी, लाहौर के पं० मनफूल तथा 'कोहेनूर' अखबार के मालिक मुन्शी हरसुखराय भटनागर से हुई थी। इन तीनों सज्जनों ने उन्हें पंजाब आने का निमंत्रण दिया। अतः चांदापुर के मेले से निवृत्त होकर स्वामीजी 3 मार्च 1877 को लुधियाना आए। उनके निवास की व्यवस्था मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी ने की थी। मुन्शीजी स्वतंत्र प्रकृति के पुरुष थे। उनका झुकाव वेदान्त की ओर था किन्तु मूर्तिपूजा और अंधविश्वासों के वे प्रबल विरोधी थे। लुधियाना में स्वामीजी लगभग 20 दिन रुके और उपदेश देते रहे। पादरियों ने भी उनसे प्रश्नोत्तर किए तथा न्याय विभाग के सहायक आयुक्त मि० कारस्टीफेन उनसे भेंट करने आए।

लुधियाना से चल कर स्वामीजी 18 अप्रैल 1877 को लाहौर आए। स्टेशन पर पं० मनफूल और मुन्शी हरसुंखराय उनके स्वागत के लिए उपस्थित थे। उन्हें लाला रतनचंद दाढ़ी-वाले के बाग में ठहराया गया। यहाँ उनके उपदेश होने लगे। पहला उपदेश डब्बी बाजार में (बावली साहब में) 25 अप्रैल को हुआ। उपस्थिति इतनी अधिक थी कि व्यवस्था के लिए पुलिस को आना पड़ा था। आज के व्याख्यान का विषय था वेद और वेदोक्त धर्म। 27 अप्रैल को उसी स्थान पर दूसरा व्याख्यान हुआ। आज की उपस्थिति और भी अधिक थी। इन व्याख्यानों का विवरण कोहेनूर पत्र में प्रकाशित हुआ था। इसके 28 अप्रैल के अंक में निम्न विवरण छपा—"एक प्रसिद्ध वेदवेत्ता स्वामी दयानन्द सरस्वती दिल्ली से लुधियाना होते हुए 18 अप्रैल को लाहौर आए हैं। आजकल रतनचंद के बाग में विराजमान हैं। इन्होंने 25 अप्रैल को स्थानीय ब्रह्मसमाज के अनुयायियों की प्रेरणा से वेदोक्त धर्म पर सायं 6 बजे से 8 बजे तक बावली साहब में व्याख्यान दिया। लगभग 500 लोग श्रोता रूप में उपस्थित थे।" इसके पश्चात पत्र ने व्याख्यान का सारांश दिया।

अखबार आम ने 2 मई 1877 के अंक में लिखा, "एक सप्ताह से अधिक हुआ यहाँ दयानन्द सरस्वती पधारे हुए हैं। ये साधु वेश में उपदेश देते-फिरते हैं। चारों वेद इन्हें उपस्थित हैं। स्वामीजी के दो-चार व्याख्यान हमने भी सुने हैं। आज इनके तुल्य भारत में वेदों को जानने वाला अन्य कोई नहीं है। स्वामीजी की वेद-व्याख्या प्रचलित वेद व्याख्याओं से भिन्न है। वे ब्राह्मण उन्हीं को मानते हैं जो ब्राह्मणोचित कर्म करते हैं। वे छुआछूत को वेद-विरुद्ध बताते हैं। विधवा-विवाह का समर्थन करते हैं, किन्तु बाल विवाह के विरोधी हैं। अपने प्रगतिशील विचारों के कारण अनेक ब्राह्मण उनके शत्रु हो गए हैं। परन्तु वे किसी का भय नहीं मानते। जो

लोग इस देश के शुभचिंतक हैं और तन-मन से इसकी उन्नति चाहते हैं उन्हें स्वामीजी की सहायता करनी चाहिए ।"

इन व्याख्यानों के पश्चात् दो व्याख्यान उन्होंने अनारकली बाजार स्थित ब्रह्मसमाज में दिए । इनमें वेदों का ईश्वरोक्त होना तथा जीव के आवागमन को सिद्ध किया । इन व्याख्यानों से स्वामीजी की नगर में सर्वत्र ख्याति फैल गई । ब्राह्मणों ने दीवान भगवानदास (उस बाग के मालिक जहाँ स्वामीजी ठहरे थे) से शिकायत की और कहा कि स्वामी दयानन्द मूर्तिपूजा का खण्डन करते हैं, ब्राह्मणों और देवताओं की निंदा करते हैं, जबकि आपने उन्हें उद्यान में ठहराया है । दीवानजी ब्राह्मणों की बातों में आ गए और उन्होंने स्वामीजी को अपने स्थान से चले जाने के लिए कहा । इस पर डॉ० रहीम खाँ ने उन्हें अपनी कोठी पर ठहराया । यह कोठी भी अनारकली में थी और बहुत बड़ी थी । इसके प्रांगण में स्वामीजी के व्याख्यान होने लगे ।

कोहेनूर ने अपने 5 मई 1877 के अंक में लिखा—"स्वामी दयानन्द अभी यहीं हैं और डॉ० रहीम खाँ की कोठी में उतरे हुए हैं । वे वेदोक्त धर्म का उपदेश करते हैं ।" पं० शिवनारायण अग्निहोत्री के पत्र 'बिरादरे हिन्द' ने अपने जून 1877 के अंक में स्वामीजी के लाहौर में हुए व्याख्यानों का विस्तार से विवरण प्रकाशित किया । जब लाहौर के ब्राह्मणों को स्वामीजी के व्याख्यान असह्य प्रतीत हुए तो उन्होंने सत सभा के आचार्य पं० भानुदत्त को बुलाया क्योंकि वे उस सभा के आचार्य थे जिसका उद्देश्य निराकारोपासना था । वे स्वामीजी के समीप भी आते-जाते थे । स्वामीजी चाहते थे कि पं० भानुदत्त उनके पास रहें और उन्हीं की भाँति वेदधर्म का उपदेश करें । किन्तु उक्त पण्डितजी के गृहस्थ विषयक उत्तरदायित्व होने के कारण ऐसा सम्भव नहीं था । फिर उनमें स्वामी दयानन्द की भाँति साहस भी नहीं था । ये पं० भानुदत्त पौराणिक पण्डितों के इतने अधिक दबाव में आ गए कि उन्होंने स्वामीजी के निकट जाना भी छोड़ दिया । कुछ दिन पश्चात् उन्होंने एक विज्ञापन छपा कर बँटवाया जिसमें यह लिखा था कि वे मूर्तिपूजा का वेदों से समर्थन करेंगे । उन्होंने ऐसे दो व्याख्यान दिए जिनमें पौराणिक देवताओं की सत्ता सिद्ध की गई थी ।

स्वामीजी के लाहौर में हुए व्याख्यानों के प्रभाव को कोहेनूर ने अपने 16 जून 1877 के अंक में वर्णित किया । पत्र ने लिखा, "स्वामीजी के सदुपदेशों से लोगों के दिल मूर्तिपूजा से विमुख हो गए हैं । कइयों ने मूर्तियों को गठड़ी में बाँध कर एक ओर रख दिया है । कुछ ने उन्हें रावी नदी में प्रवाहित कर दिया है । अनेक ऐसे लोग भी हैं जिन्हें अपने समाज का थोड़ा भी भय नहीं है, उन्होंने तो अपनी मूर्तियों को सरेआम बाजारों में फेंक दिया । इनमें एक लाला बालकराम खत्री थे । उनके इस कृत्य से सारे शहर में हलचल मच गई ।"

इस धर्मान्दोलन के परिणामस्वरूप लाहौर में आर्यसमाज स्थापित करने का विचार अनेक लोगों के मन में आया । यों आर्यसमाज की स्थापना तो दो वर्ष पूर्व 1875 में बम्बई में ही हो गई थी । उसके बाद स्वामीजी पर्याप्त समय तक पश्चिमोत्तर प्रदेश में घूमते रहे परन्तु वहाँ समाज-स्थापना की अनुकूलता नहीं हुई । पंजाब में उन्हें आए अभी दो महीने भी नहीं हुए थे कि

लाहौर में आर्यसमाज की नींव पड़ गई । 24 जून 1875 को इस नगर में आर्यसमाज स्थापित हुआ । इसका विवरण 28 जुलाई के कोहेनूर में प्रकाशित हुआ । समाज स्थापित होने के बाद के दो-तीन महीनों में तो स्वामीजी ही इस समाज में उपदेश करते रहे । आरम्भ में इसकी सदस्यता लगभग तीन सौ लोगों ने ग्रहण की । एक संस्कृत पाठशाला भी स्थापित हुई । इसके पश्चात् स्वामीजी पंजाब के अन्य नगरों में भी धर्मप्रचारार्थ जाते रहे । 29 जुलाई 1877 को आर्यसमाज लाहौर ने अपने पुस्तकालय का आरम्भ किया जिसके लिए आर्यसमाज के प्रथममंत्री लाल साँईदास ने 200 रुपये दान दिए जो उनकी एक मास की तनख्वाह से भी अधिक था ।

6 नवम्बर 1877 को लाहौर आर्यसमाज ने नियमों और उपनियमों का पृथक् निर्धारण किया । अब दस नियम वे स्वीकार किए गए जो सार्वभौम तथा सार्वजनीन हैं जबकि व्यवस्था सम्बन्धी उपनियमों में परिवर्तन किया जा सकता है । इस कार्यवाही के समय आर्यसमाज की अन्तरंग सभा में खुद स्वामीजी विराजमान थे । जब नियमों और उपनियमों पर विचार हो रहा था, सभासदों ने उनसे अपनी सम्मति देने का निवेदन किया । परन्तु महाराज ने कहा कि मैं उस सभा का सदस्य नहीं हूँ, अतः मुझे सम्मति देने का अधिकार नहीं है । लाहौर के व्याख्यानों में अनेक प्रतिष्ठित अंग्रेज भी व्याख्यान सुनने आते थे । पंजाब के गवर्नर ने भी स्वामीजी ने मिलने की इच्छा प्रकट की और उनसे वार्तालाप किया ।

स्वामी दयानन्द के लाहौर-निवास के कुछ रोचक प्रसंग

(1) एक बार कुछ स्त्रियाँ मध्याह्न के समय उनका उपदेश सुनने के लिए आईं । स्वामीजी ने उन्हें कहा कि तुम्हारे पति ही तुम्हारे गुरु हैं अतः तुम्हें उन्हीं की सेवा करनी चाहिए । किसी साधु को गुरु बनाना उचित नहीं है । विद्या पढ़ो और अपने पतियों को यहाँ भेजो ताकि वे मेरा उपदेश सुनकर तुम्हें सुना दिया करें ।

(2) एक दिन पं० शिवनारायण अग्निहोत्री ने स्वामीजी से कहा कि सामवेद में उल्लू की कहानी है । स्वामीजी ने उनके हाथ में सामवेद की पुस्तक देकर कहा कि यदि ऐसा है तो इसमें दिखलाओ । अग्निहोत्री जी ने अपनी असमर्थता जताई ।

(3) एक दिन बाबू शारदाप्रसाद भट्टाचार्य ने सब सभासदों की सम्मति से आर्यसमाज की साधारण सभा में प्रस्ताव रखा कि स्वामीजी को आर्यसमाज का संरक्षक (Patron) बनाया जाए । स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि इसमें गुरु भाव की गंध आती है । मेरा उद्देश्य तो गुरुडम को समाप्त करना है न कि इसकी जड़ मजबूत करना । इस पर भट्टाचार्यजी ने कहा कि तब हम आपको समाज का परम सहायक कहें । महाराज का उत्तर था—परम सहायक तो एकमात्र परमात्मा है ।

(4) अनेक पादरी भी स्वामीजी से मिलने के लिए आते थे । एक पादरी साहब ने कहा, यह बाइबिल का ही प्रताप है कि उसका धर्म सारे संसार में फैल रहा है । स्वामीजी ने उत्तर दिया, यह बाइबिल का प्रताप नहीं है । यह तो आप लोगों के (यहाँ यूरोपीय जातियों से उनका अभिप्राय

था) ब्रह्मचर्य-पालन, विद्या व्यसन, एक पत्नीव्रत, देशान्तर यात्रा तथा परस्पर प्रेम का फल है। हम आर्य लोग अपने धर्म को छोड़ बैठे इसलिए हमारी अवनति हुई है।

(5) एक बार पं० मनफूल ने स्वामीजी ने कहा कि यदि आप मूर्तिपूजा का खण्डन छोड़ दें तो जम्मू-कश्मीर के महाराजा आपसे प्रसन्न होंगे। स्वामीजी का उत्तर था कि मैं कश्मीर महाराजा को प्रसन्न करूँ या उस ईश्वर की आज्ञा मानूँ जो वेद में लिखी है।

(6) एक बार स्वामीजी नवाब नवाजिश अली खाँ की कोठी पर ठहरे हुए थे। वहाँ पर आपने इस्लाम की अवैज्ञानिक बातों का खण्डन किया तो उसे नवाब साहब ने सुना क्योंकि वे उस समय वहीं पर थे। स्वामीजी को किसी व्यक्ति ने कहा कि आपको ठहरने के लिए हिन्दू या मुसलमान कोई भी स्थान देने के लिए तैयार नहीं हैं। यह तो नवाब साहब का सौजन्य है कि उन्होंने आपको अपनी कोठी पर ठहरने की सुविधा दी है। स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि किसी का आतिथ्य ग्रहण करने का यह अर्थ नहीं है कि मैं सत्य को प्रकट न करूँ। मेरा तो नियम है कि जहाँ ठहरता हूँ वहाँ की सफाई अवश्य करता हूँ।

आर्यसमाज लाहौर के उत्सव पहले सत्सभा के स्थान पर होते थे। जब स्वामीजी ने वहाँ मूर्तिपूजा और पुराणों का खण्डन किया तो उक्त सभा के सदस्यों ने आपत्ति की और आर्यसमाज के अधिकारियों को नोटिस दे दिया कि अगले सप्ताह से वे अपने सत्संग वहाँ न लगायें। इसलिए आर्यसमाज ने अनारकली बाजार में एक स्थान किराए पर ले लिया। यह वही स्थान है जहाँ पहले ट्रिब्यून का प्रेस था और अब भारत बीमा कम्पनी का कार्यालय है। पंजाब में स्वामी दयानन्द का निवास एक वर्ष और कुछ मास का ही था, किन्तु इस अल्पावधि में ही उन्होंने इस प्रान्त का कायापलट कर दिया।

अमृतसर

स्वामीजी दो बार अमृतसर पधारे थे। पहली बार 5 जुलाई 1877 से 12 सितम्बर 1877 तक और दूसरी बार 15 मई 1878 से 11 जुलाई 1878 तक।

प्रथम बार सरदार दयालसिंह मजीठिया ने उनके निवासादि का प्रबंध किया। दूसरी बार जब गए तब आर्यसमाज स्थापित हो चुका था। 12 अगस्त 1877 को अमृतसर में आर्यसमाज की स्थापना हुई। इस अवसर पर आर्यसमाज लाहौर के दो सदस्य भी उपस्थित थे। स्वामीजी ने अपने निरीक्षण में ही हवन करवाया, पुनः उपासना करवाकर उपदेश दिया। तत्पश्चात् आर्य-समाज विधिवत् स्थापित किया गया। 50 महानुभाव उसी समय सदस्य बन गए। बाबू कन्हैया-लाल वकील को प्रधान बनाया गया, बाबू नारायणसिंह वकील को मन्त्री, पं० शालिग्राम को उप-प्रधान तथा पं० हदयनारायण को उपमन्त्री निर्वाचित किया गया।

इस बार सहस्रों लोगों ने उनका उपेदश सुना किन्तु शास्त्रार्थ के लिए कोई आगे नहीं आया। इन दिनों शहर में दो प्रसिद्ध पण्डित थे—तुलसीराम और रामदत्त। किन्तु इनमें से एक भी शास्त्रार्थ के लिए तैयार नहीं हुआ। पं० तुलसीराम एक दिन बाजार में महाराज से मिल गए तो आदरपूर्वक स्वगृह पर ले गए तथा उन्हें सत्कारपूर्वक विदा किया।

दूसरी बार जब वे यहाँ आए तो एक विज्ञापन दिया कि यदि पण्डितगण मेरी बातों को वेद-विरुद्ध समझते हैं तो आकर शास्त्रार्थ कर लें। कई दिन तो शास्त्रार्थ के नियम तथा शास्त्रार्थ का दिन और स्थान के निश्चय में ही निकल गए। अन्त में निश्चय हुआ कि सरदार भगवानसिंह की अश्वशाला में शास्त्रार्थ होगा। लगभग पाँच हजार व्यक्ति शास्त्रार्थ सुनने के लिए आए। अभी तक प्रतिपक्षी पण्डित आए नहीं थे, इसलिए स्वामीजी ने अपना व्याख्यान आरम्भ कर दिया। इस बीच बाबू मोहनलाल वकील आए और उन्होंने कहा कि मैं पण्डितों की ओर से वकील हूँ तथा सभा में उपस्थित रहने की अनुमति चाहता हूँ। स्वामीजी ने उनकी इस बात को स्वीकार किया। अन्त में जय-जयकार की ध्वनि के साथ पण्डितों का आगमन हुआ। पं० चन्द्रभानु को शास्त्रार्थ के नियम दिए गए। इस पर कुछ विवाद हुआ। इस बीच बदमाशों ने पत्थर फेंकना आरम्भ कर दिया। एक पत्थर स्वामीजी को लक्ष्य करके फेंका गया, किन्तु वे लोगों से घिरे थे, अतः चोट नहीं लगी। ईंट-पत्थर वर्षा ने भीड़ को तितर-बितर कर दिया। कई लोग घायल हुए। अन्ततः इस उपद्रव को रोका गया।

दूसरे दिन बाबू मोहनलाल को नोटिस भेजा गया। उत्तर में उन्होंने इतना ही कहा कि मैं केवल उस समय का वकील था, अब मेरा कुछ वास्ता नहीं। ये पण्डित आपस में झगड़ते हैं। शास्त्रार्थ करना इनका उद्देश्य ही नहीं है। इस उत्तर के आने के बीस दिन बाद तक स्वामीजी शास्त्रार्थ की प्रतीक्षा में रहे परन्तु उधर से कोई लिखा-पढ़ी नहीं हुई। अन्त में यह सारा विवरण प्रकाशित कर दिया गया। एच० परकिंसन साहब उन दिनों कमिश्नर थे। उन्होंने स्वेच्छा से या अपने अधीनस्थ अफसरों के कहने से महाराज से मिलने की इच्छा प्रकट की और यह कहा कि हिन्दू धर्म तो सूत के धागे से भी कच्चा है। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि नहीं, यह तो लोहे के तुल्य दृढ़ है।

अमृतसर में ईसाई प्रचारकों का जोर था। पादरियों ने भी उनसे शास्त्रार्थ करने की सोची और पादरी खड्गसिंह को बुलाया। पं० लेखराम के अनुसार पादरी साहब जब स्वामीजी के सामने गए तो उन्हीं के शिष्य बन गए और शास्त्रार्थ करना तो दूर, उनके पक्ष में ही बोलने लगे। परन्तु अन्त तक वे स्वामीजी के साथ नहीं रहे। स्वामीजी के देहान्त के पश्चात् उन्होंने अनेक ट्रैक्ट वेदों के विरुद्ध भी लिखे। जब पादरियों ने देखा कि खड्गसिंह से काम नहीं बनेगा तो उन्होंने कलकत्ते के देसी पादरी के०एम० बनर्जी को तार भेज कर बुलाया। बनर्जी बाबू ने आने से इन्कार कर दिया। अमृसर से प्रस्थान करने से पूर्व स्वामीजी ने आर्यसमाज गुजरांवाला को एक पत्र लिखा। इस पत्र की प्रतिलिपि यहाँ दी जा रही है—

'मंत्री और सभासद, आनन्दित रहो। विदित हो कि अब हम 11 जुलाई 1878 बृहस्पतिवार को यहाँ से पूर्व की ओर प्रस्थान करेंगे। शायद दो-चार दिन के लिए अम्बाले ठहर जाएँ। अब हमारा-आपका मिलाप पत्र द्वारा ही हो सकेगा, इसलिए आप सदा पत्र भेजते रहना तथा हम भी भेजा करेंगे। अब आपको लिखते हैं कि प्रतिदिन समाज की उन्नति करते रहना क्योंकि यह बड़ा काम आप लोगों ने उठा लिया है। इसको परिणामपर्यन्त पहुँचाने में ही सुख और लाभ है।

यहाँ का समाज प्रतिदिन उन्नति पर है। यहाँ के पण्डितों ने शास्त्रार्थ के लिए सम्मति की थी, परन्तु वे सभा में कुछ नहीं बोले और न उन्होंने उत्तर दिया, केवल मुँह दिखलाकर चले गए और यहाँ तक कि उन मनुष्यों ने जो पोपों की ओर थे, हाकिम से आर्यसमाज की चुगली खाई थी, जिसका परिणाम सत्य के प्रताप ये हुआ कि अब कोई आर्यसमाज की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखता। सब सभासदों को नमस्ते।'

दयानन्द सरस्वती

26 जून 1878 अमृतसर

पंजाब के अन्य नगर

लाहौर तथा अमृतसर के सिवाय स्वामीजी ने पंजाब के अन्य नगरों में भी प्रचार किया, उसका संक्षिप्त विवरण नीचे लिखा जाता है।

स्व० लाला बिहारीलाल सहायक सर्जन के परिश्रम तथा लाला हंसराज साहनी और डॉ० भक्तराम साहनी की प्रेरणा से स्वामीजी 8 अगस्त 1878 को गुरदासपुर पहुँचे। प्रतिदिन व्याख्यान होने लगे। यहाँ भी शास्त्रार्थ की चर्चा चली। मियाँ बिहारीसिंह (अतिरिक्त सहायक आयुक्त) यहाँ अधिकारी थे। उनके परिश्रम से पं० लक्ष्मीधर तथा पं० दौलतराम को दीनानगर से बुलवाया गया। शास्त्रार्थ के समय दोनों मियाँ साहब ने (दूसरे पुलिस अधीक्षक थे) अपने अधिकारों का दुरुपयोग करते हुए अहंकार दिखाया। उधर डॉ० बिहारीलाल को भी जोश आ गया। आपस में आरोप-प्रत्यारोप होने लगे। 24 अगस्त को यहाँ आर्यसमाज की स्थापना हुई और निम्न अधिकारी बने—मुन्शी सूर्यशरण प्रधान, दीवान कृष्णादास मन्त्री, अन्य सभासद—लाला बिहारीलाल, अमृत कृष्ण घोष, लाला हरचरणदास, लाला कन्हैयालाल, लाला काकामल, लाला रामशरण दास, बाबा खजान सिंह, डॉ० भक्तराम साहनी, लाला हंसराज साहनी तथा गौरचन्द्र दास।

13 सितम्बर को स्वामीजी जालंधर नगर आए और अहलूवालिया सरदारों के यहाँ ठहरे। पहले दिन कुँवर सुचेत सिंह के निवास पर व्याख्यान हुआ। यहाँ इतनी भीड़ हो गई कि अगले दिन से सरदार विक्रमसिंह की हवेली में उपेदश होने लगे।

24 सितम्बर को प्रातः सात बजे सरदार विक्रम सिंह के समक्ष मौलवी अहमद हुसैन से शास्त्रार्थ हुआ। इस शास्त्रार्थ का विवरण मिर्जा मोहम्मद संचालक व सम्पादक वजीर हिंद स्यालकोट ने पत्रिका के आकार में पृथक् छपवाया था। इसमें लिखा है कि मौलवी साहब नगर के सर्वसाधारण हिन्दू-मुसलमानों के साथ पधारे। उन्होंने अपनी इच्छा से 'आवागमन' को शास्त्रार्थ का विषय चुना, जबकि स्वामीजी ने 'करामात' (सिद्धियाँ) पर शास्त्रार्थ करने के लिए स्वीकृति दी। स्वामीजी ने यह भी कहा कि इस शास्त्रार्थ की समाप्ति पर किसी की हार-जीत घोषित नहीं की जाएगी। प्रश्नोत्तरों को लिखा जाएगा और उन पर दोनों के हस्ताक्षर होंगे। तत्पश्चात् उन्हें लाला मेहरचंद और मुन्शी महमूद हुसैन छपवा देंगे। शास्त्रार्थ के अन्त में

मौलवी साहब ने एक अभद्र आचरण यह किया कि अमीर नासिरुद्दीन की खानकाह के दरवाजे पर आकर उन्होंने अपनी विजय की बात कही और उपस्थित मुसलमानों से वाहवाही चाही। यद्यपि पढ़े-लिखे मुसलमान तो इसे मूर्खता का खेल समझ कर इधर-उधर चले गए किन्तु अनपढ़ लोगों ने मौलवी की जीत की धूम मचा दी और उन्हें घोड़े पर चढ़ाकर गली-कूचों में विजय का जुलूस निकाला।

स्वामीजी और मौलवी साहब के बीच जो प्रश्नोत्तर हुए उन पर लाला मेहरचंद और मौलवी महमूद हुसैन के हस्ताक्षर हैं। यह शास्त्रार्थ साधारण सा है। करामात की सिद्धि में मौलवी की युक्तियाँ प्रबल नहीं हैं जबकि आवागमन की युक्तियाँ प्रबल तथा रोचक हैं। उस समय जालंधर में आर्यसमाज की स्थापना नहीं हुई।

स्वामीजी 26 अक्टूबर 1877 को फीरोजपुर पहुँचे। इन दिनों यहाँ एक हिन्दू सभा थी और लाला मथुरादास उसके प्रधान थे। लाला मथुरादास को किसी ने लाहौर से आकर स्वामीजी का वृत्तान्त सुनाया तो उन्होंने गोविन्दलाल कायस्थ को स्वामीजी को लेने के लिए लाहौर भेजा। इस प्रकार स्वामीजी उक्त तिथि को फीरोजपुर आए। लाला मथुरादास ने स्वामीजी के आगमन की प्रसन्नता में एक नया मकान तैयार कराया, किन्तु वह शहर में था, इसलिए उन्हें तोपखाने के समीप लाला बनवारीलाल की कोठी में ठहराया। व्याख्यान का प्रबंध लाला मथुरादास के घर के बाहर शामियानों में किया गया। 8 दिन तक व्याख्यानों का सिलसिला चला। अन्त में हिन्दू सभा का ही नाम बदल कर आर्यसमाज कर दिया गया। इसी नगर में आर्यसमाज का प्रसिद्ध अनाथालय है जो लाला मथुरादास के पुरुषार्थ का परिणाम है।

फीरोजपुर से स्वामीजी 8 नवम्बर 1877 को रावलपिण्डी पहुँचे। यहाँ उन्होंने लगभग बीस व्याख्यान दिए। कुछ दिन बाद उनका निवास बदल गया और वे सरदार सुजानसिंह के बाग में आ गए और दिसम्बर के अन्त तक वहीं रहे। व्याख्यानों का क्रम यह रहा कि दो दिन व्याख्यान हों और एक दिन विश्राम का रहे। यहाँ भी आर्यसमाज स्थापित हो गया। लाला गणेशदास प्रधान और भक्त कृष्णाचन्द्र मन्त्री बने।

रावलपिण्डी से चल कर 30 दिसम्बर 1877 को स्वामीजी जेहलम आए और चौदह दिन तक व्याख्यान देते रहे। यहाँ भी आर्यसमाज स्थापित हो गया। मास्टर लक्ष्मणप्रसाद प्रधान नियत हुए जो पहले ब्रह्मसमाजी थे। वन विभाग के लाला ज्वालाप्रसाद मन्त्री बनाए गए। लाला लक्ष्मणप्रसाद पुनः ब्राह्ममत में चले गए और कहने लगे कि स्वामीजी वेदों को ईश्वरप्रणीत नहीं मानते थे और न मैंने ही उनके समक्ष वेदों को ईश्वर रचित माना। उनका यह कथन सत्य नहीं है क्योंकि उन्होंने शाहजहांपुर के पत्र 'आर्य दर्पण' में यह लिखा था कि सद्विद्या के चार ग्रन्थ ऋग्, यजु, साम और अथर्व नामक ईश्वरोक्त हैं और इनसे ही मनुष्य को सत्य ज्ञान मिलता है।

जेहलम से चल कर स्वामीजी 13 जनवरी 1878 को गुजरात आए और 2 फरवरी तक यहाँ रहे। नगर के लोगों ने उन पर ईंट तथा पत्थर फेंके परन्तु स्वामीजी अपने कर्त्तव्य से नहीं हटे। अनेक पण्डित मिलने के लिए आए और वार्तालाप के पश्चात् चले गए।

गुजरात से चल कर स्वामीजी 2 फरवरी 1878 को वजीराबाद आए। उनके आगमन से पहले ही यहाँ आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी। लाला लब्धाराम (सहायक इंजीनियर) प्रधान थे और लाला सुखदयाल मन्त्री पद पर थे। समाज के सभासदों ने महाराज का स्वागत किया और राजा फकीरुल्लाह की कोठी में उन्हें ठहराया। एक दिन एक पण्डित से स्वामीजी का शास्त्रार्थ हो रहा था। उसने एक मंत्र का अर्थ पढ़ा तो स्वामीजी ने मूल मन्त्र पूछ लिया। वह बतला नहीं सका। इतने में एक लड़का 'छी-छी' करने लगा। लाला लब्धाराम ने उसे लकड़ी से हटाना चाहा। इस पर लोगों ने स्वामीजी और लालाजी पर हमला कर दिया। स्वामीजी ने अपना सोटा उठाया और उसे चारों ओर घुमाया। फिर भला किसकी सामर्थ्य थी जो उनके सामने ठहरता। उस समय तो लोग हट गए, किन्तु जब स्वामीजी मकान के ऊपर चले गए तो लोग उन पर पत्थर फेंकने लगे। स्वामीजी का क्लर्क बिहारी बाबू उन्हें समझाने के लिए नीचे गया तो लोगों ने उसे अकेला जानकर पीटना आरम्भ किया। जब स्वामीजी को यह पता लगा तो वे ललकार कर नीचे आए। इतने में बदमाश लोग भाग गए। आर्यसमाजियों ने अभियोग दायर करने का विचार किया, किन्तु स्वामीजी ने सबको समझा-बुझाकर शान्त किया।

यहाँ से स्वामीजी 7 फरवरी को गुजरांवाला आए और सरदार महासिंह की समाधि पर उतरे। नित्य व्याख्यान होने लगे। 18 फरवरी को गिरजाघर में पादरी साहब से शास्त्रार्थ हुआ। उस समय अनेक प्रतिष्ठित अंग्रेज तथा भारतीय उपस्थित थे। डिप्टी गोपालदास मध्यस्थ बनाए गए। उन्होंने इस दिन के शास्त्रार्थ को स्वामीजी के पक्ष में घोषित किया। शास्त्रार्थ सुनने के लिए इतने अधिक लोग आए थे कि बहुतों को तो गिरजाघर में स्थान ही नहीं मिला। वे बाहर ही खड़े रहे। अतः निश्चय किया गया कि दूसरे दिन की चर्चा कहीं अन्य स्थान पर हो। दूसरे दिन शास्त्रार्थ का समय दिन के चार बजे निश्चय हुआ था, परन्तु पादरी साहब बारह बजे ही गिरजाघर में पहुँच गए और स्वामीजी तथा डिप्टी साहब को बुला भेजा। दोनों ने कहा कि यह समय शास्त्रार्थ का नहीं है और गिरजे में स्थान भी कम है। शास्त्रार्थ किसी अन्य स्थान पर होना चाहिए परन्तु पादरी साहब ने घोषित कर दिया कि स्वामीजी उनके बुलाने पर नहीं आए इसलिए वे हार गए। उधर स्वामीजी ने पूर्व निश्चित स्थान पर चार बजे लोगों के बैठने के लिए दरियों की व्यवस्था की और पादरी साहब को बुलाया, परन्तु वे नहीं आए। स्वामीजी की उपस्थिति में ही गुजरांवाला में आर्यसमाज की स्थापना हो गई। मुन्शी नारायण कृष्ण प्रधान नियत हुए तथा अन्य अधिकारी व सभासद बनाए गए।

स्वामीजी अभी गुजरांवाला में ही थे कि मुल्तान से उन्हें डॉ० जसवन्तराय का पत्र मिला। अतः 4 मार्च को वहाँ से चल कर वे लाहौर आए और 12 मार्च को वहाँ से मुल्तान पधारे। यहाँ वे 37 दिन रहे और 33 व्याख्यान दिए। कुछ व्याख्यान छावनी में हुए। 4 अप्रैल 1878 को यहाँ आर्यसमाज स्थापित हो गया। सात लोग सदस्य बने तो लोगों ने अल्प संख्या को देखकर उपहास किया। उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि इस्लाम के पैगम्बर को तो आरम्भ में उनकी पत्नी ही सहायक मिली थीं। अब देखो इस्लाम का संसार में कितना प्रचार है।

पश्चिमोत्तर प्रदेश (उत्तर प्रदेश) तथा राजपूताने में धर्म-प्रचार तथा आर्यसमाजों की स्थापना

25 जुलाई 1878 से जनवरी 1879 तक

जब स्वामीजी अभी पंजाब में ही थे कि उन्हें रुड़की के पं० उमरावसिंह तथा अन्य लोगों का पत्र मिला। इस निमन्त्रण को स्वीकार कर 25 जुलाई 1878 को स्वामीजी रुड़की पहुँचे। लाला शम्भुनाथ के बंगले पर उनके ठहरने की व्यवस्था की गई। 11 अगस्त तक वे यहाँ रहे और प्रायः नित्य ही उपदेश देते रहे। स्वामीजी के आगमन के पहले यहाँ एक मौलवी साहब आए थे और उन्होंने अपने व्याख्यानों में हिन्दुओं तथा ईसाइयों, दोनों की निंदा की थी। जब स्वामीजी यहाँ आए तो मुसलमानो ने समझा कि मौलवी साहब के पूर्व दिए व्याख्यानों का खण्डन करने के लिए इन्हें बुलाया गया है। इसलिए वे महाराज के व्याख्यानों में हल्लागुल्ला मचाने की चेष्टा करते, किन्तु प्रबंधकों ने ऐसी व्यवस्था कर दी कि उन्हें बाधा पहुँचाने का मौका ही नहीं मिला।

सेना के एक उच्च अधिकारी कर्नल मार्शल (आफिसर कमान्डिंग) तथा कैप्टन स्टुअर्ट क्वार्टर मास्टर के साथ स्वामीजी के व्याख्यान सुनने आए। जब स्वामीजी ने बाइबिल पर शंका की तो कर्नल साहब घबराए और बीच में ही प्रश्न करने लगे। स्वामीजी ने समाधानकारक उत्तर दिए। कर्नल साहब बीच-बीच में क्रोध का प्रदर्शन भी करते रहे किन्तु स्वामी के धैर्य के आगे उनका कुछ बस न चला। अन्त में दूसरे दिन आने का कहकर चले गए, परन्तु वे नहीं आए। कैप्टन स्टुअर्ट अवश्य आए और स्वामीजी के उपेदश प्रेमपूर्वक सुनते रहे।

मुसलमानों ने देवबंद-निवासी मौलवी मोहम्मद कासिम को शास्त्रार्थ के लिए बुलाया। वे आए किन्तु शास्त्रार्थ के नियम बनाने मे ही कई दिन बीत गए, किन्तु किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सके। 20 अगस्त 1878 को रुड़की में आर्यसमाज स्थापित हो गया। मास्टर शंकरलाल प्रधान, पं० उमरावसिंह मन्त्री तथा मास्टर रंगीलाल कोषाध्यक्ष बनाए गए। यहाँ से स्वामीजी अलीगढ़ चले गए। इस बार वे अलीगढ़ केवल चार दिन ठहरे और एक ही व्याख्यान दिया। बम्बई से स्वामीजी के अनेक भक्त—मूलजी ठाकुर सी, हरिश्चन्द्र चिन्तामणि तथा श्यामजी कृष्ण वर्मा यहाँ उनसे मिलने आए। सैयद अहमद खाँ ने उनके स्वागत में प्रीतिभोज रखा परन्तु अस्वस्थतावश स्वामीजी उसमें नहीं गए।

अलीगढ़ से महाराज 26 अगस्त को मेरठ आए और हिन्दुस्तानी रिसाले की लाइन के निकट लाला दामोदरदास की कोठी पर उतरे। 15 दिनों तक उनके व्याख्यान इसी कोठी पर

हुए। तत्पश्चात् लाला गणेशीलाल के निवास पर यह क्रम चला। इसके बाद 1 सितम्बर से 4 सितम्बर तक 'जलवा-ए-तूर' अखबार के दफ्तर में उनके भाषण हुए। छेदीलाल गुमाश्ता की कोठी पर भी धर्मोपदेशों का सिलसिला चला। 28 सितम्बर को आर्यसमाज की स्थापना हो गई। प्रारम्भ में 82 सदस्य बने। अधिकारियों का चुनाव हुआ। पं० कुन्दनलाल प्रधान, लाला रामशरणदास उपप्रधान, बाबू आनन्दीलाल मन्त्री, छेदीलाल गुमाश्ता कोषाध्यक्ष तथा पं० जगन्नाथ प्रसाद को पुस्तकाध्यक्ष निर्वाचित किया गया। पं० अम्बाशंकर उपमन्त्री नियत हुए।

मेरठ में कोई शास्त्रार्थ नहीं हुआ। सबसे पहले मुसलमानों की ओर से मौलवी अब्दुल्ला ने शास्त्रार्थ का विज्ञापन दिया परन्तु शर्त रखी कि सारी चर्चा मौखिक ही होगी, इसे लेखबद्ध नहीं किया जाएगा। उधर सनातनी पण्डितों ने मूर्तिपूजा, अवतार, तीर्थ आदि पर कुछ प्रश्न लिखकर भेजे जिनके उत्तर सभा में सबके सामने दिए गए। अन्त में शास्त्रार्थ का निश्चय हुआ तो पण्डितों ने यह बहाना बनाया कि पहले स्वामी दयानन्द के वर्ण और आश्रम का निश्चय होना चाहिए। इसके बिना शास्त्रार्थ नहीं हो सकता।

मेरठ से स्वामीजी 8 अक्टूबर को दिल्ली आए और 6 नवम्बर तक धर्मोपदेशों में व्यस्त रहे। शाह जी के छत्ते में (गवर्नमेंट स्कूल के पास) उनके व्याख्यान हुए। दिल्ली में भी आर्य-समाज की स्थापना हो गई। लाला मक्खनलाल प्रधान और लाला हकूमत राय मन्त्री बने। दिल्ली से चलकर स्वामीजी 7 नवम्बर को अजमेर आए। जब स्वामीजी पंजाब में ही थे, उस समय अजमेरवासियों ने उन्हें निमन्त्रित किया था और यह भी लिख दिया था कि इसके लिए समुचित चंदा वे कर लेंगे। जब यह बात विपक्षियों को मालूम हुई तो उन्होंने एक पत्र गुपचुप स्वामीजी को भेजा जिसमें यह लिखा था कि चंदे की व्यवस्था नहीं हो सकी है, अतः आप अभी न पधारें। स्वामीजी ने इस पत्र की सूचना मुन्शी समर्थदान को दी तो मुन्शीजी ने सारे तथ्यों को जानकर पुनः उन्हें सूचित किया और आने की प्रार्थना की। फलतः स्वामीजी अजमेर आए और सीधे पुष्कर चले गए। यहाँ वे जोधपुर घाट पर नाथजी के दरीचे नामक स्थान पर ठहरे। सर्वसाधारण को उनके आने का समाचार दिया गया। जब तक कार्तिक का यह मेला रहा, स्वामीजी के उपदेश होते रहे। तत्पश्चात् वे अजमेर आ गए और 1 दिसम्बर 1878 तक उनके व्याख्यान होते रहे। राय भागराम, सरदार बहादुर अमीचंद, सरदार भगतसिंह तथा मसूदा ठिकाने के राव बहादुरसिंह आदि प्रतिष्ठित लोग उनके व्याख्यानों में आते रहे। राय भागराम वर्षों तक आर्य-समाज अजमेर के सदस्य रहे। उन दिनों स्वामीजी को अतिसार रोग के कारण कष्ट हुआ परन्तु वे निर्धारित कार्यक्रम को पूरा करते रहे। 28 नवम्बर को पादरी ग्रे से उनका वार्तालाप हुआ। स्वामीजी ने तौरेत और इंजील पर शंका की जिसका पादरी साहब ने कुछ उत्तर भी दिया।

अजमेर से मसूदा के राव साहब के आग्रह को मान कर स्वामीजी मसूदा आए और 9 दिसम्बर तक यहाँ व्याख्यान दिए। पुनः 10 दिसम्बर को वे नसीराबाद (छावनी) पहुँचे और 14 दिसम्बर तक वहाँ के लोगों को उपदेशामृत का पान कराया। नसीराबाद से जयपुर होते

हुए 24 दिसम्बर को रेवाड़ी पहुँचे। राव तुलाराम के पुत्र राव युधिष्ठिरसिंह ने उन्हें यहाँ आमन्त्रित किया था। 24 दिसम्बर 1878 से 9 जनवरी 1879 तक उनके ग्यारह व्याख्यान रेवाड़ी में हुए। धर्मचर्चा का साधारण सिलसिला भी चलता रहा। रेवाड़ी से महाराज दिल्ली आए और दो-तीन व्याख्यान देकर मेरठ चले गए। वहाँ से सहारनपुर, रुड़की होते हुए वे हरिद्वार आए।

पुनः हरिद्वार के कुम्भ में धर्मप्रचार

27 फरवरी '79 से 11 अप्रैल 1879 तक

स्वामीजी रुड़की से ज्वालापुर आए जहाँ मुख्यतः हरिद्वार के पण्डे रहते हैं। यहाँ सात दिन तक ठहरे और 27 फरवरी 1879 को हरिद्वार आकर श्रवणनाथ के बाग तथा निर्मले साधुओं की छावनी के निकट मूला मिस्त्री के खेत में डेरा डाला। जो आर्य लोग हरिद्वार आए थे वे भी स्वामीजी के समीप आ गए। आते ही समस्त मार्गों, घाटों, पुलों तथा मंदिरों पर एक विज्ञापन लगवा दिया जिसमें स्वामीजी ने अपने आने की तो सूचना दी ही अपने मन्तव्य भी लिख दिए तथा लोगों को धर्मचर्चा हेतु आमन्त्रित किया।

इस विज्ञापन का अन्तिम भाग

इसलिए आर्यों के इस महासमुदाय में वेद मन्त्रों द्वारा सब सज्जन मनुष्यों के हित के लिए ईश्वराज्ञा का प्रकाश संक्षेप से किया जाता है। फिर इसके नीचे ऋग्वेद मण्डल 1 सूक्त 71 मन्त्र 5, 6 व 10 को लिखकर उनकी व्याख्या की, और ऐतरेय, तैत्तिरीय, आरण्यक, (उपनिषद्) का एक-एक वाक्य लिख कर उनके अर्थ भी लिख दिए। और समाप्ति में यह प्रार्थना की कि—

"यह बड़े आश्चर्य की बात है कि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, वर्षा और ऋतु मास, पक्ष, दिन, रात्रि, प्रहर, मुहूर्त, घड़ी, पल, क्षण, आँख, नाक आदि शरीर, औषध वनस्पति, खाना-पीना आदि व्यवहार ज्यों के त्यों हैं (अर्थात् जैसे ब्रह्मा के समय लेकर जैमिनि मुनि के समय तक इस देश में थे) फिर हम आर्यों की दशा क्यों पलट गई है। मनुष्यो ! आप अत्यन्त विचारपूर्वक देखो कि जिसका फल दुःख वह धर्म और जिसका फल सुख वह अधर्म कभी हो सकता है ? अपनी दशा अन्यथा होने का यही कारण है, जो ऊपर लिख आए हैं। अर्थात् वेद-विरुद्ध चलना या फिर उस प्राचीन अवस्था की प्राप्ति कराने वाले (रीति) वेदानुकूल आचार पर चलना है। और वह आचार यह है। जैसे आर्यावर्त-निवासी आर्य, आर्यसमाजों के सभासद करना और कराना चाहते हैं कि संस्कृत विद्या के जानने वाले स्वदेशीय मनुष्यों की वृद्धि के अभिलाषी परोपकारक निष्कपट होकर सब को सत्यविद्या देने की इच्छा-युक्त धार्मिक विद्वानों की उपदेशक मण्डली, और वेदादि सच्छास्त्रों को पढ़ने के लिए पाठशालाएँ नियत किया चाहते हैं। इसमें जिस किसी को योग्यता हो वह अभिप्राय को प्रसिद्ध कर, इस परोपकारी महोत्तम कार्य में प्रवृत्त हो, जिससे मनुष्य मात्र की शीघ्र उन्नति हो सकती है" आदि।

इस अन्तिम अपील में स्वामीजी ने प्रकट किया कि वे दो विषयों को सुधार का मुख्य कारण समझते हैं—प्रथम उपदेशक मण्डली ऐसे मनुष्यों की हो जो संस्कृतवेत्ता, स्वदेशीय मनुष्योन्नति के अभिलाषी, परोपकारी, निष्कपट, सबको सत्य विद्या देने की इच्छा वाले, धार्मिक विद्वान् हों । दूसरा वेदादि सत्शास्त्रों के पढ़ने के लिए पाठशाला स्थापित होनी चाहिए ।

इस बार कुम्भ में बड़ी भीड़ थी । स्वामीजी ने अपने 12 अप्रैल के पत्र में लिखा कि अब तक दो लाख आदमी मेले में आ चुके हैं । अभी पर्व समाप्त होने में 15 दिन बाकी हैं । पर्व के मुख्य दिन तो बहुत बड़ी संख्या में लोग आए । 1924 वि० के कुम्भ से दुगुनी भीड़ थी । गंगा के किनारे आठ-दस कोस तक यात्री ही यात्री नजर आते थे । स्वामीजी ने इस पौराणिक दल में अपनी ध्वजा फहराकर वैदिक धर्म का डंका बजाया । मूर्तिपूजादि पौराणिक सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष खण्डन किया । अनेक ब्राह्मण, संन्यासी, वैरागी और निर्मले साधु विचार के लिए आते और स्वामीजी के स्पष्ट खण्डन से रुष्ट होकर चले जाते । कई तो यहाँ तक कह जाते कि इच्छा तो होती है तुम्हें मार डालूँ क्योंकि तुमने हमारी जीविका छीन ली है । परन्तु उनका बस नहीं चलता । काशी के स्वामी विशुद्धानन्द भी आए थे । एक अन्य सतुआ स्वामी भी आए थे जो अच्छे विद्वान् माने जाते थे और कनखल में ठहरे थे । सुखदेव गिरि और जीवन गिरि नामक दो साधु भी पण्डित गिने जाते थे । स्वामीजी ने विचार-विमर्श के लिए सबको पत्र भेजे परन्तु कोई सामने नहीं आया । पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी ने एक सभा आयोजित की और उसकी ओर से निम्न पत्र स्वामी जी को भेजा—

॥ श्री गणेशायनमः ॥

श्री दयानन्द सरस्वती प्रति

निवेदन मिदं लिखत साधु वर्ग तथा पण्डितजन और सभासद लोगों की प्रार्थना यह है कि तीन-चार दिन से नित्य चार बजे से 6 बजे तक धर्म विषयक सदसत् विचार होता है । और यह भी ज्ञात हो कि जब से जूना अखाड़ा माया देवी के समीप अलीगढ़ सद्धर्मावलम्बी सभा प्रारम्भ हुई तब से इस सभा से आपके पास पत्र भेजे गए, अब यह पत्र भेजते हैं यदि इस सभा में आकर आप भी कुछ वक्तृता करें तो इसमें हमको दो फल दीखते हैं । प्रथम तो यह कि एकान्त बैठ कर वेद शास्त्र द्वारा व्याख्यान देते रहे हो, विद्वानों के सम्मुख वक्तृता करने में सबको यह ठीक निश्चय हो जाएगा कि आपका कथन वेद व शास्त्र के कथनानुसार है या नहीं । दूसरा यह कि यदि आपका कहना वेद व शास्त्र के अनुसार निकला तो हम सब आपके मत प्रतिपादन में उद्यत हो जाएँगे और इस एक भाव से आर्यावर्त को बड़ा भारी लाभ होगा । आप कृपा करके सभा में अवश्य पधारें यदि किसी हेतु से आना न हो तो वह हेतु लिखिएगा ।

पत्र पर अनेक पण्डितों के हस्ताक्षर थे ।

इसके उत्तर में स्वामीजी ने निम्न पत्र भेजा ।

"शास्त्रार्थ करने में मुझे किसी भी समय इन्कार नहीं है । मैं इसके लिए सदा उद्यत रहता हूँ । परन्तु शास्त्रार्थ इस रीति से होना चाहिए कि इसका प्रबंधकर्ता कोई राजपुरुष हो, इस

शास्त्रार्थ में पण्डितों के सिवाय कोई अनपढ़ न हो। शास्त्रार्थ का स्थान ऐसा हो जो न मेरा और न आपका गिना जाए। अब जहाँ यह सभा हुई है (जूना अखाड़े में) वहाँ आना मेरे लिए भयावह है। यद्यपि मुझे इसमें शोक नहीं कि मेरा शरीर पात हो जाए परन्तु इस बात का शोक है कि मैं जिस परोपकार के लिए इस शरीर को धारण किए हूँ वह कार्य नहीं हो सकेगा। इसलिए मैं वहाँ आना उचित नहीं समझता।"

स्वामीजी ने यह भी कहला भेजा कि यदि स्वामी विशुद्धानन्द यह कह दें कि ये लोग मेरे मुकाबले में वेदों को समझने की अधिक योग्यता रखते हैं तो मैं उनसे शास्त्रार्थ करूँगा तथा स्वामी विशुद्धानन्द को ही मध्यस्थ बनाऊँगा। विपक्षी लोग स्वामीजी के इस पत्र को लेकर स्वामी विशुद्धानन्द के पास गए। जब वे उक्त स्वामीजी के पास पहुँचे तो रुड़की के मास्टर जमीयतराम वहीं थे। उनका कहना था कि स्वामी विशुद्धानन्द इस पत्र (जो स्वामीजी को भेजा गया था) के लेखकों—श्रद्धाराम फिल्लौरी तथा पं० चतुर्भुज को गाली देने लगे और कहने लगे कि ये लोग स्वामी दयानन्द के मुकाबले में एक अक्षर भी नहीं जानते। स्वामी विशुद्धानन्द ने स्वामी दयानन्द को भी पत्र लिखा और कहा कि बहुत से अनपढ़ मूर्ख उपद्रव करने के लिए इकट्ठे हुए हैं। आप उनके कथन पर थोड़ा भी ध्यान न दें।

जय सायंकाल पं० भीमसेन (स्वामीजी के शिष्य) यह पत्र उपस्थित लोगों को सुना रहे थे तो उस समय लगभग 10 हजार लोगों की भीड़ थी। मास्टर जमीयतराम कहते हैं कि यहाँ स्वामीजी नित्य नैमित्तिक कर्म से अवकाश पाकर सात बजे से पहले ही आसन पर बैठ जाते थे और ग्यारह-बारह बजे तक साधुओं, पण्डितों और सर्वसाधारण से धर्म-विषयक वार्तालाप करते थे। फिर 1 बजे से 5 बजे तक सभा होती थी। तदनन्तर 7 से 8 तक जो सामाजिक लोग, पण्डित और अन्य आर्य पुरुष आते थे, उनसे परस्पर धर्मचर्चा होती थी।

सारांश यह कि स्वामीजी का सारा दिन ही धर्मचर्चा में व्यतीत होता। कार्याधिक्य तथा जलवायु की प्रतिकूलता के कारण उन्हें अतिसार (दस्त) हो गया। निरन्तर 15 दिन तक वे इस व्याधि से पीड़ित रहे। 2 अप्रैल के अपने पत्र में स्वामीजी लिखते हैं–'हमको 15 दिन से अतिसार लगे हैं। दिन भर में 10 या 12 बार जाते हैं। हाँ, अब कुछ आराम है, परन्तु निर्बलता बहुत है।' वैशाख बदि 12 सं० 1936 के पत्र में लिखा–'अब तक 430 के लगभग दस्त हो चुके हैं।' इतनी कड़ी व्याधि होने पर भी वह पुरुषसिंह अपने स्थान से न हिला, कहीं पौराणिक पण्डित यह प्रसिद्ध न करें कि स्वामी दयानन्द मेला छोड़कर भाग गए। अपने प्रथम विज्ञापन के अनुसार पर्व की समाप्ति तक वे वहाँ रहे और लोगों को शिक्षा देते हुए कहा कि अब आप लोग शीघ्र अपने घरों को चले जाओ क्योंकि यहाँ महामारी फैल रही है। उन्होंने आर्यसमाजियों को भी वहाँ से विदा कर दिया।

पं० श्रद्धाराम ने हरिद्वार में एक और पाखण्ड रचा। उसने कुछ साधुओं को सिखला कर उनसे कहलवाया कि हमने स्वामी दयानन्द के उपदेश सुनकर उनका मत स्वीकार कर लिया था, किन्तु अब हमें अपनी भूल विदित हो गई है। हमको फिर सनातन धर्म में ले लिया जाए। यह

पाखण्ड रच कर वह उन्हें हर की पौड़ी पर ले गए और इस प्रायश्चित्त की बात को खूब प्रचारित किया । परन्तु अन्त में उनकी मण्डली के ही एक पं० गोपाल शास्त्री ने यह सब भेद खोल दिया । (विद्याप्रकाश, जून 1879)

एक दिन परमहंस आनन्दघन नामक एक संन्यासी उनके डेरे में आए । स्वामीजी उन्हें आते देखकर खड़े हो गए और शिविर के द्वार तक जाकर उनकी अगवानी की तथा आसन पर बैठाया । ये महाशय वेदान्ती थे और दो घण्टों तक स्वामीजी से वार्तालाप करते रहे । स्वामीजी पुस्तकें निकाल कर उन्हें प्रमाण दिखाते रहे । दोनों ने साथ ही भोजन भी किया । अन्त में दो बजे यह चर्चा समाप्त हुई, तब 80 वर्षीय उन वृद्ध परमहंस ने अपने शिष्यों से कहा कि मैंने दयानन्द के मत को स्वीकार कर लिया है, आप लोग भी ऐसा ही मानो ।

इस मेले में मेरठ के कमिश्नर, सहारनपुर के जिलाधीश तथा वन विभाग के अधिकारी भी स्वामीजी से मिलने आते थे । जब स्वामीजी उपासना में लीन होते तो साहब लोग उनकी प्रतीक्षा करते और जब उपासना के पश्चात् उनसे मिलते तो उन्हें प्रसन्नता होती । इन अधिकारियों ने स्वामीजी के डेरे पर सुरक्षाकर्मी भी लगा दिए थे । मेले में फैली गंदगी के कारण शीघ्र ही वहाँ महामारी फैल गई । स्वामीजी को इसकी आशंका पहले से ही थी । अतः वे 11 अप्रैल को वहाँ से देहरादून चले गए । थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापक कर्नल आल्काट तथा मैडम ब्लैवेट्स्की उनसे भेंट करने भारत आ चुके थे और इस समय बम्बई में थे । पहले स्वामीजी का विचार बम्बई जाकर ही उनसे मिलने का था, किन्तु अब अस्वस्थता के कारण उन्होंने बम्बई जाने का विचार त्याग दिया और कर्नल तथा मैडम को सूचित कर दिया कि वे लोग उनसे मिलने पश्चिमोत्तर प्रदेश आ जाएँ ।

पश्चिमोत्तर प्रदेश, अवध तथा बिहार में धर्मप्रचार

14 अप्रैल 1879 से मार्च 1881 तक

हरिद्वार के कुम्भ से निवृत्त होकर स्वामीजी सीधे देहरादून आए। यहाँ के लोगों ने उन्हें आमन्त्रित किया ही था। उनका यह भी विचार था कि अतिसार के रोग से उत्पन्न दुर्बलता को दूर करने तथा पूर्ण विश्राम के लिए देहरादून एक उपयुक्त स्थान है। किन्तु बीमारी ने यहाँ भी उनका पीछा नहीं छोड़ा इसलिए व्याख्यानादि का कोई सिलसिला नहीं जम सका। दो-चार दिन बाद जब शरीर की दशा सुधरी तो व्याख्यानों की सूचना दी गई। इस नगर में आपका निवास मिस डिक साहिबा के बँगले में था। जब व्याख्यान में स्वामीजी ने बाइबिल का खण्डन किया तो बँगले की स्वामिनी तो क्रुद्ध हुई ही, नगर के प्रमुख पादरी ने कहा— 'पण्डितजी ने केवल धूल उड़ाई है और अपने वैदिक मत को धूल से ढक दिया है।' साथ ही यह भी कहा कि 'आज तक किसी पण्डित ने हमें वेदों के बारे में ऐसा नहीं बताया।' जब स्वामीजी ने पादरी के कथन का उत्तर देना आरम्भ किया तो पादरी साहब का क्रोध और भड़क उठा तथा वे अनर्गल वचन बोलने लगे। उनके अंग्रेज साथियों ने भी उनके इस क्रोध को अनुचित माना और उन्हें रोकने का प्रयास किया। इस पर पादरी और भी रुष्ट हो गए और वहाँ से चले गए।

उनके चलने जाने के पश्चात् दो अंग्रेजों ने स्वामीजी से एकान्त में कुछ चर्चा की। इनके साथ एक देसी ईसाई मि० बोस भी थे जो स्थानीय मिशन हाई स्कूल में हैडमास्टर थे। इन अंग्रेजों में से एक मि० कार्लटन ने अभी बात आरम्भ भी नहीं की थी कि मि० बोस ने बाइबिल के समर्थन में कुछ कहना आरम्भ किया। इसका नतीजा यह निकला कि मि० कार्लटन और बोस आपस में वाक्युद्ध में उलझ गए। आधी रात तक भी यह विवाद शान्त नहीं हुआ।

स्वामीजी के ये व्याख्यान मतमतान्तरों के खण्डन की दृष्टि से अद्वितीय थे। उन्होंने सैमेटिक मजहबों के साथ-साथ ब्राह्म मत की भी आलोचना की। इस आलोचना से नाराज होकर अनेक लोग स्वामीजी के विरुद्ध हो गए। ऐसी आशंका हो गई कि बदले की आग में जलने वाला कोई विरोधी उनके फूस के बँगले में आग न लगा दे। दूसरे दिन मुसलमानों का एक समूह स्वामीजी के निवास पर आया, किन्तु गनीमत यही रही कि उन्होंने कोई उपद्रव नहीं किया। केवल शास्त्रार्थ के नियमों पर ही चर्चा हुई। यहाँ उनके केवल 9 व्याख्यान हो सके। एक तो शारीरिक दुर्बलता दूर नहीं हुई थी और व्याधि ने भी पूरी तरह पीछा नहीं छोड़ा था। जब व्याख्यानों के कारण शरीर पर बोझ पड़ा तो रोग ने फिर हमला कर दिया और अतिसार का दौर

आरम्भ हो गया । अतः वे 30 अप्रैल को यहाँ से सहारनपुर के लिए चल पड़े ।

सहारनपुर में कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवेट्स्की स्वामीजी की प्रतीक्षा कर रहे थे । यहाँ महाराज ने उनसे वार्तालाप किया और दो दिन पश्चात् उन्हें साथ लेकर मेरठ आ गए । 2 मई को जब मेरठ आए तो स्वामीजी ने अपने भाषण में थियोसोफी के प्रवर्तकों की चर्चा की । व्याख्यान समाप्त होने पर कर्नल आल्काट ने कुछ प्रारम्भिक बातें कहीं और दूसरे दिन व्याख्यान देने की सूचना दी । अतः 5 मई को जब उनका व्याख्यान हुआ तो उन्होंने पहले तो अमेरिका के बारे में कुछ बताया, पुनः ईसाई मत के बारे में कुछ आलोचना की । इसके पश्चात् उन्होंने थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना के उद्देश्य को स्पष्ट किया और यह भी बताया कि स्वामी दयानन्द को उन्होंने अपना गुरु तथा मार्गदर्शक क्यों स्वीकार किया है । उनके व्याख्यान के समाप्त होने पर एक व्यक्ति ने हिन्दुस्तानी में उसका अनुवाद उपस्थित श्रोताओं को सुनाया । स्वामीजी ने भी संक्षेप में कुछ कहा । अन्त में मैडम ब्लैवेट्स्की ने दो शब्द कहे और सभा समाप्त हुई । मेरठ में इन विदेशी अतिथियों को प्रीतिभोज दिया गया । 7 मई को ये लोग बम्बई लौट गए । किन्तु स्वामीजी 25 मई तक वहीं रहे ।

यहाँ से चल कर स्वामीजी छलेसर आए और लगभग 1 मास तक ठहरे । 3 जुलाई को वे मुरादाबाद आए । यह उनकी दूसरी बार की मुरादाबाद यात्रा थी । इस बार भी वे राजा जयकृष्णदास के बँगले पर ठहरे । दीर्घकालीन रुग्णता ने उन्हें दुर्बल कर दिया था, इसलिए 27 दिन रुकने पर भी तीन ही व्याख्यान दे पाए । एक व्याख्यान जिलाधीश के प्रबंध से राजनीति पर भी हुआ । इस व्याख्यान की समाप्ति पर कलैक्टर ने वक्ता की प्रशंसा की । मुन्शी इन्द्रमणि और साहू श्यामसुन्दर इनके शिष्य बन गए । मुन्शीजी ने इस्लाम के खण्डन में अनेक पुस्तकें लिखी थीं, इसलिए उनकी पर्याप्त ख्याति थी । अब स्वामीजी का सम्पर्क मिलने से उनका सम्मान अधिक बढ़ गया । मुन्शीजी का अरबी-फारसी का ज्ञान तो काफी था, किन्तु संस्कृत विद्या से रहित होने के कारण वे स्वधर्म का प्रतिपादन करने में अक्षम थे । अब स्वामीजी के सान्निध्य में उन्हें अपनी इस कमी को दूर करने का अवसर मिला । मुन्शीजी ने आर्यसमाज की सदस्यता तो 1876 में ही स्वीकार कर ली थी, किन्तु सदस्यों की शिथिलता के कारण मुरादाबाद का समाज निष्क्रिय हो गया था । इस बार 20 जुलाई को हवन के पश्चात् इसे पुनरुज्जीवित किया गया । मुन्शी इन्द्रमणि को प्रधान बनाया गया । अन्य अधिकारी भी चुने गए । सभासदों की संख्या 28 थी । इनके समक्ष उपदेश करते हुए स्वामीजी ने कहा कि आप यह कहीं न कहें कि आप दयानन्द के मत में हैं । यही कहिए कि हमारा मत वेद है । अब उन्हें बदायूँ से निमन्त्रण मिला तो वे 30 जुलाई को वहाँ चले गए ।

बदायूँ में 14 अगस्त तक उनके लगातार व्याख्यान होते रहे । ईश्वर निराकार है या साकार तथा वेदों को पढ़ने का अधिकार किसे है, इन दो विषयों पर यहाँ के पण्डितों से उनका वार्तालाप हुआ । पण्डितों ने यजुर्वेद के 'सहस्र शीर्षा' आदि मन्त्र पढ़ कर सिद्ध किया कि परमात्मा हजार सिरों वाला है । मन्त्र के वास्तविक अर्थ की चर्चा करते हुए स्वामीजी ने बताया

कि 'सहस्र शीर्षा' का अर्थ हजार सिर वाला पुरुष नहीं है अपितु असंख्यात सिर, नेत्र, पादादि वाले प्राणियों को धारण करने वाला परमात्मा ही 'सहस्र शीर्षा' पुरुष है । इसी प्रकार वेद के प्रमाणों से उन्होंने अवतार-वाद का खण्डन किया तथा वेद के पठन-पाठन में मनुष्य मात्र का अधिकार प्रतिपादित किया ।

उन्हीं दिनों रक्षा बंधन का त्योहार आया तो उन्होंने देखा कि टकेटके की दक्षिणा प्राप्त करने के लिए ब्राह्मण हाथ में मौली लिए घूम रहे हैं । उन्हें ब्राह्मणों की इस भिक्षावृत्ति पर खेद हुआ और कहने लगे—"अविद्या ने ब्राह्मण वंश की कैसी दुर्दशा कर दी है । यह त्योहार शालाओं के विद्यार्थियों की रक्षा और सत्कार के लिए बनाया गया था । आज ये दरिद्र ब्राह्मण सूत बाँधते फिरते हैं ।" 14 अगस्त को स्वामीजी बरेली चले गए । यहाँ वे लक्ष्मीनारायण खजांची के यहाँ उतरे और धर्मोपदेश तथा व्याख्यानों का सिलसिला जारी किया । एक व्याख्यान में पादरी डॉ० टी० जे० स्काट, मि० रीड क्लैक्टर, मि० एडवर्ड्स कमिश्नर आदि भी उपस्थित हुए । उस दिन स्वामीजी पुराणों की मिथ्या कथाओं का खण्डन कर रहे थे । जब तक यह विषय चलता रहा तब तक तो इन लोगों ने इसका खूब आनन्द लिया । इसके बाद स्वामीजी ने विषय को बदल दिया । वे समझ गए कि हिन्दू धर्म की दुर्बलताओं को सुनकर ईसाई लोगों को उपहास करने का अवसर मिल गया है । अब उन्होंने विषय को अचानक मोड़ दिया और बाइबिल कथित ईसाई मत का खण्डन करने लगे और कुँवारी मरियम से ईसा के जन्म की कथा को हास्यास्पद बताया । प्रत्यक्षदर्शी लाला मुन्शीराम ने अपनी आत्मकथा में इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—"कमिश्नर साहब ने लाला लक्ष्मीनारायण को बुलाकर कहा कि पण्डितजी से कह दो कि वे कठोरता से खण्डन न करें । यदि मूर्ख हिन्दू और मुसलमान बिगड़ गए तो तुम्हारे स्वामी पण्डित के व्याख्यान बंद हो जाएँगे ।" खजांचीजी ने बड़े भय और संकोच से कमिश्नर का यह संदेश स्वामीजी तक पहुँचाया । अभी वे अपनी बात पूरी भी नहीं कर सके थे कि स्वामीजी उनकी घबराहट को देख कर हँस पड़े । उस दिन उनके व्याख्यान का रंग कुछ और ही था । उन्होंने आवेशपूर्वक कहा— "लोग कहते हैं कि सत्य का प्रतिपादन मत करो, कलैक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर क्लेश देगा । अरे चक्रवर्ती राजा भी अप्रसन्न क्यों न हो, हम तो सत्य का ही प्रतिपादन करेंगे ।" इसके पश्चात् उन्होंने उपनिषद् का वह वाक्य पढ़ा[1] जिसका भाव था कि आत्मा को कोई शस्त्र नहीं काट सकता, अग्नि इसे जला नहीं सकती, पानी इसे भिगो नहीं सकता तथा हवा इसे सुखा नहीं सकती । इस शास्त्रवाक्य को प्रस्तुत कर महाराज ने कहा—"जब शरीर का नष्ट होना निश्चित है तो अधर्मपूर्वक उसकी रक्षा में प्रवृत्त होना व्यर्थ है । अतः आप शरीर का तो नाश कर सकते हैं किन्तु क्या संसार में कोई ऐसा व्यक्ति भी है

---

1. वास्तव में लाला मुन्शीराम ने अपनी आत्मकथा में यही लिखा है कि उस समय स्वामी दयानन्द ने एक श्लोक पढ़ कर आत्मा की स्तुति की । 'न शस्त्र उसे काट सकें''' आदि । इस भाव को गीता के नैनं छिन्दति शस्त्राणि (गीता 2120) श्लोक में व्यक्त किया गया है । इसी अभिप्राय को कठोपनिषद् ने 'न जायते म्रियते वा' (2/18) इस वाक्य में प्रकट किया है ।

जो मेरी आत्मा का नाश कर सके। जब आत्मा की अमरता एक शाश्वत सत्य है तो सत्य को कहने में मैं कभी पीछे नहीं हटूँगा।"

पादरी स्काट स्वामीजी के व्याख्यानों में रोज आते थे। एक दिन रविवार होने पर वे नहीं आए तो स्वामीजी ने लोगों से पूछ लिया—"आज भक्त स्काट नहीं आए ?" स्वामीजी को पादरी साहब से सहज स्नेह था क्योंकि वे उनके प्रवचनों के जिज्ञासु श्रोता थे। लोगों ने कहा कि आज रविवार होने से पादरी साहब भी अपने चर्च की साप्ताहिक उपासना में व्यस्त होने के कारण नहीं आए। इस पर स्वामीजी ने कहा कि चलो, आज हम स्काट साहब के चर्च में चलें। उपस्थित तीन-चार सौ लोगों की भीड़ के साथ स्वामीजी गिरजाघर पहुँचे। तब तक पादरी साहब का प्रवचन समाप्त हो चुका था। स्वामीजी को चर्च में आया देखकर पादरी साहब उनका स्वागत करने आगे आए और उन्हें वेदी पर चलकर उपदेश देने के लिए कहा। स्वामीजी ने खड़े-खड़े ही कुछ विचार प्रकट किए। 25, 26, 27 अगस्त को पादरी स्काट से स्वामीजी का तीन पृथक्-पृथक् विषयों पर शास्त्रार्थ हुआ। ये विषय थे—(1) जीवात्मा का आवागमन (पुनर्जन्म), (2) क्या ईश्वर देह धारण करता है ? (3) ईश्वर पाप क्षमा करता है या नहीं ? यह सारा विचार लिख लिया गया। अब यह एक पुस्तक रूप में प्रकाशित हो चुका है।

बरेली से वे शाहजहांपुर गए और 17 सितम्बर तक वहाँ ठहरे। वहाँ छह व्याख्यान हुए और धर्मालाप तो नित्य ही होता रहा। पौराणिक लोगों ने शास्त्रार्थ के लिए पं० अंगद शास्त्री को बुलाया जो पीलीभीत की सरकारी पाठशाला में 15 रुपये मासिक वेतन पर अध्यापक थे। शास्त्रीजी इधर-उधर की बातें तो करते रहे, परन्तु शास्त्रार्थ के लिए सामने नहीं आए। नियम निर्धारण में ही समय व्यतीत हो गया। पं० अंगद इस प्रकार समय बिता कर स्वामीजी को ही दोषी सिद्ध करना चाहते थे। उनके पत्रों में भी अभिमान तथा अशिष्टता झलकती थी तथापि स्वामीजी अपने पत्रों में सदा ही विनम्र रहे। स्वामीजी के आगमन से पूर्व ही इस नगर में आर्य-समाज स्थापित हो गया था। मुन्शी बख्तावरसिंह, जिन्हें आगे चलकर स्वामीजी ने वैदिक मन्त्रालय का मैनेजर बनाया, यहाँ की समाज के प्रधान थे और वे 'आर्य दर्पण' नामक एक पत्र भी चलाते थे।

शाहजहाँपुर से चल कर 25 सितम्बर को महाराज फर्रूखाबाद आए। यहाँ आर्यसमाज की स्थापना तो पहले ही हो गई थी, अब स्वामीजी के आगमन से उसमें नवीन शक्ति का संचार हुआ। सभासदों ने चंदा एकत्र किया और समाज मंदिर के लिए भूमि प्राप्त की। स्वामीजी द्वारा बनाए जाने वाले वेद भाष्य के लिए एक हजार रुपया प्रदान किया। जब समाज का नया भवन तैयार हो गया तो 5 अक्टूबर 1878 को उसमें स्वामीजी का व्याख्यान हुआ। जब स्वामीजी के जाने का समय निकट आया तो पौराणिक धर्मसभा की ओर से उन्हें 25 प्रश्न लिखकर भेजे गए। 7 अक्टूबर को स्वामीजी ने उनके उत्तर दिए और 8 अक्टूबर को निकटवर्ती फतहगढ़ नगर में चले गए। धर्मसभा द्वारा पूछे गए प्रश्न अत्यन्त साधारण थे। यह पूछा गया था कि यदि कोई ईसाई या मुसलमान आर्य बन जाता है तो क्या आपके अनुयायी उसका बनाया भोजन करेंगे ?

उत्तर में स्वामीजी ने लिखा था कि मेरा कोई मत नहीं है। जो वेद के अनुसार चलता है वह, वैदिक धर्म का अनुयायी है और मैं भी इसी धर्म का अनुमोदन करता हूँ। आप लोगों ने तो अविद्या के कारण खाने, पीने, मलमूत्र त्यागने, जूते, धोती, अँगरखा पहनने को ही धर्म मान रखा है, यह खेद की बात है। यह सब तो देशाचार और लोकाचार है। इस बार अनेक लोगों ने स्वामीजी से यज्ञोपवीत धारण किया। अनेक सरकारी अफसर भी व्याख्यानों में आते थे।

फतहगढ़ से पुनः फर्रूखाबाद होते हुए वे कानपुर आए और प्रयाग होते हुए 23 अक्टूबर को मिर्जापुर पहुँचे। यहाँ 28 अक्टूबर तक उनके व्याख्यान हुए। अभी तक उनका स्वास्थ्य पूर्णतया ठीक नहीं हो पाया था। कमजोरी बाकी थी तथापि वे अपने कार्य में कभी शिथिल नहीं हुए। व्याख्यान तथा धर्मचर्चा का कार्य निरन्तर चलता रहा। साधारण मनुष्य शायद इतना परिश्रम सहन नहीं कर सकता था। साथ ही वेदभाष्य के लेखन का काम भी चल रहा था। मिर्जापुर में आर्यसमाज की स्थापना तो उनके आने के पहले ही हो गई थी। दानापुर के लोग उन्हें लेने के लिए मिर्जापुर आए तो स्वामीजी 30 अक्टूबर को वहाँ चले गए।

दानापुर में स्वामीजी का निवास 19 नवम्बर तक रहा और इस बीच विभिन्न विषयों पर 24 व्याख्यान दिए। एक व्याख्यान देशोन्नति पर था, दूसरा पाठ्य प्रणाली पर। दानापुर में आर्यसमाज अप्रैल 1878 में ही स्थापित हो गया था, जिस समय महाराज पंजाब में थे। यहाँ पहले एक हिन्दू सत सभा खुली हुई थी, उसी का नाम बदलकर आर्यसमाज कर दिया गया। यहाँ भी विपक्षियों ने स्वामीजी को डराने धमकाने की चेष्टा की। किन्तु वे अपने कर्त्तव्यपालन में तत्पर रहे। एक युवक मुसलमानों से भयभीत होकर कहने लगा कि आप इस्लाम का खण्डन न करें। उत्तर में व्याख्यान के दौरान ही स्वामीजी ने गर्जनापूर्वक कहा कि जब मुसलमानों का राज्य था तब उन्होंने हमारे धर्म का प्रबल खण्डन किया था। अब तो ऐसा राज है जिसमें धार्मिक आलोचना और चर्चा करने की प्रत्येक को आज्ञा है, अतः मैं यह आलोचना अवश्य करूँगा। यहाँ भी अनेक अंग्रेज और पादरी लोग उनसे धर्मचर्चा करने के लिए आते रहे। एक दिन मि० जोन्स नामक एक सज्जन ने छुआछूत को लेकर शंका प्रस्तुत की तो स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि हम किसी के साथ खाने या न खाने को धर्म या अधर्म नहीं मानते। ये बातें देश, काल की रीति से जुड़ी हैं। जो समझदार हैं वे जानबूझकर स्वस्थ लोकाचार को नहीं तोड़ते। इसी प्रसंग में उन्होंने स्पष्ट किया कि मूर्तिपूजा हिन्दू जाति का सच्चा धर्म नहीं है।

यहाँ के पण्डितों ने पं० चतुर्भुज को शास्त्रार्थ के लिए बुलाया। वह आया तो अवश्य किन्तु शास्त्रार्थ का सामर्थ्य नहीं जुटा सका। इसलिए स्वामीजी को यह कहला भेजा कि आप किसी अन्य स्थान पर आकर शास्त्रार्थ करें। अन्त में स्वामीजी पौराणिकों द्वारा तय किए गए मकान पर शास्त्रार्थ के लिए आ गए। पण्डित चतुर्भुज यहाँ भी नहीं आए और अपने बदले धर्मसभा के मन्त्री को भेज दिया। वस्तुतः इस स्थान के दूसरी ओर उपद्रवियों का एक बड़ा समूह लड़ाई-झगड़ा करने की दृष्टि से तैयार होकर आया था। जब स्वामीजी ने धर्मसभा के मन्त्री से शास्त्रार्थ करने से इन्कार कर दिया तो उस व्यक्ति ने दीपक बुझा कर ताली बजाई जिससे

उपद्रवियों को संकेत मिला कि वे स्वामीजी पर हल्ला बोलें। परन्तु स्वामीजी इतने डरपोक तो थे नहीं जो इन दुष्टों से घबरा जाते। उन्होंने गर्जनापूर्वक बदमाशों की ताड़ना की और अपने साथियों सहित वहाँ से चले आए। इस पर गुण्डों ने कुछ ईंट-पत्थर भी फेंके, किन्तु किसी को चोट नहीं आई।

18 नवम्बर को स्वामीजी दानापुर से चलकर काशी आए और छह मास तक ठहरे। इसी बीच वैदिक यन्त्रालय स्थापित किया और उसकी व्यवस्था की। लेखन का कार्य भी चलता था, साथ ही पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए भी ललकारते रहे। कोई सामने नहीं आया। युगलकिशोर नामक एक व्यक्ति ने एक विचित्र लीला कर दिखाई। उसने एक पर्चा छपवा कर बाँटा जिसमें लिखा था कि हम जब स्वामी दयानन्द के पास गए तो उन्हें वेद-विरुद्ध तथा शिष्टाचार के प्रतिकूल बातें करते सुना। इस पर हमने काशी की ब्रह्मामृतवर्षिणी सभा से इन विषयों की चर्चा कर सन्देह निवृत्त करने की प्रार्थना की। जब उक्त सभा ने हमारी शंकाओं को दूर कर दिया तो हमने पं० युगलकिशोर से स्वामी दयानन्द से वार्तालाप रूपी पाप का प्रायश्चित्त और देवदर्शन कर स्वयं को शुद्ध किया आदि। यह विज्ञापन कुछ लोगों के हस्ताक्षर से छपवाकर जनसाधारण में वितीर्ण किया गया था।

परन्तु इस मिथ्या विज्ञापन की पोल खुल गई और 'आर्य दर्पण' में यह छपा—"बाबू नारायणसिंह सभासद आर्यसमाज बनारस ने पं० युगलकिशोर से पूछा कि वे प्रायश्चित्त करने वाले लोग कहाँ हैं ? इस पर उक्त पण्डितजी ने कहा कि वे उन्हें ब्रह्मामृतवर्षिणी सभा की अगली बैठक में लेकर आएँगे। वस्तुतः यह विज्ञापन तो चार मनुष्यों के कल्पित नामों से प्रकाशित किया गया था, अब वे उन चार लोगों को कहाँ से लाते। इस पूछताछ से वे घबराए और इधर-उधर के लड़कों को पटाया कि हम जैसा कहें वैसा कह देना। परन्तु इस षड्यंत्र में भला उनका साथ कौन देता ? जब कोई नहीं मिला तो जैसे-तैसे एक व्यक्ति को सिखा-पढ़ाकर अगली सभा में लाए। जब उसका नाम पूछा गया तो उसने रामकृष्ण दुबे बताया। (पण्डितजी ने रामप्रसाद दुबे पढ़ाया होगा, किन्तु नकली नाम कब तक याद रहता।) जब उससे पूछा गया कि क्या तुम स्वामी दयानन्द के समीप गए थे तो उसने इन्कार कर दिया। जब यह सब प्रत्यक्ष हुआ तो उक्त पण्डितजी की पोल खुल गई। इस पर लोगों ने उन्हें झूठा विज्ञापन छपाने के लिए आड़े हाथों लिया तो वे घबरा गए और ऊटपटाँग बकने लगे। यहाँ तक कह गए कि जिसने दयानन्द का मुख भी देख लिया, वह सच्चा हिन्दू नहीं है। इस बात को सुनकर बाबू नारायणसिंह ने कहा कि 1926 वि० के काशी शास्त्रार्थ में तो काशी नरेश के अतिरिक्त स्वामी विशुद्धानन्द, पं० बालशास्त्री आदि पण्डित भी थे। क्या स्वामीजी का मुख देखने से ये सभी वर्ण संकर हो गए। इस पर सभा ने युगलकिशोर को बुरा भला कहा और उन्हें सभा से निकाल दिया। इस बहिष्कार से युगलकिशोर ने और अधिक उपद्रव मचाया किन्तु बात बढ़ी नहीं।"

1880 के आरम्भ में स्वामीजी ने बनारस में लगभग 20 व्याख्यान दिए। 15 अप्रैल 1880 को आर्यसमाज भी स्थापित हो गया। 5 मई 1880 को बनारस से चलकर वे लखनऊ

गए । यहाँ कुछ काल तक उपदेश देकर पुनः फर्रूखाबाद आ गए । यहाँ 30 जून तक व्याख्यान देते रहे, पुनः मैनपुरी आए । मैनपुरी में भी व्याख्यान हुए और स्वामीजी के विदा होने के 11 दिन बाद आर्यसमाज स्थापित हो गया । मैनपुरी से चलकर महाराज 8 जुलाई को मेरठ आए । मेरठ में दाक्षिणात्य विदुषी रमाबाई उनसे भेंट करने कलकत्ता से आई । उसने स्त्री-शिक्षा पर अनेक व्याख्यान भी दिए । स्वामीजी ने अपने ग्रन्थ उसे भेंट किए तथा गार्गी एवं मैत्रेयी के आदर्श को अपनाकर धर्मोपदेश के लिए प्रेरित किया । रमाबाई में चारित्रिक दृढ़ता का अभाव देखकर स्वामीजी ने मार्गव्यय देकर उसे विदा किया । कालान्तर में वह ईसाई बन गई ।

मेरठ में ही स्वामीजी की भेंट कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवेट्स्की से दूसरी बार हुई । इस बार स्वामीजी ने उनके समक्ष आर्यसमाज के ईश्वर विषयक सिद्धान्त को स्पष्टतया वर्णित किया । उन्हें लगा कि ये विदेशी वैदिक मन्तव्यों को लेकर संशयात्मक हैं । इसी डाँवाडोल स्थिति के कारण आगे चलकर थियोसोफी और आर्यसमाज के मतभेद स्पष्टतया सामने आए और दोनों संस्थाओं का सम्बन्ध टूट गया । मेरठ आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव हुआ तो स्वामीजी ने अपना प्रवचन भी किया । मेरठ से वे मुजफ्फरनगर आए और लगभग दस व्याख्यान दिए । यहाँ से महाराज देहरादून पधारे । इस बार विपक्षी पण्डित शास्त्रार्थ के लिए सीधे सामने तो नहीं आए, किन्तु नियमों और प्रबंध व्यवस्था का ऐसा जाल रचा जिससे किसी नतीजे पर पहुँचना ही कठिन हो गया । एक पादरी चर्चा के लिए आए और अपने प्रश्नों के उत्तर सुनकर चले गए । 20 नवम्बर 1880 तक स्वामीजी के प्रवचन इस नगर में होते रहे ।

यहाँ से वे आगरा होते हुए मेरठ आए । 20 मार्च 1881 तक स्वामीजी मेरठ में ही रहे । यह वही आगरा है जहाँ से स्वामीजी ने अपना उपदेशक जीवन आरम्भ किया था । अब सत्रह वर्ष बाद पुनः यहाँ आए । इस बार वे लगभग साढ़े तीन मास यहाँ रहे । 21 नवम्बर को आए थे और 28 नवम्बर से व्याख्यानों का जो सिलसिला चला तो 22 दिसम्बर तक निरन्तर 25 व्याख्यान दिए । 22 दिसम्बर से 10 दिन शंका-समाधान चलता रहा । 26 दिसम्बर 1880 को आगरा में आर्यसमाज स्थापित हो गया । 23 जनवरी 1881 से व्याख्यानों की दूसरी श्रृंखला आरम्भ हुई जो 28 जनवरी तक चली । फरवरी और मार्च में भी व्याख्यान हुए । रोमन कैथोलिक लाट पादरी के आग्रह पर महाराज आगरा का चर्च देखने पधारे और पादरी साहब से धर्मचर्चा की ।

पौराणिक लोगों ने अपनी आदत के अनुसार शास्त्रार्थ के नियम तय करने में ही समय नष्ट किया । पं० चतुर्भुज यहाँ भी आए और स्वामीजी के कथन का प्रतिवाद किया । उन्होंने दो लोगों से प्रायश्चित्त भी कराया । इनमें से एक ने तो स्वामीजी के उपदेश से अपनी कण्ठी तोड़ दी थी और दूसरे ने आर्यसमाजियों को संस्कृत पढ़ाकर पाप (?) किया था । ऐसे पाखण्ड रचने के कारण पं० चतुर्भुज की प्रतिष्ठा नष्ट हो गई । पश्चिमोत्तर प्रदेश का स्वामीजी का यह अन्तिम भ्रमण था । इसके बाद उनके चरणों से यह धरती पवित्र नहीं हुई ।

राजस्थान में धर्मोपदेश

10 मार्च 1981 से 4 दिसम्बर 1981

10 मार्च 1881 को स्वामीजी आगरा से भरतपुर आए और 28 मार्च तक वहीं उपदेश किया । 28 मार्च को वे जयपुर आए । यहाँ एक मास से कुछ अधिक काल तक व्याख्यान देते रहे । इसी बीच जयपुर में आर्यसमाज की भी स्थापना हो गई । 5 मई 1881 को वे अजमेर आए । उनके आने के पहले ही वहाँ फरवरी 1881 में आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी । 8 मई से व्याख्यान आरम्भ हुए जो 30 मई तक चलते रहे । कुल 22 व्याख्यान हुए । इसके बाद शास्त्रार्थ और धर्मचर्चा का सिलसिला चलता रहा । 22 जून तक 15 व्याख्यान और हुए । इन व्याख्यानों के प्रबंधकर्ता राय भागराम थे जो अजमेर में न्याय विभाग के उच्च अधिकारी थे । जिन दिनों स्वामीजी अजमेर में थे गंज मुहल्ले की चमार घाटी के कुछ मकानों में आग लग गई जिससे गरीब चमारों को कष्ट हुआ । स्वामीजी ने इनके लिए चंदा एकत्र किया और आर्थिक सहायता का प्रबंध किया ।

23 जून 1881 को स्वामीजी मसूदा आए और राव बहादुरसिंह के अतिथि बने । 17 अगस्त तक वे मसूदा रहे । व्याख्यानों के अतिरिक्त दो बड़े यज्ञ भी स्वामीजी के निरीक्षण में सम्पन्न हुए । श्रावण पूर्णिमा 1932 वि० को जो यज्ञ हुआ उसके यजमान खुद राव साहब थे । उस अवसर पर अनेक लोगों ने यज्ञोपवीत ग्रहण किए । यज्ञोपवीत लेने वालों में अधिसंख्य जैन मतावलम्बी थे । दूसरा यज्ञ भाद्रपद कृष्ण पंचमी को हुआ । इसमें भी यज्ञोपवीत लेने के लिए लोगों को प्रेरित किया गया । स्वामीजी से वार्तालाप करने के लिए समीपवर्ती ब्यावर से एक यूरोपियन तथा एक देसी पादरी मसूदा आए । यहीं पर जैन साधु सिद्धकरण से महाराज का शास्त्रार्थ हुआ । इसका परिणाम यह हुआ कि 35 व्यक्तियों ने जैन मत त्यागकर वैदिक धर्म स्वीकार किया । जब मसूदा से स्वामीजी विदा लेने लगे, राव साहब ने वेदभाष्य के लिए 500 रुपये अर्पित किए ।

मसूदा से चलकर स्वामीजी रायपुर (जिला पाली) आए और 18 अगस्त से 8 सितम्बर तक लोगों को उपदेश देते रहे । रायपुर एक छोटी सी जागीर थी । यहाँ के प्रबंधक एक मुसलमान थे जो अत्यन्त कुचक्री थे । उनके बारे में पूरी जानकारी मिलने पर स्वामीजी ने ठाकुर साहब को सावधान किया । इस पर मुसलमान लोग नाराज हो गए और ईद के दिन स्थानीय मौलवी को लेकर स्वामीजी के पास आए । स्वामीजी ने अपने विचारों को साहसपूर्वक रखा जिससे वे

लोग निरुत्तर हो गए ।

रायपुर से स्वामीजी ब्यावर आए और यहाँ 15 दिन रहे । उपदेशों का क्रम चलता रहा । यहाँ से मसूदा के रास्ते 6 अक्टूबर को बनेड़ा (जिला भीलवाड़ा) आए । यहाँ के राजा वेदों के अध्ययन में रुचि लेते थे । सर्वत्र यजुर्वेदपाठी पण्डित थे । राजा साहब के पुत्रों ने स्वामीजी के समक्ष सामगान किया जिसे सुनकर महाराज को प्रसन्नता हुई । बनेड़ा में स्वामीजी 20 दिन तक रहे तथा वेदोपदेश करते रहे । राजा का पुस्तकालय अत्यन्त समृद्ध था । स्वामीजी ने अपनी निरुक्त की प्रति को पुस्तकालय में रखी निरुक्त की हस्तलिखित प्रति से मिलाया और उचित संशोधन किया ।

बनेड़ा से चलकर स्वामीजी 27 अक्टूबर 1881 को चित्तौड़ आए । यहाँ इन दिनों वायसराय लार्ड रिपन के आने की धूम थी । मेवाड़ राज्य के ठाकुर और सरदार बड़ी संख्या में उपस्थित थे । कविराजा श्यामलदास मेवाड़ राज्य की कौन्सिल के मेम्बर थे और उन्होंने ही स्वामीजी को आमन्त्रित किया था । स्वामीजी के निवास की व्यवस्था कविराजा ने अस्थायी शामियाने आदि लगवाकर कर दी । 15 नवम्बर को शाही दरबार होने वाला था तथा महाराणाजी को जी०सी० एस०आई० की उपाधि भी दी जानी थी । इसलिए महाराणा स्वामीजी के दर्शनों के लिए तुरन्त नहीं आए, किन्तु कविराजा श्यामलदास तथा अन्य अनेक सरदार स्वामीजी के सत्संग में आते रहे । आसीद के राव अर्जुनसिंह, देलवाड़ा के राजा फतहसिंह, कानौड़ के रावत उम्मेदसिंह तथा सादड़ी के राजा साहब नियमित रूप से स्वामीजी के प्रवचनों में उपस्थित होते । शाही दरबार के बाद महाराणा सज्जनसिंह दर्शनार्थ स्वामीजी के डेरे पर आए । दूसरी बार 4 दिसम्बर को गम्भीरी नदी के तट पर स्वामीजी के डेरे पर महाराणा का आगमन हुआ । अनेक दरबारी भी साथ थे । उपदेश सुनकर मेवाड़ नरेश बहुत प्रसन्न हुए और महाराज से उदयपुर पधारने की प्रार्थना की । स्वामीजी का उस समय तो बम्बई जाने का कार्यक्रम था अतः महाराणा से कहा कि बम्बई से लौटते हुए वे उदयपुर अवश्य आएँगे । महाराणा तथा दरबारियों ने मार्गव्यय हेतु 200 रुपये भेंट में दिए ।

चित्तौड़ से चल कर स्वामीजी 21 दिसम्बर को इन्दौर आए, परन्तु होलकर नरेश राजधानी में नहीं थे, इसलिए 27 दिसम्बर तक वहीं ठहर कर बम्बई चले गए । इन्दौर नरेश की स्वामीजी के प्रति बड़ी भक्ति थी । वे उनके उपदेश सुनने के लिए सदा लालायित रहते थे । दिल्ली दरबार के समय तो उन्होंने स्वामीजी की अन्य राजाओं से भेंट कराने की चेष्टा की थी, किन्तु उनका यह प्रयास सफल नहीं हो सका था । स्वामीजी के बम्बई चले जाने के बाद जब महाराजा लौट कर इन्दौर आए तो उन्हें उनसे भेंट न हो पाने का खेद हुआ । उन्होंने स्वामीजी को पुनः निवेदन किया, परन्तु स्वामीजी तो यह निश्चय कर चुके थे कि बम्बई से लौटते समय ही वे महाराजा से भेंट करेंगे । किन्तु संयोग ऐसा बना कि जब स्वामीजी बम्बई से लौटते समय इन्दौर आए, तब भी महाराजा वहाँ नहीं थे । इस प्रकार अपनी राजधानी में उनके उपदेश सुनने की लालसा महाराजा के मन में ही रह गई ।

बम्बई की द्वितीय यात्रा

31 दिसम्बर 1881 से 22 जून 1882 तक

इन्दौर से चलकर स्वामीजी 31 दिसम्बर 1881 को मुम्बई आए और लगभग छह मास तक रहे । जब वे स्टेशन पर उतरे तो कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवेट्स्की उनके स्वागत हेतु उपस्थित हुए । परन्तु आर्यसमाज तथा थियोसोफिकल सोसाइटी के बीच का सैद्धान्तिक विवाद उग्र हो उठा । अब यह सोसाइटी भारत में जड़ जमा चुकी थी इसलिए उन्हें भारत में स्वामीजी के सहयोग और सहायता की वैसी आवश्यकता नहीं थी जैसी अमेरिका से यहाँ आते समय थी । स्वामीजी ने सोसाइटी के संस्थापकों से अपने ईश्वर विषयक विश्वास को स्पष्ट करने के लिए कहा किन्तु ये लोग टालमटोल करते रहे । वे स्वयं को नास्तिक कहते थे । इस प्रकार स्वामीजी ने अनुभव किया कि नास्तिकता और आस्तिकता के बीच मेल होना कठिन है । इसलिए उन्होंने आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसाइटी के सम्बन्ध विच्छेद की घोषणा की और एक व्याख्यान में सारी स्थिति स्पष्ट कर दी । इससे सोसाइटी के संस्थापक लोग नाराज हो गए और अपने पत्र 'थियोसोफिस्ट' में आर्यसमाज का विरोध करने लगे ।

2 मार्च 1882 को आर्यसमाज बम्बई का वार्षिक उत्सव मनाया गया जिसमें स्वामीजी ने भी प्रवचन दिए । अब तक बम्बई का आर्यसमाज प्रथम बार स्वीकृत 28 नियमों को ही मानता था, किन्तु सारे भूमण्डल के आर्यसमाजों में नियमों की एकता रहे, इस उद्देश्य से स्वामीजी ने बम्बई के आर्य सभासदों को भी लाहौर में स्वीकृत सार्वभौम दस नियमों तथा उनसे पृथक् उपनियमों को स्वीकार करने के लिए कहा । इसके लिए बम्बई समाज ने एक उपसमिति बना दी जिसमें निम्न लोगों को सदस्य बनाकर इस परिवर्तन को स्वीकार करने का अधिकार दिया । ये सदस्य थे—रा०ब० गोपाल राव हरि देशमुख, आत्माराम बापू दलवी, इच्छाराम भगवानदास, सेवकलाल कृष्णदास तथा प्राणजीवनदास कृष्णदास । अन्ततः स्वल्प परिवर्तनों के बाद उपनियम स्वीकार किए गए । इस बार बम्बई के आर्यों ने गिरगाँव पुलिस स्टेशन के पीछे एक भूभाग समाज मंदिर के लिए खरीद लिया, जहाँ कालान्तर में आर्यसमाज का भव्य भवन बन गया । बम्बई से चलकर इन्दौर, रतलाम और जावरा के रास्ते स्वामीजी 25 जुलाई 1882 को चित्तौड़गढ़ आए । यहाँ से उन्हें उदयपुर जाना था ।

उदयपुर में धर्मोपदेश तथा महाराणा सज्जनसिंह को शास्त्राभ्यास

25 जुलाई 1882 से 1 मार्च 1883

महाराणा सज्जनसिंह की स्वामीजी से प्रथम भेंट तो नवम्बर 1881 नें चित्तौड़ में ही हो गई थी । उस समय ही मेवाड़ नरेश के हृदय में स्वामीजी के प्रति आदर और भक्ति के भावों का बीजारोपण हो गया था तथा उन्होंने स्वामीजी से राजधानी उदयपुर आने का अनुरोध भी किया था । इसे क्रियान्वित करने का अवसर अब आया । महाराणा ने चित्तौड़ के हाकिम को स्वामीजी को उदयपुर पहुँचाने का आदेश दिया । तदनुसार 11 अगस्त को वे राजधानी पहुँचे और नवलखा बाग में उन्हें ठहराया गया ।

महाराणा नित्य प्रातः-सायं स्वामीजी के उपदेश सुनने नवलखा प्रासाद में आते । उनसे योग, न्याय तथा वैशेषिक दर्शन के कुछ भाग पढ़े तथा मनुस्मृति के राजनीति विषयक अध्यायों का भी अध्ययन किया । शास्त्रों का अध्ययन आरम्भ करने से पहले महाराणा को संस्कृत व्याकरण का साधारण ज्ञान भी करावा गया । महाभारत के बन पर्व के कुछ अध्याय भी स्वामीजी ने उन्हें पढ़ाए । इस प्रकार सात मास की अवधि में महाराणा जी ने शास्त्रों का अच्छा अभ्यास कर लिया । स्वामीजी ने अपने एक पत्र (4 मार्च 1883) में यह संकेत किया है कि– 'महाराणा उदयपुर में उनके निकट रहकर नित्य तीन-चार घण्टे तक अध्ययन करते थे । छः दर्शनों का मुख्य प्रतिपाद्य, मनुस्मृति के राजधर्म प्रतिपादक तीन अध्याय तथा महाभारतान्तर्गत विदुर नीति आदि ग्रन्थ उन्होंने पढ़े थे ।'

स्वामीजी ने महाराणा को उपासंना की विधि भी सिखलाई तथा दिनचर्या लिख कर दी, जिसका आचरण वे करने लगे । राजाओं में जो व्यसन, दुर्व्यसन तथा चरित्रगत दोष आ जाते थे उन्हें दूर करने की शिक्षा भी स्वामीजी ने दी और बहुविवाह की हानियों से उन्हें परिचित कराया । स्वामीजी के उपदेशों का जैसा अनुकरण महाराणा सज्जनसिंह ने किया, उसका उल्लेख करते हुए स्वामीजी ने पत्र में लिखा–"महाराणाजी ने केवल श्रवण मात्र से ही सत्संग नहीं किया अपितु उपदेशों पर आचरण भी किया । अपनी दिनचर्या को ठीक किया, वेश्यानृत्य बंद करवाया ।" उन्होंने महाराणा के सुशील, शीलवान् तथा सभ्य होने का भी उल्लेख किया । महाराणा के सरदारों तथा दरबारियों ने भी स्वामीजी के उपदेशों का भरपूर लाभ उठाया ।

स्वामीजी की प्रेरणा से नीलकण्ठ महादेव के मन्दिर के निकट एक महायज्ञ रचाया गया । चारों वेदों के पण्डित बुलाए गए जो वेदपाठ करते थे । होता, अध्वर्यु, उद्गाता और

ब्रह्मा—चतुर्विध ऋत्विकों को नियुक्त किया गया। वसन्त पञ्चमी के दिन महाराणाजी भी यज्ञ में आए तथा पूर्णाहुति डाली। स्वामीजी की प्रेरणा से राजमहलों में नित्य यज्ञ की व्यवस्था की गई तथा हवन के बाद तांबे के कुण्ड को सारे महलों में फिराया जाता था ताकि वायु शुद्ध हो सके।

स्वामीजी के उपदेशों से महाराणा ने राज्य के शासन में भी अनेक प्रकार के सुधार किए। राज्य में हिन्दी का प्रचार बढ़ा। पाठशालाओं में शास्त्रों की शिक्षा का प्रबंध हुआ। महाराणा ने एक दिन स्वामीजी के समक्ष प्रस्ताव रखा कि उनके द्वारा लिखे जाने वाले वेदभाष्य के मुद्रण में सहायता मिलने का एक उपाय यह है कि मेवाड़ के आराध्य देव एकलिंग महादेव के मन्दिर में महन्त का पद स्वीकार कर लें तो इस जागीर की सारी आय उन्हें मिलती रहेगी तथा वे इसका उपयोग वेदादि शास्त्रों के प्रचार में लगा सकेंगे। स्वामीजी पर इसकी इसकी जो प्रतिक्रिया होनी थी, वही हुई। उन्होंने महाराणा को स्पष्ट कह दिया कि ईश्वराज्ञा का उल्लंघन करना उनके लिए कदापि सम्भव नहीं है। वे मूर्तिपूजा से कभी समझौता नहीं करेंगे। महाराणा ने भी यह कह कर बात समाप्त कर दी कि वे तो केवल परीक्षा की दृष्टि से ही यह बात कह रहे थे, अन्यथा वे उनकी वैचारिक दृढ़ता के प्रति पूर्ण आश्वस्त हैं।

स्वामीजी ने उदयपुर में अपना स्वीकार-पत्र लिखा तथा मेवाड़ की कचहरी में उसका पंजीकरण करवाया। उन्होंने परोपकारिणी सभा का गठन कर अपने सारे अधिकार इस सभा को दे दिए। वेदप्रचारार्थ एक निधि भी बनाई। पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या के अनुसार महाराणा ने स्वामीजी के उपदेशानुसार अपना जीवन सुधार लिया था। यह खेद का विषय रहा कि स्वामीजी की मृत्यु के एक वर्ष दो मास बाद महाराणा सज्जनसिंह का भी निधन हो गया और वे स्वामीजी की शिक्षाओं को पूर्ण रूप से कार्यान्वित नहीं कर सके।

जब स्वामीजी ने उदयपुर से विदाई ली तो महाराणा ने एक अभिनन्दनपत्र उनको भेंट किया। फीरोजपुर के अनाथालय के लिए 600 रुपये दिए तथा वेदभाष्य फण्ड में भी दो हजार रुपए भेंट किए। विदाई के समय महाराणा ने भाव-विभोर होकर कहा कि यद्यपि उनके उदयपुर निवास से उनकी पूर्ण तृप्ति नहीं हुई है, किन्तु स्वामीजी की परोपकार वृत्ति को अनुभव कर वे उनके वियोग को सहन करेंगे। 1 मार्च को उदयपुर से चलकर चित्तौड़ होते हुए 9 मार्च को स्वामीजी शाहपुरा आए। यहाँ के राजा नाहरसिंह उनके दर्शनार्थ उपस्थित हुए और दो घण्टे तक धर्मचर्चा करते रहे। इस प्रकार वे नियमपूर्वक स्वामीजी की सेवा में आते और मध्याह्न 3 बजे से रात के 9 बजे तक उनके निकट रहते। इस बीच वे महाराज के उपदेश भी सुनते और शास्त्रों का अध्ययन भी करते। शाहपुराधीश को भी स्वामीजी ने मनुस्मृति, योग-दर्शन तथा वैशेषिक शास्त्र का कुछ अंश पढ़ाया। उन्होंने उनसे प्राणायाम की विधि भी सीखी। शाहपुरा में स्वामीजी ने एक ईश्वरानन्द को संन्यास की दीक्षा दी और आगे अध्ययन के लिए प्रयाग भेजा।

शाहपुराधीश ने स्वामीजी के सत्संग का लाभ निज की उन्नति तथा अपने राज्य के हित में प्राप्त किया। यहाँ उनका निवास 26 मार्च तक रहा। इसी बीच जोधपुर के महाराजा ने उन्हें अपने राज्य में आने के लिए निमन्त्रित किया और पत्र देकर दो कर्मचारियों को शाहपुरा भेजा।

विदाई के समय शाहपुरा नरेश ने 250 रुपये वेदभाष्य निधि में दिए तथा एक उपदेशक स्थायी रूप से वेद प्रचार के लिए नियत करने हेतु 30 रुपये मासिक देने का वचन दिया। जब स्वामीजी की प्रस्थानवेला निकट आई तो उन्हें एक धन्यवादपत्र भी अर्पित किया जिसमें लिखा था कि आपके उपदेशों से मेरी आत्मा अभी तृप्त नहीं हुई है परन्तु महाराजा जोधपुर आपके दर्शनों की इच्छा रखते हैं और आपके द्वारा भी करोड़ों लोगों को लाभ पहुँचाना अभीष्ट है, अतः मैं आपसे यहाँ अधिक समय तक रुकने का आग्रह नहीं करता, तथापि आशा है पुनः पधारकर हमें कृतार्थ करेंगे।

जोधपुर में धर्मोपदेश और व्याधि

स्वामीजी जब शाहपुरा में ही थे कि वैशाख बदि 10 सं० 1940 को जोधपुर नरेश के अनुज महाराज प्रतापसिंह का पत्र आया जिसमें उनसे जोधपुर पधारने की विनय थी। तदनुसार स्वामीजी अजमेर होते हुए जोधपुर जाने के लिए तैयार हुए। उस समय जोधपुर राज्य की स्थिति शोचनीय थी। महाराजा जसवन्तसिंह एक रखैल नन्ही के चक्कर में थे। उनके परामर्शदाता भी षड्यन्त्रकारी, कुचक्री तथा राज्य के लिए अनिष्टकारी थे। पाखण्ड, अंधविश्वास और कुरीतियाँ मारवाड़ी समाज में विद्यमान थीं। इस स्थिति को भाँप कर जब अजमेर के आर्य पुरुषों ने स्वामीजी को जोधपुर जाने से विरत करना चाहा तो सत्य के लिए प्रतिबद्ध महाराज ने यहाँ तक कह दिया कि वहाँ के लोग चाहे मेरी अंगुलियों को बत्ती बनाकर जला भी क्यों न दें, मैं सत्योपदेश करने से कभी पीछे नहीं हटूँगा। उन दिनों जोधपुर तक सीधी रेल नहीं आती थी। अतः स्वामीजी पाली स्टेशन पर उतरे। वहाँ के हाकिम ने उन्हें जोधपुर पहुँचाने की व्यवस्था कर दी। उनके साथ लेखक, पण्डित तथा सेवक आदि कुछ लोग थे। 29 मई को जब वे जोधपुर पहुँचे तो महाराज प्रतापसिंह तथा रावराजा तेजसिंह ने उनकी अगवानी की तथा पाली रोड पर मियाँ फैजुल्ला खां के बँगले पर ठहराया।

इसी बँगले के सामने वाले मैदान में उनके नित्य व्याख्यान होने लगे। तथापि उनको आमन्त्रित करने वाले जोधपुर नरेश स्वामीजी के जोधपुर आगमन के सत्रह दिन पश्चात् उनसे भेंट करने के लिए आए। आते ही उन्होंने स्वामीजी को प्रणाम निवेदन किया और स्वयं भूमि पर बैठ गए। स्वामीजी ने उन्हें समीप रखी कुर्सी पर बैठने का अनुरोध किया तो नरेश ने यह कहकर अपनी विनम्रता प्रकट की कि संन्यासी तो सम्राट् से भी बड़ा होता है, अतः उनके बराबर बैठना उचित नहीं। स्वामीजी ने तीन घण्टे तक महाराजा को मनुस्मृति के आधार पर राजधर्म का उपदेश किया। नरेश बड़े प्रसन्न हुए और कुछ द्रव्य भी भेंट किया। जब स्वामीजी के प्रवचनों से लोगों का अज्ञान दूर होने लगा तो स्वार्थी लोगों में खलबली मच गई। पौराणिक, मुसलमान, चक्रांकित वैष्णव तथा राजा के चापलूस लोगों में खलबली मच गई। एक दिन जब महाराज इस्लाम का खण्डन कर रहे थे तो महाराजा के मुँहलगे मुसाहिब फैजुल्ला खां के भतीजे ने क्रोधित होकर स्वामीजी को धमकी देते हुए यहाँ तक कह दिया कि यदि मुसलमानी राज्य होता तो उनकी जीभ निकाल ली जाती। स्वामीजी ने अपना धैर्य न खोकर शान्त मन से उत्तर दिया—"यदि ऐसी स्थिति आती तो मैं भी शिवाजी अथवा गुरु गोविन्दसिंह जैसे धर्मप्राण पुरुषों को मुसलमानी तलवार का करारा जवाब देने के लिए तैयार कर देता।"

यह घटना तो समाप्त हो गई किन्तु महाराजा की प्रेयसी नन्ही, मियाँ फैज़ुल्ला खां तथा चक्रांकित पौराणिकों ने स्वामीजी की हत्या करने का भयंकर षड्यन्त्र रचा। किंवदन्ती तो यह है कि एक बार जब स्वामीजी महाराजा से भेंट करने महल में गए तो उनके पास उनकी प्रेयसी नन्ही बैठी हुई थी। महाराजा को स्वामीजी के आगमन की खबर नहीं थी इसलिए उनके आने की हड़-बड़ाहट में उन्होंने सेवकों को आदेश देकर नन्ही को पालकी में बिठा वहाँ से विदा किया। जब पालकी को उठानेवाला एक कहार कहीं इधर-उधर चला गया तो राजा ने स्वयं हाथ देकर पालकी को उठाने में कहारों की सहायता की। महाराजा की इस लम्पटता को देखकर स्वामीजी ने व्यंग्य करते हुए कहा—"कितने खेद की बात है कि मारवाड़ के राठौर राजा कुतिया तुल्य वेश्याओं का संसर्ग करते हैं।" स्वामी दयानन्द के प्रामाणिक जीवनी लेखक इस किंवदन्ती को सत्य नहीं मानते, किन्तु यह अवश्य है कि स्वामीजी द्वारा राजपूत राजाओं और सरदारों के दुराचारों तथा विवाहिता स्त्रियों से भिन्न के प्रति आसक्ति की कटु आलोचना सुनकर नन्ही अत्यन्त क्रुद्ध हो गई थी और उसने स्वामीजी को मरवाने के लिए रचे गए षड्यन्त्र में अपनी प्रमुख भूमिका अदा की। स्वामीजी भी जोधपुर नरेश के असद् आचरण से क्षुब्ध थे। उन्होंने एक पत्र लिखकर महाराजा प्रतापसिंह से कहा कि वे अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक हों तथा मारवाड़ के शासक को भी अपने कर्त्तव्यपालन की प्रेरणा दें। मूल पत्र इस प्रकार था—

"श्रीयुत मान्यवर्य शूरवीर महाराजा प्रतापसिंह जी सदा आनन्दित रहो। यह पत्र बाबाजी (रावराजा तेजसिंह) महाराज के भी दृष्टिगोचर करा दीजिएगा।

मुझको इस बात से बड़ा शोक होता है कि श्रीमान् जोधपुराधीश आलस आदि में वर्तमान आप और बाबा साहिब दोनों रोगयुक्त शरीर वाले हैं। अब कहें, कि इस राज्य का जिसमें 16 लाख से कुछ ऊपर मनुष्य बसते हैं उनकी रक्षा और कल्याण का बड़ा भार आप लोग उठा रहे हैं, सुधार और बिगाड़ भी आप ही दोनों महाशयों पर निर्भर है, तथापि आप लोग अपने शरीर की आरोग्यता और संरक्षण तथा आयु-वृद्धिकारक कामों पर बहुत थोड़ा ध्यान देते हैं, यह कितनी बड़ी शोचनीय बात है। मैं चाहता हूँ कि आप लोग अपनी दिनचर्या मुझसे श्रवण कर सुधार लेवें, जिससे मारवाड़ ही क्या वरं अपने आर्यावर्त देश मात्र का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध होवें। आप जैसे योग्य मनुष्य जगत् में बहुत थोड़े उत्पन्न होते हैं, और जन्म लेकर भी बहुत थोड़े चिरंजीवी होते हैं, इसके हुए बिना देश का सुधार कभी नहीं होता। उत्तम पुरुष जितना अधिक जीवें उतनी ही देश की उन्नति होती है। इस पर आप लोगों को अवश्य ध्यान देना चाहिए, आगे जैसी आप लोगों की इच्छा हो वैसा कीजिए।"

—दयानन्द सरस्वती

जोधपुर : आश्विन बदि 3 शनिवार 1940 वि० (22 सितम्बर 1883)

(नोट—आज इस पत्र को लिखे हुए 95 वर्ष (आज 1997 में 114 वर्ष) हो गए हैं; इस बीच जोधपुर राज्य में जो कुछ उन्नति हुई है वह महाराजा प्रतापसिंह के प्रबन्ध कौशल, प्रशासन-पटुता तथा धर्मभावना का ही प्रताप है। हम कह सकते हैं कि स्वामी दयानन्द के उपदेशों को महाराजा ने पूर्णतया कार्यान्वित किया है। आर्यसमाज के प्रति भी महाराजा प्रतापसिंह की पूर्ण

भक्ति है । आज देश में उनका जैसा यश है, वैसा अन्य किसी राजपुरुष का नहीं है । यह सब स्वामीजी के उपदेशों का ही फल है ।)

स्वामी दयानन्द का जोधपुर से अब विदा होने का समय निकट आ रहा था । किन्तु इसी बीच षड्यन्त्रकारियों को अपने दुष्ट कृत्य में सफलता मिल गई । 29 सितम्बर की रात को जब वे यथानियम दूध पीकर सोए तो अचानक उनके उदर में भयंकर पीड़ा हुई । जी मिचलाने लगा । तीन बार वमन भी हुआ । जैसे-तैसे सवेरा हुआ तो महाराज ने एक औषधियुक्त क्वाथ बनाकर पिया परन्तु पीड़ा कम नहीं हुई । जब महाराजा प्रतापसिंह तथा रावराजा तेजसिंह को स्वामीजी के अस्वस्थ होने का समाचार मिला तो उन्होंने चिकित्सा के लिए डॉ० सूर्यमल को भेजा । उन्होंने वमन रुकने की औषधि दी तथा तृषा रोकने के उपाय भी किए । तथापि पीड़ा शान्त नहीं हुई । श्वास लेने में कष्ट होने लगा और खाँसी का भी जोर हो गया । उधर एक विचित्र परिवर्तन यह हुआ कि डॉ० सूर्यमल को हटाकर डॉ० अलीमर्दान खां को उनकी चिकित्सा के लिए भेजा गया । इनकी चिक़ित्सा से खाँसी तो कम हुई किन्तु उदर पीड़ा नहीं गई । 2 अक्टूबर को भी कुछ दवा दी गई । तत्पश्चात् पेट की सफाई के लिए जुलाब दिया गया । रात के 9 बजे तक तो दस्त नहीं हुआ, किन्तु उसके बाद जो दस्तों का सिलसिला आरम्भ हुआ वह बंद होने में ही नहीं आया । इस प्रकार लगभग 30 दस्त हुए । अब महाराज के शरीर में इतनी निर्बलता आ गई कि वे शौच के समय बेहोश से होने लगे ।

5 अक्टूबर को भी अतिसार में कोई लाभ नहीं हुआ । श्वास का कष्ट बढ़ा तो हिचकी आने लगी । 15 अक्टूबर तक यही दशा रही । न तो दस्त बंद हुए और न स्वास्थ्य के कोई लक्षण दिखाई पड़े । अब महाराजा ने रेजिडेन्सी के डाक्टर एडम्स को स्वामीजी की चिकित्सा का दायित्व सौंपा । स्वामीजी को आभास हो गया कि अब शरीर अधिक रहने वाला नहीं है । इसलिए उन्होंने महाराजा से विदाई चाही । जोधपुर नरेश ने कहा कि इस अस्वस्थ दशा में यदि आप यहाँ से विदा होंगे तो इससे हमारे राज्य की बदनामी होगी । परन्तु स्वामीजी का निश्चय अटल था । अतः 16 अक्टूबर को प्रस्थान की तिथि नियत हुई । महाराजा ने वेदभाष्य की सहायता के लिए 2500 रुपये तथा सम्मानार्थ दो दुशाले महाराज को भेंट किए । तीसरे पहर पालकी में स्वामीजी को सावधानी से लिटाया गया । स्वामीजी यद्यपि मसूदा जाना चाहते थे किन्तु महाराजा ने उन्हें आबू पर्वत जाने के लिए कहा, जहाँ के शीतल जलवायु से उन्हें आराम मिलने की आशा थी ।

महाराजा तथा उनके साथी स्वामीजी को विदा करने के लिए बाग के मुख्य द्वार तक आए । डॉ० सूर्यमल को साथ में भेजा गया । रोहट तथा पाली होते हुए स्वामीजी खारची (मारवाड़ जंक्शन) आए । यहाँ से उन्होंने आबू रोड के लिए ट्रेन ली । अजमेर आर्यसमाज के सदस्य जेठमल सोढा जब जोधपुर आए तो उन्हें स्वामीजी के अस्वस्थ होने का समाचार मिला था । उन्होंने अजमेर के आर्यों को सूचित किया तो महाराज के रुग्ण होने के समाचार सारे देश में फैल गए । मारवाड़ जंक्शन से जेठमल सोढा अजमेर गए और पीर इमाम अली को स्वामीजी

के कष्ट की सूचना दी । पीरजी ने खुश्की मिटाने के लिए अनार का शर्बत तथा वंशलोचन दिया । इससे स्वामीजी को थोड़ा आराम पहुँचा ।

अब स्वामीजी आबू पर्वत पर जाने के लिए तैयार हुए । पालकी में उन्हें लिटा दिया गया । जब पर्वत की यात्रा जारी थी, डॉ० लक्ष्मणदास जो आबू पर्वत से अजमेर जा रहे थे, उन्हें मिले । डॉ० लक्ष्मणदास तो अजमेर स्थानान्तरित होकर जा रहे थे, किन्तु जब उन्हें स्वामीजी की दशा का ज्ञान हुआ तो वे खुद आबू पर्वत पर लौट आए और स्वामीजी की चिकित्सा में लग गए । जब उनके अंग्रेज अधिकारी को ज्ञात हुआ कि डॉ० लक्ष्मणदास ने स्थानान्तरण के आदेश की अवहेलना की है और वह अभी तक आबू में ही है तो उसने क्रोधित होकर उन्हें तुरन्त अजमेर जाने और वहाँ अपना कार्यभार सँभालने का आदेश दिया । डॉक्टर ने नौकरी की मजबूरी को अनुभव किया किन्तु स्वामीजी की सेवा के प्रति अपनी अनन्य निष्ठा को देखते हुए उसने नौकरी से त्यागपत्र देना ही उचित समझा । इसे विधि की विडम्बना ही कहना चाहिए कि उसका त्यागपत्र भी स्वीकार नहीं हुआ । लाचार होकर डॉ० लक्ष्मणदास अजमेर जाने लगा किन्तु स्वामीजी से भी निवेदन किया कि वे दो-चार दिन बाद अजमेर आएँ ताकि वहाँ वह मनोयोगपूर्वक उनकी चिकित्सा कर सकेगा । इसी योजना के अनुसार 26 अक्टूबर को आबू रोड से ट्रेन पकड़कर स्वामीजी 27 अक्टूबर को अजमेर पहुँचे ।

स्वामीजी महाराज का निधन

30 अक्टूबर 1883

अजमेर में स्वामीजी को स्टेशन से सीधे भिनाय की कोठी ले जाया गया। उनके आने का समाचार मिलते ही डॉ० लक्ष्मणदास आए और चिकित्सा में लग गए। परन्तु अब तक बहुत देर हो चुकी थी। सत्य बात तो यह थी कि राजा की प्रेयसी नन्ही, फैजुल्ला खां तथा चक्रांकितों ने स्वामीजी को दूध में विष देने के लिए उनके रसोइए धूड़जी मिश्र को रिश्वत देकर तैयार किया था। इसलिए 29 सितम्बर की रात्रि को उस कृतघ्न पाचक ने दूध में संखिया मिलाकर महाराज को पिलाया था। जब दो दिन में उनकी दशा में कोई अन्तर नहीं आया तो अजमेर के आर्य निराश हो गए। स्वामीजी के सारे शरीर में फफोले पड़ गए तथा हिचकियों ने उन्हें बेसुध सा कर दिया। इस मरणांतक वेदना को स्वामीजी असीम धैर्य, योगनिष्ठा तथा प्रभु-भक्ति के सहारे सहन कर रहे थे।

30 अक्टूबर को उन्हें अंग्रेज डाक्टर न्यूटन को दिखाया गया। आज कफ का जोर बढ़ गया था। इसकी निवृत्ति के लिए दूध में अलसी पकवाकर छाती पर बाँधी गई किन्तु कुछ भी लाभ नहीं हुआ तथापि स्वामीजी की चेतना यथावत् थी। वे शौच से निवृत्त हुए। नाई को बुलाकर क्षौर (शिर मुण्डन) करवाया तो सिर के फफोले फूट गए और खून बहने लगा। स्वामीजी ने गीले तौलिए से शरीर को पोंछकर स्वच्छ किया। सायंकाल के चार बजे स्वामीजी ने अपने शिष्य-द्वय स्वामी आत्मानन्द और स्वामी गोपालगिरि को बुलाया और पूछा, तुम क्या चाहते हो ? दोनों ने कहा कि आपका आरोग्य लाभ हमारी इच्छा है। इस पर स्वामीजी ने कहा कि शरीर का क्या अच्छा होना। पुनः उन्हें आशीर्वाद दिया। उस समय तक स्वामीजी के रोगी होने के समाचार को पाकर अलीगढ़, मेरठ, लाहौर, कानपुर आदि स्थानों से अनेक आर्यभक्त अजमेर आ पहुँचे थे। वे सभी अश्रुसिक्त नेत्रों से महाराज के सद्यः परलोक प्रस्थान के दारुण दृश्य को देख रहे थे। स्वामीजी ने उपस्थित आर्यों की ओर अपार कृपा की दृष्टि से देखा। पश्चात् सबको पीछे खड़ा होने का आदेश दिया। चारों ओर के द्वार खुलवा दिए और चारपाई पर लेट गए। पूछा कि आज कौन सी तिथि और वार है। लोगों ने कार्तिक अमावस्या और मंगलवार बताया। इसके बाद महाराज ने परमात्मा की स्तुति की। वेद मन्त्रों से परमेश्वर की प्रार्थना के अनन्तर भाषा में ईश्वर का गुणानुवाद किया। पुनः गायत्री का उच्चारण किया और नेत्र खोलकर कहा—"हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर, तेरी यही इच्छा है, तेरी इच्छा पूर्ण हो। अहा, तूने कैसी लीला की।" इन

वाक्यों को कहकर करवट ली और श्वास को एक बार निकालकर सदा के लिए निकाल दिया। जिस समय महाराज का परलोकवास हुआ, उस समय सायंकाल के 6 बजे थे।

शीघ्र ही तार द्वारा स्वामीजी के निधन की सूचना समस्त आर्यसमाजों को भेज दी गई। सर्वत्र शोक छा गया। आर्य पुरुषों के हृदय में असीम दुःख तथा निराशा के भाव उत्पन्न हो गए। उनकी मृत्यु का समाचार सुनकर दो संन्यासी उनकी मृतक देह को लेने आए। वे उन्हें संन्यासी होने के कारण समाधिस्थ करना चाहते थे, परन्तु आर्य पुरुषों ने उन्हें स्पष्ट बता दिया कि स्वामीजी अन्त्येष्टि के बारे में अपने स्वीकार-पत्र में स्पष्ट लिख गए हैं कि उनके शरीर का वैदिक विधि से दाह किया जाए। महाराणा सज्जनसिंह का सन्देश आया कि महाराज के नश्वर शरीर को कुछ काल तक सुरक्षित रखा जाए ताकि वे आकर उसके दर्शन कर सकें, परन्तु उचित यही समझा गया कि यथाशीघ्र अन्त्येष्टि की जानी चाहिए, अतः दूसरे दिन प्रातःकाल महाराज के पुण्य शरीर को स्नान कराकर उस पर चंदन का लेप किया गया। काष्ठ का विमान तैयार किया गया और उस पर शरीर को रखा गया। पुनः जब अन्तिम यात्रा आरम्भ हुई तो असंख्य लोग साथ थे। पं० भागराम तथा सरदार भगतसिंह ने सारी व्यवस्थाएँ कीं। स्वामी आत्मानन्द तथा स्वामी गोपालगिरि अर्थी के आगे वेदपाठ करते चल रहे थे। जब शवयात्रा श्मशान में जाकर समाप्त हुई तो शास्त्र-विधि से चिता रची गई और उस पर महाराज की पवित्र काया को रखा गया। स्वामी आत्मानन्द ने चिता को अग्नि दी और स्वल्प काल में ही स्वामीजी महाराज का पंचभौतिक शरीर पंच तत्त्वों में लीन हो गया। शेष रह गई उनकी कीर्ति तथा उनका पावन विमल चरित्र जिससे अशेष जन सदा-सदा के लिए प्रेरणा लेते रहेंगे।

परिशिष्ट

महर्षि दयानन्द के जीवन पर एक दृष्टि

स्वामी दयानन्द का चरित्र

क्या यह बतलाने की आवश्यकता है कि स्वामीजी का आचार वैसा ही महान् था जैसा कि एक महापुरुष का होना चाहिए। शुद्ध आचार के बिना कोई महापुरुष नहीं हो सकता। उनका जीवन, उनका प्रचार कार्य, उनका कृतित्व, उनके शुद्धाचारी होने की पूर्ण साक्षी है। कैरेक्टर का अर्थ आचार है, किन्तु यह शब्द भी उक्त अंग्रेजी शब्द के पूर्ण भाव को प्रकट नहीं करता।

हर महापुरुष में एक विशेष शक्ति होती है जो अन्य जनों को उसकी ओर आकर्षित करती है। लोग चाहें या न चाहें, वे उस महात्मा की ओर खिंचे चले आते हैं। स्वामीजी के जीवन में भी यह शक्ति दिखाई देती है। लोग प्रतिपक्षी की भाँति उनसे शास्त्रार्थ करने आते थे किन्तु जाते थे अनुयायी बनकर। इसी आकर्षण शक्ति के कारण प्रत्येक महापुरुष के जीवनकाल में उसके अनुयायियों की बहुत बड़ी संख्या हो जाती है जिनमें से बहुत से तो अपनी धन, सम्पत्ति तथा प्राणों तक को उसके सुपुर्द कर देते हैं। उसके संकेत पर मरने-मारने के लिए तैयार हो जाते हैं। यूरोप की प्रजातान्त्रिक शासन पद्धति ने लोगों को दैहिक दीनता से तो स्वतन्त्र कर दिया परन्तु वह अपने शासकों में उस महान् आचार को नहीं ला पाई जो लाखों लोगों को उनकी ओर आकृष्ट कर सके। इसीलिए महापुरुष यदि राजा शासन को बदलते हैं तो कभी-कभी उसे नष्ट भी कर देते हैं।

महापुरुषों में एक असाधारण विशेषता होती है। यह उन्हें अन्य लोगों से पृथक् करती है। स्वामीजी के बचपन में ही मनुष्यत्व की यह उच्चता दिखाई दी थी। शिवरात्रि की रात्रि को पिता के भय से भयातुर न होकर स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार उनके सामने प्रस्तुत करना इसी महापुरुषत्व का लक्षण था। फिर माता, भाई, बहिन के स्नेह तथा परिवार की ममता को छोड़कर गृहत्याग भी उस महापुरुषत्व की दूसरी साक्षी थी। संन्यासाश्रम के क्लेशों को निर्भयतापूर्वक सहन करते हुए अपने मन्तव्यों पर दृढ़ रहना उनके मनुष्यत्व का तीसरा प्रमाण था। नर्मदा के किनारे कठिन मार्गों पर चलना तथा पीछे न लौटना उनके महापुरुषत्व का चौथा लक्षण था। स्वामी विरजानन्द की कटूक्तियों और मार की परवाह न कर निरन्तर विद्याप्राप्ति करना उनके शुद्धाचार का एक अन्य प्रमाण था। सत्य यह है कि हम कहाँ तक गिनें, जिस व्यक्ति ने उनके जीवन को सावधानी से पढ़ा है, वह स्वयं इस तथ्य को पढ़े-पढ़े अनुभव करेगा।

स्वामी दयानन्द अखण्ड बाल ब्रह्मचारी थे, जितेन्द्रिय थे। मृत्युपर्यन्त ब्रह्मचर्य का सामर्थ्य

उनमें विद्यमान था । वे परम योगी, महावैराग्यवान् थे । तथापि वे मनुष्य के स्वभाव की निर्बलता को जानते थे, इसलिए किसी स्त्री को अपने पास फटकने तक नहीं देते थे । यदि कोई स्त्री आती तो उसकी पीठ की ओर मुँह कर लेते । वे उन्हें यही शिक्षा देते कि अन्य पुरुषों के पास उपदेशार्थ न जाएँ, बल्कि अपने पतियों को भेज दें ताकि वे हमसे शिक्षा ग्रहण कर उन तक पहुँचा दें । नारी-स्वतन्त्रता के वकील तनिक विचार कर स्वामीजी के आचरण के इस अंश का विचार करें । कहीं ऐसा न हो कि यूरोपीय अनुकरण वृत्ति के कारण वे अपनी जातीय मर्यादाओं को भी तिलाञ्जलि दे दें । स्वामीजी परदा प्रथा के विरोधी थे, किन्तु स्त्रियों की निर्बाध स्वतन्त्रता के भी पक्ष में नहीं थे । उन्होंने अपने जीवन में हिन्दू साधुओं की मर्यादा को देखा और जाना था । वे तथाकथित साधु-सन्तों की नारी के प्रति लोलुपता से भी परिचित थे, इसलिए जब कोई स्त्री उनके समीप आती तो नकली साधुओं का यह विडम्बनापूर्ण आचरण भी उन्हें स्मरण हो आता और वे प्रायः यह कहते—"माता, मैं उन साधुओं में नहीं हूँ जो पुत्र देते हैं ।"

स्वामीजी के चरित्र का दूसरा गुण उनकी निर्भयता है । अहा, उनकी निर्भीकता का सत्य-सत्य वर्णन करना भी कठिन है । जनता की अप्रसन्नता और सर्वसाधारण के विरोध से लूथर जैसे महापुरुष की आत्मा भी काँप गई थी । उसने अपने स्वतन्त्र विचारों का अभी थोड़ा ही परिचय दिया था कि पोप की ओर से उसके मार्ग में काँटे बिछाए जाने लगे । उसने तो यहाँ तक कहा कि यदि पोप और उसके साथी उसका पीछा छोड़ दें तो वह भी अपने लेखों और वक्तृता द्वारा उसका खण्डन बंद कर देगा । पोप तथा उसके निर्बुद्धि मित्रों ने इस बात का आग्रह किया कि लूथर अपने प्रकट किए हुए विचारों को फेर ले, आगे के लिए शपथ ले कि वह ऐसा कार्य कदापि न करेगा । परिणाम यह निकला कि लूथर को अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध जाकर ऐसा ही करना पड़ा । परन्तु दयानन्द ने पौराणिक मत के केन्द्रों में जाकर इस मत पर लगातार आक्रमण किए, प्रतिपक्षियों के दुर्वचन सहे, विष तक ग्रहण किया, नाना प्रकार के क्लेश सहे, निंदात्मक वचन सुने परन्तु कभी पीछे नहीं हटे । यदि वे मौन रहना ही स्वीकार कर लेते तो पौराणिकों से यथेच्छ पुरस्कार प्राप्त कर सकते थे, परन्तु इस प्रकार का निष्क्रिय जीवन उनका लक्ष्य नहीं था । अनेक पण्डितों, स्वजातीय ब्राह्मणों, समान आश्रम वाले संन्यासियों और राजा-महाराजाओं ने अनेक बार उन्हें समझाया कि आप मूर्तिपूजा का खण्डन न करें, परन्तु उन्होंने किसी की भी नहीं सुनी और न केवल पौराणिक मतमतान्तरों का खण्डन किया, अपितु समसामयिक शासन से भी न डरकर अनेक बार तो साम्प्रतिक राज्याधिकारियों के सामने ही धर्म-विरुद्ध बातों का प्रबल खण्डन किया । अपने उद्देश्य की पूर्ति में बाधक न तो शासक की कारा से ही उन्हें भय लगा और न विरोधियों की तलवार ही उन्हें भयभीत कर सकी ।

यह उन्हीं का साहस था कि इस विपरीत समय में वे कुलीन राजा-महाराजाओं के भ्रष्ट आचरण पर उनके सामने ही निडरता के साथ कटाक्ष करते रहे । न उन्हें प्राणों का भय था और न किसी अन्य बात का । उनके मुख का तेज ही विपक्षियों को भयभीत कर देता था । जितेन्द्रिय महापुरुषों में ही ऐसा दिव्य तेज होता है । स्वामीजी का शरीर ऐसा हृष्टपुष्ट तथा दृढ़ था कि

अत्यन्त साहसी पुरुष भी उनके समक्ष आने में डरते थे। अनेक बार तो जो लोग उनका वध करने का विचार लेकर आए वे उनके तेज को देख कर ही भाग गए। ऐसे समय वे भयकम्पित हो जाते तथा कोई बहाना बना कर पलायन कर जाते। पं० लेखराम ने उनके शारीरिक बल की अनेक कथाएँ लिखी हैं।

एक बार स्व० सरदार विक्रमसिंह ने ब्रह्मचर्य की चर्चा के प्रसंग में कहा कि लोग कहते हैं कि ब्रह्मचर्य से अपूर्व बल प्राप्त होता है। स्वामीजी ने इसका अनुमोदन किया और कहा, "शास्त्रों में भी ऐसा ही लिखा है कि ब्रह्मचर्य-पालन से बल-प्राप्ति होती है।" इस पर सरदार साहब ने चट कहा, "आप भी तो ब्रह्मचारी हैं, किन्तु आपमें तो ऐसा बल प्रतीत नहीं होता।" स्वामीजी उस समय तो मौन रहे किन्तु जब सरदार विक्रमसिंह अपनी बग्घी पर चढ़कर चले तो स्वामीजी ने पीछे से बग्घी को पकड़ लिया। घोड़ा चलने से रुक गया। जब सरदार ने पीछे देखा तो स्वामीजी ने हँस कर कहा कि यही ब्रह्मचर्य का बल है, जो मैंने आपको दिखाया है।

एक अन्य घटना इस प्रकार है। स्वामीजी एक सड़क पर जा रहे थे। उसी स्थान पर एक बैलगाड़ी को कीचड़ में फँसे हुए उन्होंने देखा जो निकल नहीं रही थी। गाड़ी वाला बैलों को मारता, किन्तु बात नहीं बन रही थी। जब स्वामीजी ने यह दृश्य देखा तो उन्होंने बैलों को खोलकर एक ओर खड़ा कर दिया और अकेले ही माल से लदी गाड़ी को खींचकर कीचड़ से बाहर ला खड़ा किया।

मैडम ब्लैवेट्स्की ने उनके बारे में लिखा है—"उनकी शरीराकृति आकर्षक और सुडौल है। कद लम्बा, गौर वर्ण यूरोपियनों की भाँति, नेत्र दीर्घ तथा मुखाकृति भव्य है। इनकी वाणी में गम्भीरता है जो उपदेश के समय मधुर तो होती है किन्तु पौराणिकों के मिथ्या विश्वासों का खण्डन करते समय उग्र तथा भयंकर हो जाती है। जहाँ-जहाँ वे जाते हैं लोग उनकी चरणधूलि लेने के लिए तत्पर रहते हैं। वे केशवचन्द्र सेन की भाँति किसी नए मत की शिक्षा नहीं देते और न नए नियम ही बनाते हैं।" (From the Caves and Jungles of Hindustan, पृष्ठ 19)

अपनी दिनचर्या में स्वामीजी ईश्वरोपासना तथा व्यायाम को कभी नहीं छोड़ते थे। यद्यपि संन्यासियों के लिए कर्मकाण्ड की अनिवार्यता नहीं है किन्तु स्वामीजी के लिए प्राणायामपूर्वक संध्योपासना तथा व्यायाम अनिवार्य आचरण था। जब कार्याधिक्य हुआ तो व्यायाम में थोड़ी कमी भी आई जिसके फलस्वरूप वे कभी-कभी रोग के भी शिकार हुए। तथापि शारीरिक श्रम को उन्होंने कभी नहीं त्यागा।

स्वामीजी के विरोधी उन्हें क्रोधी कहते हैं परन्तु वे क्रोध का लक्षण नहीं जानते। क्रोध अनुचित सन्ताप को कहते हैं जो ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान, आत्मश्लाघा से उत्पन्न होता है। स्वामीजी में ये दुर्गुण थे ही नहीं। उनकी वाणी और लेखन में कहीं असभ्यता तथा अभद्रता दिखाई नहीं पड़ी। अत्यन्त सूक्ष्म विषयों पर शास्त्रार्थ करते हुए भी उन्होंने कभी अनुचित भाषण नहीं किया। उनके जैसे निर्लोभी तथा विरक्त पुरुष को पाप और अधर्म पर क्रोध आना तो

स्वाभाविक ही था क्योंकि ऐसे अवसर पर क्रोध न आना ही पाप बन जाता है । इसीलिए परमात्मा ने अधर्मी पापियों की ताड़ना करने के लिए मनुष्य को क्रोध की शक्ति प्रदान की है । जो मनुष्य इस परिस्थिति में ऐसा आचरण नहीं करता वह स्वधर्म से पतित हो जाता है । इसमें प्रमाण यह है कि वेदों में भगवान् को मन्यु रूप (सात्त्विक क्रोध-युक्त) कहा है तथा उनसे मन्यु देने की प्रार्थना की गई है—मन्युरसि मन्युंमयिधेहि ।

हाँ, यह अवश्य है कि स्वामीजी में उपहास, व्यंग्य तथा कभी-कभी तीव्र कटाक्ष करने की प्रवृत्ति अवश्य थी । किन्तु उसका हास्य और व्यंग्य भी असभ्य (Vulgar) नहीं होता था । वाद-विवाद तथा शास्त्रार्थ के समय वे कुछ न कुछ उपहास की बात अवश्य कह देते । महापुरुषों में ऐसे हास्य की प्रवृत्ति होती ही है । सुकरात और अफलातून जैसे दार्शनिकों में भी ऐसी वृत्ति दिखाई पड़ती है । महापुरुषों में दुष्टता, पाप और अधर्म के पति अमर्ष (क्रोध) का भाव तो सदा रहता ही है । आप लूथर के लेखों को पढ़ें, पैगम्बर मोहम्मद के जीवनचरित को देखें, गुरु गोविन्द सिंह की वाणी को सुनें, शंकराचार्य की कृतियों को देखें, हमें इन सभी महापुरुषों के आचरण तथा कृतित्व में उचित सीमा का क्रोध तथा हास्य की वृत्ति दिखाई देती है, परन्तु स्वामीजी की रचनाओं में वैसा हल्कापन तथा असभ्यता दिखाई नहीं देती जैसी ईसाई पादरियों के लेखन में है । प्रायः मौलवियों, पादरियों तथा पौराणिक पण्डितों के द्वारा प्रयुक्त वचनों को सुनकर तो सुनने वालों को ही लज्जा आती है और आश्चर्य है कि ऐसे क्षुद्रमनस्क व्यक्ति ही स्वामीजी पर क्रोधी होने का दोष लगाते हैं । वास्तव में क्रोध क्या होता है, इसका पता तो तब लगे जब इन लोगों को वैसे ही कुवाच्य वचनों तथा आक्रमणों का सामना करना पड़े जैसा स्वामीजी के प्रति होता रहा था । लोग उन्हें नास्तिक, अंग्रेजों का गुप्तचर आदि न जाने क्या-क्या कहते थे । पीछे ही नहीं, प्रत्यक्षतया उन पर आरोप लगाने में नहीं चूकते थे तथापि स्वामीजी ने कदापि अपने विषय से हटकर उस गालीवर्षण की ओर ध्यान नहीं दिया । मैं समझता हूँ कि जिस परिस्थिति में स्वामीजी को काम करना पड़ा, उसे देखते हुए तो हमें उनकी सहनशीलता की ही प्रशंसा करनी चाहिए, किन्तु आश्चर्य है कि लोग उन पर क्रोधी और असहिष्णु होने का आरोप लगाते हैं ।

स्वामीजी के हास्य के कुछ नमूने

1. किसी व्यक्ति ने पूछा कि आप मुलतानी मिट्टी शरीर पर क्यों लगाते हैं ? उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि यदि कोई मक्खी शरीर पर बैठेगी तो उसका मुख मिट्टी से भर जाएगा ।

2. हरिद्वार की हर की पैड़ी को 'हाड़ की पैड़ी' कहते थे, क्योंकि वहाँ मृतकों की हड्डियाँ डाली जाती हैं ।

3. एक बार हरिद्वार में पूछने लगे कि इन साधुओं में से किसकी दूकान अधिक चलती है ।

4. जब कोई पण्डित शास्त्रार्थ करने में यह आपत्ति करता कि स्वामीजी का दर्शन करना भी पाप है तो बिना क्रोध किए कहते कि बीच में पर्दा डाल लो, परन्तु शास्त्रार्थ अवश्य करो ।

स्वामीजी का प्रायः ऐसे लोगों से भी साबका पड़ता था जो उनके प्राणों के ग्राहक बने रहते थे। इस प्रसंग में मैडम ब्लैवेट्स्की ने एक घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है—"हिन्दू देव-माला में नाग को भी देवता माना गया है। इसे शिव के कण्ठ का भूषण कहा गया। यही नाग शेषनाग के रूप में विष्णु की शय्या भी है। एक बार स्वामीजी का सामना एक ऐसे ही नागपूजक ब्राह्मण से हुआ जिसने वार्तालाप प्रसंग में अचानक उग्र होकर स्वामीजी के ऊपर उस साँप को फेंक दिया जो उसने अपनी टोकरी में छिपा रखा था और कहा, अब महादेव का यह सर्प ही इस बात का न्याय करेगा कि सत्य का पक्ष किसका है ? उसे तो यह पक्का विश्वास था कि साँप स्वामीजी का प्राणान्त कर देगा, परन्तु हुआ उलटा ही। स्वामीजी ने एक ही झटके में साँप को हाथ से पकड़ लिया और तत्काल उसके सिर को कुचल डाला। तब उस ब्राह्मण की ओर अभि-मुख होकर कहा—तेरे देवता ने तो बहुत देर लगाई और मैंने इसका झटपट फैसला कर दिया। फिर उपस्थित लोगों से कहा—जाओ और लोगों को बताओ कि झूठे देवताओं का यही हाल होता है।"

स्वामीजी के साहस-क्षमता तथा सहनशीलता के बारे में मैडम ब्लैवेट्स्की उक्त पुस्तक में लिखती हैं—"कई बार तो ऐसा लगता है मानो इस महापुरुष के जीवन में कोई जादू है क्योंकि वह भारत में प्रचलित अंधविश्वासों का भयंकर विरोध करता है। विपक्षियों के क्रोध से भी उसके मन में क्षोभ नहीं होता, लगता है मानो वह प्रस्तर की मूर्ति ही है।"

स्वामीजी के निधन पर पत्रों में श्रद्धाञ्जलियाँ

(अ) बंगाल के पत्र

(1) कलकत्ता का पत्र--बंगाली (3 नवम्बर 1883), (2) इण्डियन एम्पायर, कलकत्ता (4 नवम्बर 1883), (3) हिन्दू पेट्रियेट, कलकत्ता, (4) पब्लिक ओपीनियन, कलकत्ता (नवम्बर 1883), (5) लिबरल, कलकत्ता (11 नवम्बर), (6) इण्डियन मैसेंजर, कलकत्ता (11 नवम्बर 1883), (7) इंगलिश क्रोनिकल, बाँकीपुर, पटना (5 नवम्बर 1883) ।

(आ) बम्बई प्रान्त के पत्र

(1) इण्डियन स्पेक्टेटर (18 नवम्बर 1883), (2) दीनबंधु (4 नवम्बर 1883), (3) गुजरात मित्र, सूरत (11 नवम्बर 1883), (4) रास्त गुफ्तार (4 नवम्बर 1883), (5) जामे जमशेद, बम्बई, (2 नवम्बर 1883), (6) गुजराती, बम्बई (4 नवम्बर 1883) ।

(इ) मद्रास प्रान्त के पत्र

(1) हिन्दू आब्जरवर (8 नवम्बर 1883), (2) थिंकर (11 नवम्बर 1883) ।

(ई) पश्चिमोत्तर प्रदेश के पत्र

(1) अवध अखबार (8 नवम्बर 1883), (2) हिन्दुस्तानी, (3) नसीम हिन्द, (4) हिन्दी प्रदीप (प्रयाग), (5) भारतबंधु अलीगढ़, (6) क्षत्रिय हितकारी (बनारस) ।

(उ) पंजाब के पत्र

(1) ट्रिब्यून, लाहौर (3 नवम्बर 1883), (2) पंजाब टाइम्स रावलपिण्डी, (10 नवम्बर 1883), (3) अंजुमन अखबार, (7) ज्ञान प्रदायिनी पत्रिका, लाहौर ।

(ऊ) अन्य आर्य पत्र

आर्य मैगजीन, रिजेनेरेटर आफ आर्यावर्त, देश-हितैषी (अजमेर), आर्यदर्पण (शाहजहांपुर), आर्य समाचार, देशोपकारक, शुभचिंतक आदि ।

कुछ अन्य शोकाञ्जलियाँ

प्रो० मैक्समूलर ने अपने 'बायोग्राफिकल एसेज' नामक ग्रन्थ में लिखा—"स्वामी दयानन्द आर्यसमाज के संस्थापक तथा अग्रणी नेता थे । वे एक विद्वान् पुरुष थे तथा अपने धार्मिक साहित्य के पूर्ण जानकार थे । वे समाज-सुधारक भी थे और अपनी व्यक्तिगत निंदा को सहन करते हुए भी उन्होंने अपने कर्त्तव्य को कभी नहीं छोड़ा ।"

अमेरिका के दार्शनिक एण्ड्रू जैक्सन डेविस ने आर्यसमाज की उपमा एक ऐसी अग्नि से दी है जिसमें प्रेम और भाईचारे का प्रकाश तो है किन्तु जो पाखण्ड, अन्याय और अत्याचार को जलाने की क्षमता भी रखती है । यह अग्नि महान् संन्यासी स्वामी दयानन्द के हृदय से उत्पन्न हुई है ।

मैडम ब्लैवेट्स्की ने स्वामीजी को भारत का लूथर बताया तथा लिखा कि यह पूर्ण सत्य है कि शंकराचार्य के पश्चात् भारत में स्वामी दयानन्द से बढ़कर संस्कृत का विद्वान्, उनसे बढ़कर प्रत्येक बुराई को उखाड़ फेंकने वाला प्रबल वक्ता तथा गम्भीर दार्शनिक अन्य कोई नहीं हुआ ।

स्वामी दयानन्द का स्मारक—डी०ए०वी० कालेज, लाहौर—स्वामीजी की मृत्यु का समाचार मिलते ही लाहौर के आर्य पुरुषों ने यह संकल्प किया कि उस महापुरुष की स्मृति में कोई महत्त्वपूर्ण स्मारक बनाना चाहिए । 8 नवम्बर 1883 को जब लाहौर में स्वामीजी के निधन पर शोक प्रकट करने के लिए एक शोकसभा का आयोजन हुआ तो उनकी स्मृति में दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक कालेज खोलने का निश्चय हुआ । इसके लिए 8 हजार रुपये तो तुरन्त एकत्र हो गए । लाहौर की इस सभा के प्रस्ताव का अनुमोदन मुल्तान, रावलपिण्डी तथा पंजाब के अन्य नगरों की आर्यसमाजों ने भी किया था । उधर 28 दिसम्बर 1883 को परोपकारिणी सभा का प्रथम अधिवेशन अजमेर में हुआ जिसमें स्वामीजी का अन्तिम स्वीकार-पत्र पढ़ा गया । यह निम्न है—

स्वीकार-पत्र की नकल

मैं दयानन्द सरस्वती निम्नलिखित नियमानुसार 23 सज्जन पुरुषों की सभा को निजी वस्त्र, पुस्तक, धन, यंत्रालयादि अपने सर्वस्व का अधिकार देता हूँ और उसको परोपकारादि शुभ कार्य में लगाने के लिए अधिकार देकर स्वीकार-पत्र लिख देता हूँ कि समय पर काम आए । इस सभा का नाम परोपकारिणी सभा है, और निम्नलिखित 23 महाशय इसके सभासद हैं—

(इससे पहले अगस्त 1880 ई० में स्वामीजी ने मेरठ में एक वसीयत (स्वीकार-पत्र) रजिस्टरी कराई थी, जिसका विषय ठीक यही था परन्तु भेद केवल इतना ही था, उसमें 18 सभ्य थे और उसमें लाला मूलराज जी को प्रधान और लाला रामशरणदासजी को मन्त्री नियत किया गया था । उस स्वीकार-पत्र में राजपूताने के सभ्य नहीं लिए थे और कर्नल आल्काट, मैडम ब्लेवट्स्की और डाक्टर बिहारीलाल भी सभ्य श्रेणी में थे ।)

1. श्रीमान् महाराजाधिराज महेन्द्र यावद् आर्यकुल दिवाकर महाराणा जी श्री 108 सज्जनसिंह वर्मा धीर-वीर जी०सी०एस०आई० उदयपुराधीश, उदयपुर (देश मेवाड़) — सभापति
2. लाला मूलराज जी एम०ए०, एक्स्ट्रा असिस्टैंट कमिश्नर लुधियाना-निवासी, लाहौर — उप सभापति
3. श्रीयुत् कविराजा श्यामलदासजी, उदयपुर (मेवाड़) — मन्त्री
4. लाला रामशरणदास रईस व उपप्रधान आर्य समाज, मेरठ — मन्त्री

5. पण्ड्या मोहनलाल विष्णुलाल जी मथुरा निवासी, उदयपुर — उपमन्त्री
6. श्रीमान् महाराजाधिराज श्रीनाहरसिंहजी वर्मा, शाहपुरा — सभासद
7. श्रीरावत तखतसिंहजी बेदले राज, मेवाड़ — सभासद
8. श्रीमत् राज राणा श्री फतहसिंहजी वर्मा, देलवाड़ा — सभासद
9. श्रीमत् रावत श्री अर्जुन सिंहजी वर्मा, आसीद — सभासद
10. श्रीमत् महाराजा श्री गजसिंहजी वर्मा, उदयपुर — सभासद
11. श्रीमत् राव श्री बहादुर सिंहजी वर्मा मसूदा, अजमेर — सभासद
12. राय बहादुर पं० सुन्दरलाल, सुपरिन्टैंडैंट वर्कशाप व प्रैस, अलीगढ़ — सभासद
13. राजा जयकृष्णदासजी सी०एस०आई०, डिप्टी कलैक्टर, बिजनौर-मुरादाबाद — सभासद
14. बाबू दुर्गा प्रसादजी, कोषाध्यक्ष आर्यसमाज, फर्रूखाबाद — सभासद
15. लाला जगन्नाथ प्रसादजी, फर्रूखाबाद — सभासद
16. सेठ निर्भयराम, प्रधान आर्यसमाज, फर्रूखाबाद — सभासद
17. लाल० कालीचरण रामचरण मन्त्री आर्यसमाज, फर्रूखाबाद — सभासद
18. बा० छेदीलाल गुमाश्ता कमसरीयेट छावनी मुरार, कानपुर — सभासद
19. ला० साँईदास, मन्त्री आर्यसमाज लाहौर, कानपुर — सभासद
20. बा० माधोप्रसादजी, दानापुर — सभासद
21. रायबहादुर पं० गोपालराव हरि देशमुख, मैम्बर कौंसिल गवर्नर, बम्बई व प्रधान आर्यसमाज, बम्बई-पूना — सभासद
22. रावबहादुर महादेव गोविंद रानाडे, जज, पूना — सभासद
23. पं०श्यामजी कृष्ण वर्मा, संस्कृत प्रोफैसर, यूनीवर्सिटी लंडन, आक्सफोर्ड — सभासद

स्वीकार-पत्र के नियम

1. उक्त सभा जैसे कि अब नियमानुसार मेरी और मेरे समस्त सर्वस्व की रक्षा करके परोपकारी कार्यों में लगती है, वैसे ही मेरी मृत्यु के पीछे भी लगाया करे ।

2. वेद और वेदाङ्गादि शास्त्रों के प्रचार अर्थात् उनके व्याख्यान करने कराने, पढ़ने, पढ़ाने, सुनने सुनाने, छापने छपवाने आदि में मेरा धन लगाए ।

3. वेदोक्त धर्म के उपदेश और उनकी शिक्षा अर्थात् उपदेशक मण्डली नियत करके देश-देशान्तरों और द्वीप-द्वीपान्तरों में पहुँचकर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग आदि में व्यय करे ।

3,4. आर्यावर्त के दीनों और अनाथों की सहायता और उनको विद्या-शिक्षा में खर्च करे और करावे ।

4. जैसे मेरे जीवन में यह सभा सब प्रबन्ध करती है वैसे ही मेरी मृत्यु के पीछे तीसरे या छठे महीने में किसी सभासद को वैदिक यन्त्रालय का हिसाब-किताब (बहीखाते) समझने और

पड़ताल करने के लिए भेजा करे और वह सभासद वहीं जाकर सारे व्यय की जाँच-पड़ताल करे और उसके नीचे अपने हस्ताक्षर करे और इस पड़ताल की एक-एक प्रति हर एक सभासद के पास भेजे। और यदि छापेखाने के प्रबन्ध में कुछ नुक्स देखे तो उसकी निवृत्ति के विषय में अपनी सम्मति लिखकर हर एक सभासद के पास भेज दे, और प्रत्येक सभासद को उचित है कि अपनी-अपनी सम्मति सभापति के पास लिख भेजे और सभापति जी सब की सम्मति से यथोचित प्रबन्ध करे। इस विषय में कोई सभ्य आलस्य या अनुचित कार्यवाही न करे।

5. इस सभा को उचित है कि जैसा यह परम धर्म और परमार्थ का काम है, वैसा ही उसको उत्साह, पुरुषार्थ, गम्भीरता और उदारता से करे।

6. उक्त 23 आर्य मनुष्यों की सभा मेरी मृत्यु के अनन्तर सब प्रकार से मेरी प्रतिनिधि समझी जाए अर्थात् जो अधिकार मुझे अपने सर्वस्व पर है वही अधिकार सभा को होगा। उक्त सभ्यों में यदि कोई महाशय स्वार्थता में पड़कर उन नियमों से विरुद्ध काम करे या कोई अन्य मनुष्य हस्तक्षेप करे तो नितान्त झूठा समझा जाए।

7. जैसे इस सभा को वर्तमान काल में मेरी और मेरे सब पदार्थों की यथाशक्य रक्षा और वृद्धि करने का अधिकार है, वैसे ही इसको मेरी मृतक देह के संस्कार आदि करने का अधिकार है। जब मेरा शरीर छूटे तो न उसको गाड़ा जाए, न जल में बहाया जाए, किन्तु केवल चन्दन की चिता में जला दें और यदि यह सम्भव न हो, तो 2 मन चन्दन, 4 मन घी, 5 सेर मुशक काफूर, अढ़ाई मन अगर-तगर, 10 मन लकड़ी लेकर वेदानुकूल जैसा कि संस्कार-विधि में लिखा है, वेदी बनाकर वेद मन्त्रों से जो उसमें दर्ज हैं, भस्म करें, इसके सिवा और कुछ वेद-विरुद्ध न करें। और यदि इस सभा का कोई सभासद उस समय विद्यमान न हो, तो जो कोई विद्यमान हो वही यह काम करे और जितना धन लगे उतना सभा से ले लेवे और सभा उसको दे दे।

8. अपनी उपस्थिति में मुझे और मेरे पीछे इस सभा को अधिकार है कि उक्त सभा में से जिसको चाहे निकाल दे और उसके स्थान पर अन्य किसी योग्य सामाजिक आर्य पुरुष को उसका प्रतिनिधि नियत कर ले। परन्तु कोई सभासद तब तक निकाला नहीं जाएगा जब तक उसके काम में कुछ अनुचित व्यवहार न पाया जाएगा।

9. मेरे सदृश यह सभा सदैव स्वीकार-पत्र की व्याख्या उसके नियमों व प्रबन्धों की पालना, या किसी सभासद के भिन्न करने और उसके स्थान पर अन्य सभासद नियत करने और मेरे विपत और आपत काल को निवृत्त करने के उपाय व यत्न में वह उद्योग करे जो सब सभासदों की सम्मति से निश्चय और निर्णय पाया जाए या पाए। और यदि सभ्यों की सम्मति में विरोध रहे तो (कसरतराय) अधिक सम्मतियों पर काम करे और सभापति को सदैव द्विगुण समझा जाए।

10. किसी अवस्था में भी यह सभा तीन से अधिक सभासदों को दोषी ठहरा कर तब तक अलहदा न कर सकेगी जब तक उनके स्थान और सभ्य नियत न कर ले।

11. यदि सभा में से कोई पुरुष परलोक सिधार जाए या उक्त नियमों और वेदोक्त धर्म को छोड़कर विपरीत चलने लगे, तो सभापति को उचित है कि सब सभ्यों की सम्मति से उसको अलहदा करके उसके स्थान पर वेदोक्त धर्म युक्त आर्य पुरुष को नियत करे, परन्तु उस समय तक साधारण कामों के सिवा कोई नया कार्य आरम्भ न किया जाए।

12. इस सभा को अधिकार है कि हर प्रकार का प्रबन्ध करे और नई युक्ति निकाले, परन्तु यदि सभा को अपने परामर्श और विचार पर पूरा-पूरा निश्चय और विश्वास न हो तो लेख द्वारा नियत समय के पीछे समस्त आर्य समाजों से सम्मति ले और सम्मतियों की अधिकता पर यथोचित प्रबन्ध करे।

13. प्रबन्ध न्यूनाधिक करना, स्वीकार अस्वीकार करना या किसी सभासद को हटाना या नियत करना व आय व्यय की जाँच-पड़ताल और अन्य हानि लाभ के कार्यों की सभापति जी को उचित है, वार्षिक या षण् मासिक छपवाकर डाक द्वारा सब सभासदों में बाँटा करें।

14. यदि इस स्वीकार-पत्र के विषय में कोई झगड़ा खड़ा हो जावे तो उसको सरकारी सामयिक न्यायालय में पेश न करना चाहिए, यह सभा अपने आप न्याय करे, परन्तु यदि अपने से यह न निबटे, तो राजगृह में पेश करके कार्रवाई की जावे।

15. यदि मैं अपने जीते जी किसी योग्य आर्य पुरुष को पारितोषक देना चाहूँ और उसको लिखित पढ़त कराके रजिस्ट्री करा दूँ तो सभा को उचित है कि उसको माने और दे।

16. मुझे और मेरे पीछे सभा को सर्वथा अधिकार है कि उपरोक्त नियमों को किसी विशेष, देशोन्नति के शुभ कार्य तथा सर्वसाधारण के लाभ के लिए न्यूनाधिक करे।

ह० दयानन्द सरस्वती

नोट—इस सभा के सभ्यों में से निम्नलिखित सभासद परलोक सिधार चुके हैं : श्रीमान् महाराणा सज्जनसिंहजी महाराणा उदयपुर प्रधान, श्रीयुत् कविराजा श्यामलदासजी मन्त्री, लाला रामशरणदासजी रईस मेरठ मन्त्री, श्रीराव तखतसिंहजी सभासद, राजराणा श्रीयुत् फतहसिंह जी सभासद, श्री अर्जुन सिंह जी सभासद, श्री बहादुरसिंह जी सभासद, राय बहादुर पं० सुन्दरलालजी सभासद, लाला जगन्नाथप्रसाद जी, सेठ निर्भयराम जी, ला० कालीचरण जी, बाबू छेदीलालजी, ला० साँईदासजी, पं० गोपालराव हरिदेशमुख जी सभ्य। इनके स्थान पर निम्नलिखित अधिकारी व सभ्य नियत हुए—

1. महाराजाधिराज कर्नल सर प्रतापसिंह जी, जी०सी०एस०आई०, बड़े मुसाहब, जोधपुर — प्रधान
2. पं० हरविलास जी शारदा बी०ए० ट्यूटर महारावल, जैसलमेर (राजपूताना) — संयुक्त मन्त्री
3. वेदलाराव राजसिंह जी, मेवाड़ उदयपुर — सभासद
4. कुनारी राज राणा श्री विजयसिंह जी, कोटा राज्य — सभासद
5. बा० पुरुषोत्तम नारायण जी, फर्रूखाबाद — सभासद

6. सेठ शिवलाल जी — सभासद
7. लाला लालचन्द जी एम०ए० प्लीडर, चीफकोर्ट पंजाब, फैलो पंजाब यूनिवर्सिटी व प्रधान कार्यकारिणी सभा दयानन्द एंग्लोवैदिक कालिज, लाहौर — सभासद
8. ला० ईश्वरदास जी एम०ए० प्लीडर, चीफकोर्ट पंजाब — सभासद
9. ला० हंसराज जी आनरेरी प्रिन्सीपल, दयानन्द एंग्लोवैदिक कालिज, लाहौर — सभासद
10. ला० लाजपतराय जी प्लीडर, चीफ कोर्ट पंजाब — सभासद
11. पण्डित रामदुलारे जी वाजपेई, लखनऊ — सभासद
12. ला० रामगोपाल जी बैरिस्टर एट ला, रंगून — सभासद
13. रोशनलाल जी बी०ए० बैरिस्टर एट ला, इलाहाबाद — सभासद
14. ला० पद्मचन्द जी प्रधान, आर्यसमाज, अजमेर — सभासद

इस जलसे में जो 28 दिसम्बर 1883 ई० को मेवाड़ दरबार की कोठी मेयो कालिज अजमेर वाली में हुआ था, निम्नलिखित सभ्य उपस्थित थे—

1. राव मूलराज जी एम०ए० उपसभापति — सभापति
2. कविराजा श्यामलदास जी — मन्त्री
3. पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या — उपमन्त्री
4. राजाधिराज श्री नाहरसिंह जी शाहपुराधीश की ओर से कविराजा श्यामलदास जी प्रतिनिधि — सभासद
5. राजराणा श्री फतह सिंह जी, देलवाड़ा — सभासद
6. राव श्री तखतसिंह जी बेदला 'मेवाड़' की ओर से राजराणा फतेहसिंह जी दूसरा प्रतिनिधि — सभासद
7. रावत श्री अर्जुनसिंह जी आसीन्द मेवाड़ की ओर से कविराजा श्यामलदास जी द्वितीय नं० प्रतिनिधि — सभासद
8. महाराजा श्री गंजसिंह जी शिवरती मेवाड़ की ओर से राजा जी फतहसिंह जी सं० 5 प्रतिनिधि — सभासद
9. राव श्री बहादुर सिंह जी मसूदाधीश की ओर से उनके मन्त्री पण्डित छगनलाल जी, प्रतिनिधि — सभासद
10. राव बहादुर पण्डित सुन्दरलाल जी — सभासद
11. बाबू दुर्गाप्रसाद रईस, फर्रूखाबाद — सभासद
12. लाला जगन्नाथ प्रसाद रईस, फर्रूखाबाद — सभासद
13. लाला कालीचरण जी — सभासद
14. सेठ निर्भयराम जी की ओर से उनके पुत्र लाला श्रीरामजी प्रतिनिधि — सभासद
15. बाबू छेदीलाल मुरार छावनी निवासी की ओर से बाबू शिवनारायण जी प्रतिनिधि — सभासद

16. लाला साँईदास, लाहौर — सभासद
17. बाबू माधोलाल, दानापुर — सभासद
18. रावबहादुर पं० गोपाल राव हरि देशमुख, बम्बई — सभासद
19. रावबहादुर पं० महादेव गोविन्द रानाडे एम०ए०, एल-एल०बी० — सभासद
20. पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा बी०ए०, आक्सफोर्ड — सभासद

हिज हाइनेस महाराणा उदयपुर सभापति व्याधि पीड़ित होने के कारण आप नहीं पधार सके । उन्होंने अपने अधिकार राजराणा फतेहसिंह को और कविराजा श्यामलदास जी को देकर भेजा । राजा जयकृष्णदासजी सी०एस०आई० घोड़े से गिर पड़ने के कारण न आ सके । सार यह है कि 23 सभ्यों में से 14 आप और सात सभ्यों ने अपने प्रतिनिधि भेजे और केवल एक सभ्य अनुपस्थित रहा, एक महाशय लाला रामशरणदास जी मर चुके थे ।

सबसे पहले स्वामीजी का स्वीकार-पत्र पढ़ा गया और जिन महाशयों ने इस पर हस्ताक्षर नहीं किए थे उन्होंने इस पर अब हस्ताक्षर किए और सदस्यता स्वीकार की । इसके पश्चात् लाला रामशरणदास के स्थान पर महाराजा श्री प्रतापसिंह जी०सी०एस०आई० सर्वसम्मति से सदस्य मनोनीत किए गए । यह अधिवेशन 29 दिसम्बर को भी हुआ । उस दिन राव बहादुरसिंह मसूदाधीश भी आ गए । इस दिन निम्न प्रस्ताव पास किए गए । पं० महादेव गोविन्द रानाडे ने प्रस्तावित किया और कवि राजा श्यामलदास ने अनुमोदन किया कि स्वामी दयानन्द की स्मृति में एक दयानन्द आश्रम बनाया जाए, जिसमें पुस्तकालय, एंग्लोवैदिक कालिज, पुस्तक बिक्री विभाग, अनाथालय, अद्भुतालय, मुद्रणालय तथा व्याख्यान-गृह हों ।

उसी समय दान की अपील की गई और 24 हजार के वचन वहीं प्राप्त हो गए । इस अधिवेशन में बड़ी-बड़ी समाजों के प्रतिष्ठित सभासद तथा प्रतिनिधि उपस्थित थे और ये प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित किए गए । खेद का विषय है कि इस अधिवेशन के पश्चात् महाराणा उदयपुर का स्वर्गवास हो गया । जिस वेग और उत्साह से ये प्रस्ताव स्वीकार किए गए थे उतने जोश से आगे काम नहीं हुआ अतः इन्हें कार्यान्वित नहीं किया जा सका । तथापि कुछ कार्य चल रहे हैं । अजमेर में एक एंग्लो संस्कृत पाठशाला चल रही है । हमारी राय में यह सभा जो स्वामीजी की वसीयत के अनुसार उनकी प्रतिनिधि है, स्वामीजी की इच्छाओं को पूरा करने की योग्यता रखती है । इसीलिए स्वामीजी के निधन के दो मास के भीतर ही इस सभा ने उनके स्वीकार-पत्र को सम्मुख रखकर कार्य करना स्वीकार किया है । देखना यह है कि सभा इस कार्य को कब पूरा करती है । उस समय स्वामीजी के ग्रन्थों का मूल्य 53 हजार लगाया गया था और लगभग 400 रुपये नकद था । 11 हजार रुपया लोगों में बाकी निकलता था । इस सब सम्पत्ति का अधिकार परोपकारिणी सभा के प्रधान उदयपुराधीश की ओर से पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने सँभाला था । इस समय वैदिक यन्त्रालय और मुद्रित पुस्तकों का मूल्य न्यूनातिन्यून एक लाख रुपये है । सभा की अन्य स्थावर सम्पत्ति 25 हजार से कम नहीं है ।

स्वामी दयानन्द और पठन-पाठन

स्वामी दयानन्द ने विद्या-प्राप्ति पर सर्वाधिक बल दिया था । उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में बालक-बालिकाओं के लिए अनिवार्य शिक्षा का प्रतिपादन किया है । यह भी लिखा है कि धनी तथा गरीब सबके लिए शिक्षा की समान सुविधा होनी चाहिए । लड़के और लड़कियों के लिए पृथक् विद्यालय हों । शिक्षा विषयक ये सभी महत्त्वपूर्ण सूत्र स्वामीजी के विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित हुए हैं । आज के युग में चाहे इन नियमों का पालन कितना ही कठिन जान पड़े किन्तु स्वामीजी ने मनु के प्रमाण से लिखा है कि राजाओं को उचित है कि अनिवार्य नियमानुसार बालक-बालिकाओं को अपने-अपने विद्यालयों में भेजने के लिए बाधित करें । जो इस आदेश का पालन न करें वे दण्डनीय समझे जाएँ । स्वामीजी ने संस्कृत शास्त्रों के पूर्ण अध्ययन के लिए बारह वर्ष का समय निर्धारित किया है जो इस प्रकार है—डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी और इतने समय में ही महाभाष्य । छह या आठ महीनों में यास्कीय निरुक्त । चार मास में पिंगल छन्द सूत्र । एक वर्ष में मनुस्मृति, रामायण, महाभारत के विदुर-नीति जैसे प्रकरण । दो वर्ष में षट्दर्शन तथा 10 उपनिषद् । छह वर्षों में चारों ब्राह्मण और वेद । इसके अनन्तर चार वर्ष में अन्य वैदिक विद्याए, दो वर्ष में राजनीति तथा युद्ध विद्या अर्थात् धनुर्वेद । तत्पश्चात् गायन विद्या (गांधर्व वेद), अनन्तर अर्थवेद (शिल्पशास्त्र) । इस प्रकार 30-31 वर्ष में शिक्षा समाप्त होती है । यह ध्यान रखना चाहिए कि वेद विद्या के पढ़ने का अधिकार स्वामीजी ने स्त्री-पुरुष को समान रूप से दिया है ।

स्वामी दयानन्द और थियोसोफिकल सोसाइटी

जिस वर्ष आर्यसमाज की स्थापना हुई उसी वर्ष (1875) में अमेरिका के न्यूयार्क नगर में कुछ लोगों ने आत्मचिंतन के लिए एक सभा बनाने का निश्चय किया और इसे थियोसोफिकल सोसाइटी का नाम दिया। दो मास के अन्दर ही इस सभा के सभासदों में परस्पर विग्रह उत्पन्न हो गया, तब यह विचार हुआ कि इस सभा की कार्यवाही गोपनीय रखी जाए। 1877 तक इस सभा के कार्य में कोई प्रगति नहीं हुई। इसके संस्थापक कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवेट्स्की ही इसके सर्वेसर्वा थे। अब तक उन्हें आर्यसमाज की कोई जानकारी नहीं थी। 1877 में एक अमेरिकन यात्री, जो भारत से ही गया था, से कर्नल ने मूलजी ठाकरसी नामक एक गुजराती का पता पूछा जो अटलांटिक महासागर पार कर अमेरिका जाते समय उक्त अमेरिकन के साथ थे। उसने मूलजी का पता कर्नल आल्काट को बताया तो इन्होंने मूलजी को पत्र लिखकर उनसे अपनी सोसाइटी की चर्चा की। मूलजी ने इसके उत्तर में बम्बई आर्यसमाज के तत्कालीन प्रधान हरिश्चन्द्र चिन्तामणि की प्रशंसा की और यह भी लिखा कि आर्यसमाज के संस्थापक इस समय भारत में वेद विद्या का प्रचार कर रहे हैं। इस पत्र व्यवहार का परिणाम यह निकला कि हरिश्चन्द्र चिन्तामणि थियोसोफिकल सोसाइटी के सदस्य बन गए। इनके माध्यम से कर्नल साहब और स्वामीजी के बीच पत्र व्यवहार आरम्भ हुआ।

18 फरवरी 1878 के अपने पत्र में कर्नल ने अंत्यन्त विनयपूर्वक लिखा कि हमें ईसाई धर्म मिथ्या प्रतीत होता है। इसलिए हम आपकी शरण आते हैं, जैसे पुत्र पिता की शरण में आता है। हम प्रार्थना करते हैं कि आप गुरु की भाँति हमारा मार्गदर्शन करें। पत्र में यह भी लिखा था कि अंग्रेज प्राच्य विद्याविद् संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद करने में कैसी-कैसी भूलें तथा पक्षपात करते हैं। पत्र लेखक ने स्वयं को स्वामीजी की शिक्षाओं को मानने वाला तथा उनकी आज्ञाओं को शिरोधार्य करने वाला बताया।

स्वामीजी ने इस पत्र का उत्तर 21 अप्रैल 1878 को एक संस्कृत पत्र में दिया, जिसका अनुवाद इस प्रकार है—

सकलोत्तम गुण वरिष्ठ, सनातनधर्माभिलाषी, एक अद्वितीय ईश्वर की उपासना के अनुयायी बंधु वर्ग आदि उपमा देकर स्वामीजी ने कर्नल, मैडम तथा उक्त सोसाइटी के सदस्यों को सम्बोधित कर आशीर्वाद दिया और लिखा—

'आपका पत्र पढ़कर परम आनन्द हुआ, धन्यवाद है उस सर्वशक्तिमान्, सर्वत्र एकरस व्यापक, सच्चिदानन्द, अनन्त, अखण्ड, अजन्मा, निर्विकार, अविनाशी, न्यायकारी, दयालु, विज्ञान

स्वरूपसृष्टि, स्थिति प्रलय का विशेष नियत कारण, और सत्य गुण कर्म स्वभाव, निर्भ्रम, अखिलविद्या युक्त, जगदीश्वर को जिसकी कृपा से 5 सहस्र वर्षों के अनन्तर पाताल निवासी आप लोगों को हमारे साथ पत्र व्यवहार का समय प्रदान हुआ है । हमारी सम्मति कृश्चन मत विषयक आपसे मिलती है । जैसे ईश्वर की उपासना करनी और उसकी आज्ञा सर्वोपकार रूप माननी, सनातन वेद विद्या से प्रतिपादित और आप्त विद्वानों द्वारा आचरित, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध, सृष्टि क्रम के अनुकूल, अन्याय पक्षपात से रहित, धर्म से युक्त आत्मा से प्रीति करनी चाहिए । इससे विपरीत अन्य धर्म पाखण्डियों के हैं । हम आप को यथायोग्य इस कार्य में सहायता देंगे और आपसे पत्रव्यवहार बड़ी प्रसन्नतापूर्वक करेंगे ।' आदि ।

दयानन्द सरस्वती

पत्र यद्यपि संस्कृत में था परन्तु यह सिद्ध नहीं होता कि इसका कोई त्रुटित अनुवाद कर्नल साहब को भेजा गया था । ऐसा जान पड़ता है कि इसके साथ आर्यसमाज के नियमों का अनुवाद भी भेजा गया था जो पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा ने किया था । इस पत्र से कर्नल और मैडम को स्वामीजी के ईश्वर विषयक विचारपूर्ण रूप से विदित हो गए थे । कर्नल के 29 मई 1878 के पत्र में इस 21 अप्रैल के पत्र का संदर्भ आया है । इस बीच कर्नल के पाँच पत्र हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के पास भी आए । इनमें चार पत्र कर्नल के हस्ताक्षरों से और पाँचवाँ सोसाइटी के कार्यालय सचिव अगस्टस गस्टम के हस्ताक्षर युक्त था । इन पत्रों का सार इस प्रकार है—

1. कर्नल के 21 मई 1878 के पत्र में इस प्रस्ताव को सर्वसम्मति से सहर्ष स्वीकार किया गया था कि न्यूयार्क की थियोसोफिकल सोसाइटी आर्यसमाज से मिला दी जाएगी तथा इसका नाम 'थियोसोफिकल सोसाइटी ऑफ दि आर्यसमाज ऑफ आर्यावर्त' होगा । सोसाइटी ने यह भी स्वीकार किया कि इसकी समस्त शाखाएँ जो यूरोप तथा अमेरिका में हैं, स्वामी दयानन्द को अपना अधिष्ठाता मानेंगी ।

2. अगस्टस गस्टम द्वारा (22 मई 1878 को) लिखे गए इस पत्र में उक्त पत्र में कथित प्रस्ताव के न्यूयार्क में स्वीकृत होने की सूचना है ।

3. कर्नल ने 26 मई 1878 को पत्र लिखा और साथ ही स्वामीजी के हस्ताक्षरों के लिए प्रमाणपत्र (डिप्लोमा) की एक प्रति भेजी ।

4. कर्नल ने 29 मई 1878 के पत्र में स्वामीजी का धन्यवाद किया और इस पर प्रसन्नता प्रकट की कि आर्यसमाज के सभासदों के साथ बंधुत्व भाव स्थापित होने से उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता हुई है ।

5. 30 मई के पत्र में यह लिखा गया था कि हम स्वामीजी के पत्र की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जिससे हमारी सोसाइटी आर्यसमाज में मिलने का प्रस्ताव स्वीकार कर ले ।

5 जून 1878 को एक पत्र कर्नल साहब ने स्वामीजी के नाम लिखा जिसका आशय निम्न था—

माननीय गुरुवर, ईश्वर के जो गुण और लक्षण आपने वर्णन किए हैं, उनको पढ़कर हमें

विदित हो गया है कि हमने अपने पूर्वज आर्यों की शिक्षा को गलत नहीं समझा । हम भी ईसाइयों को यही शिक्षा देते रहे हैं कि वही सर्वोपरि, अनादि ईश्वर पूजनीय है जिसके समक्ष अपनी इच्छाओं को प्रकट करने की शिक्षा आप अपने अनुयायियों को देते हैं ।

हमने अपने प्रस्ताव की एक प्रति भाई हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को भेजी है । हम जानते हैं कि हम आर्य वंश की सन्तान हैं और हमें पूर्ण शिक्षा भी आर्यों से ही प्राप्त हुई है । हम आपके शिष्य कहलाने में स्वयं का अहोभाग्य समझेंगे । आप हमें आज्ञा दें कि हम आपको अपना गुरु, पिता तथा नेता कहें । हम वेद के दर्शन से नितान्त अनभिज्ञ हैं, इसलिए आप हमें बताएँ कि हम लोगों से क्या कहें ? जो कुछ हमारे लिये कर्त्तव्य है, वह आप बताएँ ।

पत्र के अन्त में कर्नल आल्काट ने आर्यसमाज के नियम, उपनियम तथा सभासद बनने की योग्यता पूछी तथा लिखा, "आपके पत्र से ज्ञात होता है कि आप करामातों (बाइबिल में वर्णित चमत्कार) को झूठा तथा अधर्म मानते हैं । आप इन्हें अध्यात्म विद्या के अत्यन्त तुच्छ प्रकार मानते हैं ।" इस पत्र से स्पष्ट विदित होता है कि कर्नल को स्वामीजी का 21 अप्रैल 1878 का पत्र मिल गया था क्योंकि अपने इस पत्र में उन्होंने स्वामीजी के पूर्वोक्त पत्र के विषयों का स्पष्ट उल्लेख किया है । स्वामीजी के मन्तव्यों को भली भाँति स्पष्ट किया जानकर भी कर्नल ने उन्हें Impersonal God का मानने वाला समझा, यह उचित नहीं था ।

इस पत्र का उत्तर स्वामीजी ने 26 जुलाई 1878 को दिया । स्वामीजी ने ईश्वर को उत्तमोत्तम विशेषणों से सम्बोधित किया और कहा कि सर्वशक्तिमान् जगत् के स्वामी, सृष्टिकर्ता तथा सृष्टिपालक को अनेक धन्यवाद हैं जिसकी कृपा से पाखण्ड मतों को दूर करने में आप प्रवृत्त हुए हैं और जिस परमात्मा ने वैदिक धर्म में प्रीति उत्पन्न करने के लिये हमें और आपको प्रेरित किया है ।

साकार-निराकार के विषय में स्वामीजी ने वेदभाष्य-भूमिका के इस प्रकरण का सार लिख-कर भेज दिया । अन्त में स्वामीजी ने लिखा कि 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' का अंग्रेजी अनुवाद कर आपके पास भेजने के लिये हमने श्रीयुत् हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को लिख दिया है । उससे आपको हमारे सिद्धान्तों का परिचय मिल जाएगा । अन्त में स्वामीजी ने सच्चिदानन्दादि लक्षणों वाले परमात्मा का कोटि-कोटि धन्यवाद किया जिसके अनुग्रह से वह पत्रव्यवहार आरम्भ हुआ ।

कर्नल आल्काट का कथन है कि हमने स्वामीजी के 21 अप्रैल 1878 के पत्र के उत्तर में उनके मन्तव्य पर अपने 24 सितम्बर के पत्र में शंका की थी । परन्तु आप पढ़ चुके हैं कि 21 अप्रैल के पत्र के उत्तर में 5 जून का पत्र था । 24 सितम्बर के पत्र के विषय में 1882 से पहले तक किसी को ज्ञात नहीं था । हाँ, जब आर्यसमाज और इस सोसाइटी का परस्पर विवाद हुआ तो यह पत्र प्रकाशित किया गया । तब स्वामीजी ने कहा कि 24 सितम्बर का कोई पत्र उन्हें नहीं मिला ।

कर्नल आल्काट ने अपनी पुस्तक ओल्ड डायरी लीव्ज के पृष्ठ 398 पर लिखा है— "स्वामीजी ने 21 अप्रैल के पत्र में जो मन्तव्य प्रतिपादित किया है वह वेदभाष्य के समर्थन में दिए

गए विचार से कुछ विपरीत है । उनका कहना है कि इस वक्तव्य में उन्होंने ईश्वर को Impersonal कहा है, अर्थात् वह कोई पुरुष नहीं बल्कि एक शक्ति है ।" हमारा निवेदन है कि कर्नल साहब का यह कथन निर्मूल है । स्वामीजी ने ईश्वर को कभी Impersonal नहीं माना और स्वामीजी को भी इन लोगों के भारत आने के पहले यह ज्ञात नहीं था कि ये दोनों लोग ईश्वर को नहीं मानते किन्तु केवल एक Impersonal शक्ति को मानते हैं ।

जैसा कि हम लिख चुके हैं 17 दिसम्बर 1878 को न्यूयार्क से चलकर ये लोग 29 अप्रैल 1879 को सहारनपुर में स्वामीजी से मिलने आए । इस भेंट के सम्बन्ध में कर्नल लिखते हैं कि स्वामीजी के भाषण के अनुवादक ने मुझको बताया कि स्वामीजी ईश्वर को वैसा ही मानते है जैसा वेदान्ती लोग मानते हैं । परन्तु विश्वास नहीं होता कि अनुवादक ने ऐसा कहा होगा । स्वामीजी इन लोगों से मिलने के बहुत पहले 'वेदान्तिध्वान्त निवारण' पुस्तक लिख चुके थे जिसमें नवीन वेदान्त का खण्डन था और अपने पत्रों द्वारा वे कर्नल साहब को ईश्वर विषयक अपने विचार भी बता चुके थे । उनकी इस पारस्परिक भेंट से दोनों पक्ष एक-दूसरे के प्रति पूर्ण विश्वास भी प्रकट कर चुके थे । इसकी साक्षी स्वामीजी के 8 मई 1878 के उस पत्र से मिलती है जो आर्यसमाज शाहजहांपुर के मन्त्री को लिखा गया था । पत्र इस प्रकार था–

"मन्त्री महाशय, बड़े आनन्द का समाचार है कि कर्नल आल्काट जिनके पत्र न्यूयार्क से आते थे, हमको सहारनपुर में मिले । इनके मिलाप से विदित हुआ कि ये बड़े बुद्धिमान हैं । वहाँ समाज के मनुष्यों ने इनका बड़ा सत्कार किया, फिर वे मेरठ पधारे और वहाँ उनके पाँच व्याख्यान हुए । इन व्याख्यानों से अमेरिका के साहब ने सबके चित्त को निश्चय करा दिया कि समस्त भलाई और विद्या वेदों से मिलती है और वेद-विरुद्ध सब पाखण्ड मत हैं । पत्र के अन्त में स्वामीजी ने लिखा कि सात दिन के वार्तालाप से हमको निश्चय हो गया है कि कर्नल साहब का तन, मन और धन सत्य के प्रकाश और असत्य के नाश के लिये है ।

मेरठ के उपदेश से जो प्रभाव स्वामीजी के मन में पड़ा वह उनके 5 मई 1878 के पत्र से विदित होता है– 'कर्नल और मैडम का आचार-व्यवहार आर्यसमाजानुकूल है । ये लोग शुद्धान्तःकरण प्रतीत होते हैं । इन्होंने वार्तालाप में प्रतिपादन किया कि पहले हम हर एक सम्प्रदाय के मनुष्य को अपनी सोसाइटी का सभासद बना लेते थे, परन्तु अब आपकी आज्ञा के अनुसार जो आर्यसमाज के नियमों को स्वीकार नहीं करेगा, वह उनकी सोसाइटी का सभासद नहीं बन सकेगा ।"

1880 में कुछ गड़बड़ होने लगी । तब स्वामीजी ने एक विज्ञापन प्रकाशित किया जिसका सार यह था कि न तो आर्यसमाज थियोसोफिकल सोसाइटी की शाखा मानी जाए और न इस सोसाइटी को आर्यसमाज की शाखा समझा जाना चाहिए । यह विज्ञापन 26 जुलाई 1880 को निकला था । इसके अनन्तर 10 दिसम्बर 1880 को कर्नल और मैडम शिमला जाते हुए मेरठ में स्वामीजी से मिले । भारत में आने के दो वर्ष बाद इन लोगों ने अब ईश्वर विषयक अपने मन्तव्य प्रकट किए और स्पष्ट कह दिया कि हम ईश्वर को नहीं मानते । दो वर्ष पूर्व ही स्वामीजी

ने इन लोगों को इस विषय पर बातचीत करने के लिये कहा था, किन्तु तब वे टालमटोल करते रहे। इससे स्वामीजी ने यह निष्कर्ष निकाला कि ये लोग अपनी नास्तिकता पर दृढ़ हैं। आर्य-समाज ने 'थियोसोफिस्टों की गोलमाल-पोलपाल' नामक एक ट्रैक्ट छपवाकर कर्नल और मैडम की उक्त कार्यवाही को प्रकाशित कर दिया। अन्ततः दोनों संस्थाओं का सम्बन्ध टूट गया। इस पुस्तिका में कर्नल और मैडम की चालाकी तथा कूटनीतिक चालों को खोल कर बताया गया है। पुनः 1882 में बम्बई आने और मैडम से वार्तालाप करने के बाद स्वामीजी ने स्पष्ट कर दिया कि इस सोसाइटी से सम्बन्ध रखने से आर्यसमाजों को लाभ नहीं अपितु हानि ही होगी। ये लोग भयंकर नास्तिक, स्वार्थी तथा वाक्चतुर हैं। इनकी पूर्वापर विरोधी बातें विश्वास के योग्य नहीं हैं। अतः इनसे पृथक होना ही उचित है।

कर्नल आल्काट ने अपनी पुस्तक ओल्ड डायरी लीव्ज में स्वामीजी के विषय में लिखा है– 'इसमें कुछ संदेह नहीं कि स्वामी दयानन्द संस्कृत के महान् विद्वान् थे तथा अपने विश्वासों पर दृढ़ थे।' थियोसोफिकल सोसाइटी तथा आर्यसमाज का सम्बन्ध टूट जाने पर भी कर्नल आल्काट ने थियोसोफिस्ट पत्र में एक नोट छापा था कि हमें इस बात का शोक है कि स्वामीजी जैसे महा विद्वान् का भ्रम में पड़कर हमसे क्रुद्ध हो जाना दुखद है। परन्तु कोई इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि वे आर्य सभ्यता के शुभाकांक्षी समर्थक तथा देश के सच्चे मित्र हैं। उनको हमारे सम्बन्ध की इतनी चिन्ता नहीं जितनी भारत की शुभाभिलाषा की है।

स्वामी दयानन्द और गौरक्षिणी सभा

कई वर्ष व्यतीत हुए कि पश्चिमोत्तर प्रदेश, बम्बई प्रान्त और पंजाब में गौरक्षा के विषय में दंगे हुए थे। इन दंगों का मूल कारण ऐंग्लो इण्डियन पत्रों ने स्वामीजी को ठहराया था। परन्तु उनका यह विचार गलत है। कारण, कि यदि भारत में किसी विषय पर एक मत है तो वह गौरक्षा है। 1857 में जो उपद्रव हुए उसके मूल में भी गौवध एक कारण था, ऐसा कई लोगों का मानना है। गौरक्षा में स्वामीजी की प्रबल आस्था थी और उन्होंने इस विषय को सदा युक्तिपूर्वक प्रस्तुत किया है तथा गौरक्षिणी सभा स्थापित करने के लिये कहा। स्वामीजी आरम्भ में सरकार से इसके लिये प्रार्थना करते रहे। अन्त में गौकल्याण-निधि नामक पुस्तक लिखी और गौरक्षा के लिये एक प्रार्थना-पत्र तैयार करवाकर लाखों लोगों के उस पर हस्ताक्षर करवाए। स्वामीजी ही प्रथम पुरुष हैं जिन्होंने गौरक्षा के प्रश्न को धर्म की परिधि से निकाल कर विस्तृत आधार पर स्थापित किया तथा इसके आर्थिक पक्ष पर जोर दिया। मैडम ब्लैवेट्स्की ने लिखा है कि स्वामी दयानन्द की शिक्षा से अंग्रेजी सरकार को कोई भय नहीं है।

स्वामी दयानन्द का रचना-संसार

स्वामीजी अपने समय के आचार्य थे। एक उत्तम आचार्य के समस्त लक्षण उनमें विद्यमान थे। उन्होंने यह भली भाँति निश्चय कर लिया था कि आत्मज्ञान के लिये विद्या प्राप्त करना आवश्यक है। लोगों को ज्ञान देने के लिये स्वामीजी ने तीन विधियाँ प्रयुक्त की थीं। (1) विशेष-विशेष विद्यार्थियों को शास्त्र ग्रन्थ पढ़ाना, (2) सभाओं में जनसाधारण के लिये व्याख्यान देना, (3) ग्रन्थ रचना के द्वारा लोगों तक अपने विचार पहुँचाना।

जब हम स्वामीजी की रचनाओं की ओर देखते हैं तो हमें उनकी सृजनशक्ति पर आश्चर्य होता है। लेखन का कार्य उन्होंने 1874 में आरम्भ किया और देहान्त के वर्ष 1883 तक चलता रहा। 2-3 लघु पुस्तकों (संध्योपासन विधि, भागवत खण्डन तथा अद्वैत मत खण्डन) के सिवाय सत्यार्थप्रकाश, संस्कार-विधि, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, वेद भाष्य, वेदांग प्रकाश, अष्टाध्यायी टीका आदि उनके प्रमुख ग्रन्थ 9 वर्षों के परिश्रम का ही परिणाम है। इसी अवधि में आर्यसमाजों की भी स्थापना की तथा अधिकांश देश का भ्रमण किया। इन्हीं वर्षों में उन्होंने बड़े-बड़े शास्त्रार्थ भी किए। इसलिये स्वामीजी के इस रचना संसार को देखकर हमारा आश्चर्य करना स्वाभाविक ही है।

ऋषि दयानन्द के द्वारा रचित ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण

1. *पाखण्ड खण्डन या भागवत खण्डन*—यह प्रथम आगरा निवास के दिनों में लिखी गई थी। संस्कृत में लिखी वैष्णव भागवत के खण्डन की एक लघु कृति है। स्वामीजी ने इसकी कई हजार प्रतियाँ छपवाकर कुम्भ के मेले में बाँटी थीं।

2. *अद्वैत मत खण्डन*—यह भी संस्कृत में लिखी गई थी। अब यह अनुपलब्ध है। इसमें नवीन वेदान्त का खण्डन है।

3. *सत्यार्थप्रकाश*—इसके दो भाग हैं, प्रथम में वैदिक धर्म तथा आर्य जीवन पद्धति का विवरण दिया है जबकि पुस्तक के उत्तरार्द्ध में मतमतान्तरों का खण्डन है। जो लोग धर्मतत्त्व को नहीं समझते वे खण्डन के महत्त्व को भी नहीं जानते। सत्य को जानने के लिये असत्य को भी जानना चाहिए। खण्डन-मण्डन का अप्रिय कार्य संसार के सभी धर्माचार्यों ने किया है। स्वामीजी ने भी खण्डन-मण्डन के कठोर कर्त्तव्य को किया अवश्य परन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि इस खण्डन-मण्डन के द्वारा किसी के हृदय को दुखाना उनका इष्ट नहीं है। वे केवल सत

और असत् का निर्णय करने के लिये ही इस कार्य में प्रवृत्त हुए हैं। पुस्तक की समाप्ति पर उन्होंने अपने मन्तव्यों और अमन्तव्यों को 51 बिन्दुओं के अन्तर्गत लिखा है। प्रथम बार यह ग्रन्थ 1874 में प्रकाशित हुआ था। उस समय स्वामीजी पश्चिमोत्तर प्रदेश में प्रचार कर रहे थे। राजा जयकृष्णदास के आग्रह पर यह ग्रन्थ लिखा गया था। इसको बाद में स्वामीजी ने आद्योपान्त दुबारा लिखा और 1882 में इस संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण को प्रकाशनार्थ प्रेस में दिया। किन्तु पाठकों के हाथों में यह ग्रन्थ स्वामीजी के निधन के बाद ही आ पाया।

4. *ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका तथा वेदभाष्य*—स्वामीजी की सभी शिक्षाएँ वेदों पर आधारित थीं। इसलिये उनके लिये यह आवश्यक था कि वे वेदों का युक्तियुक्त भाष्य लोगों के समक्ष प्रस्तुत करते। स्वामीजी वेदों के मध्यकालीन भाष्यों को त्रुटिपूर्ण समझते थे। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध विद्वान् तथा स्वामीजी के अनुयायी पं० गोपालराव हरि देशमुख ने उन्हें वेदभाष्य करने की प्रेरणा की, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। वेदविषयक सभी प्रश्नों तथा वेदार्थ से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान उन्होंने वेदभाष्य भूमिका लिखकर किया। इसके पश्चात् वे वेदभाष्य में प्रवृत्त हुए। अत्यधिक व्यस्तता के कारण वे यजुर्वेद का भाष्य तो पूरा कर सके, किन्तु ऋग्वेद का भाष्य सातवें मण्डल के दूसरे सूक्त के 63वें मन्त्र तक का ही है। यदि वे कुछ काल और जीवित रहते तो सम्भवतः चारों वेदों का भाष्य पूर्ण हो जाता।

5. *पञ्चमहायज्ञ विधि*—गृहस्थों के लिये नित्य कर्त्तव्य ब्रह्मयज्ञ (संध्या), अग्निहोत्र, पितृ-यज्ञ (जीवित माता-पिता की सेवा), बलिवैश्वयज्ञ (क्षुद्र पशु-पक्षियों को अन्नादि देना) तथा अतिथि यज्ञ का विवेचन संस्कृत तथा हिन्दी में लिखा है।

6. *वेदांग प्रकाश*—चौदह खण्डों में संस्कृत व्याकरण का ग्रन्थ।

7. *संस्कृत वाक्य प्रबोध*—संस्कृत में बोलने के अभ्यास को सुगम बनाने वाली पुस्तक।

8. *व्यवहार भानु*—बालकों को सभ्यता, शिष्टाचार तथा आर्योचित व्यवहारों की शिक्षा देने वाली लघु पुस्तक।

9. *वेदान्तिध्वान्त निवारण*—नवीन वेदान्त का खण्डन। इसमें जीव और ब्रह्म की पृथकता तथा दोनों का अनादित्व सिद्ध किया गया है।

10. *भ्रान्ति निवारण*—पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न द्वारा स्वामी दयानन्दकृत वेदभाष्य पर किए गए आक्षेपों का उत्तर।

11. *भ्रमोच्छेदन*—राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की वेद-ब्राह्मण विषयक शंकाओं का उत्तर।

12. *गौकरुणा निधि*—गाय तथा अन्य उपकारी पशुओं की रक्षा के समर्थन में लिखी गई पुस्तक।

13. *संस्कार विधि*—गर्भाधान से अन्त्येष्टि पर्यन्त शास्त्रोक्त 16 संस्कारों के महत्त्व तथा विधि का निरूपण।

ऋषि दयानन्द का हार्दिक मन्तव्य

भाई, मेरा कोई स्वतन्त्र मत नहीं है । मैं तो वेद के अधीन हूँ और हमारे भारत में पच्चीस कोटि (उस समय की जनसंख्या) आर्य हैं । कई-कई बातों में किसी-किसी में कुछ भेद है जो विचार करने से आप ही आप छूट जायेगा । मैं संन्यासी हूँ और मेरा कर्त्तव्य यही है कि जो आप लोगों का अन्न खाता हूँ उसके बदले में जो सत्य समझता हूँ उसका निर्भयता से उपदेश करता हूँ । मैं कुछ कीर्ति का रागी नहीं हूँ । चाहे कोई मेरी स्तुति करे या निंदा करे, मैं मेरा कर्त्तव्य समझ कर धर्मबोध करता हूँ, चाहे कोई माने या न माने, इसमें मेरा कोई हानि-लाभ नहीं है ।

आर्यसमाज स्थापना में ऋषि की सम्मति

आप यदि समाज से पुरुषार्थ कर परोपकार कर सकते हो तो (आर्य) समाज स्थापित कर लो । इसमें मेरी कोई मनाही नहीं है । परन्तु इसमें यथोचित व्यवस्था न रखोगे तो आगे गड़बड़ाध्याय हो जायेगा । मैं तो मात्र जैसा अन्य को उपदेश करता हूँ वैसा ही आपको भी करूँगा और इतना लक्ष्य में रखना कि मेरा कोई स्वतन्त्र मत नहीं है और मैं सर्वज्ञ भी नहीं हूँ । इससे यदि कोई मेरी भी गलती आगे पाई जाये, युक्तिपूर्वक परीक्षा करके उसको भी सुधार लेना । यदि ऐसा न करोगे तो आगे यह (आर्यसमाज) भी एकमत हो जायेगा और इसी प्रकार से 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' करके इस भारत में नाना प्रकार के मतमतान्तर प्रचलित हो कर, भीतर-भीतर दुराग्रह रख कर धर्मान्ध हो कर, लड़ कर, नाना प्रकार की सद्विद्या का नाश करके यह भारतवर्ष दुर्दशा को प्राप्त हुआ है, इसमें यह भी एकमत बढ़ेगा । मेरा अभिप्राय तो ऐसा है कि इस भारतवर्ष में यदि नाना प्रकार के मतमतान्तर प्रचलित हैं, वे भी सब वेदों को मानते हैं । इससे वेदशास्त्र रूपी समुद्र में यह सब नदी-नाव पुनः मिला देने से धर्म एक्यता होगी और इस धर्म एक्यता से सांसारिक और व्यावहारिक सुधारणा होगी, और इससे कला-कौशल आदि सब अभीष्ट सुधार होकर मनुष्य मात्र का जीवन सफल हो कर अन्त में अपना धर्मबल से अर्थ, काम और मोक्ष मिल सकता है ।

'मुम्बई आर्यसमाज नो इतिहास' से उद्धृत
ऋषि दयानन्द के मूल वचन

ओ३म्

श्रीयुत चौधरी आलम सिंह जी आनंदित रहो
विदित हो कि हम उदयपुर से फाल्गुन बदि ७ सप्त
मी के दिन ८ चित्तौड़ में आन पहुंचे और अब यहां
से फाल्गुन बदी त्रियोदशी के दिन ग्राम करीरे
में बैठकर चतुर्दशी के दिन शाहपुरा के राज
मेवाड़ जिला अजमेर को जो कि बड़ी सड़क
से ८ कोश है जायगे और जो डाक भेजो तो
इसी पते से देना - आगे हाल यह कि एक
स्वीकारपत्र राज उदयपुर में मुद्राङ्कित स्वीकृत
हुआ और उसके आधीपती श्री नानदिवाकर
हुए हैं बाकी सब वृत्तान्त भासद जब हम नावि
दित होगा और एक मान्य पत्र भी दिया है और
र छः शास्त्रों का मुख्य २ विषय और मनुस्मृ
ति का राजधर्म तथा विदुर प्रजागरादि के श्लो
क, कुछ व्याकरण और अन्वय की रीति श्री
मानों ने मुझसे पढ़ी - और रु० १२००) कलदार
और एक दुशाला वेदभाष्य के सहायार्थ और
र एक साधारन दुशाला और रु० १००) कलदार
रामानंद ब्रह्मचारी को और ५००) रु० कलदार
फीरोजपुर के अनाथालय के लिये और रु०
३००) कलदार उसीने कसीदा करनेवाली स्त्रि-
यों को पारितोषिक प्रदान किया

मिती फाल्गुन बदी १२ संवत् १९३९ तदनुसार
तारीख ६ मार्च सन् १८८३ ई०

(हस्ताक्षर)

दयानन्द सरस्वती

महाराणा सज्जनसिंह उदयपुर को

स्वामी दयानन्द जी के स्वहस्तलिखित पत्र की प्रतिलिपि

आर्य प्रकाशन मंडल